॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला
२०८

****

महाकवि-भासप्रणीतं

प्रतिमा-नाटकम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार:

आचार्यः श्रीरामचन्द्रमिश्रः

मुजफ्फरपुरस्थधर्मसमाजसंस्कृतमहाविद्यालयप्राध्यापक:

प्रस्तावनालेखक:

डॉ० सत्यव्रत सिंहः

(प्राध्यापक : लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ)

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

प्रकाशक	:	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक	:	चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण	:	दशम, सन् १९९९
मूल्य	:	रु. ४५.००

ISBN : 81-7080-031-5

पोस्ट बॉक्स नं० १००८
के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३३४५८ (आफिस)
३३४०३२ एवं ३३५०२० (आवास)

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

कृष्णदास अकादमी
पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० १११८,
के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन,
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३५०२०

HARIDAS SANSKRIT SERIES
208

*****

PRATĪMĀNĀTAKAM

of

MAHĀKAVI BHĀSA

With 'Prakāśa' - Sanskrit-Hindi Commentaries

By

Acharya Sri Ramchandra Mishra

Professor, Dharmasamaj Sanskrit College, Muzaffarpur

&

Introduction By

Dr. Satyavrata Singh

Professor, Lucknow University, Lucknow

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI

Publisher : Chowkhamba Sanskrit Series Office , Varanasi.
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi.
Edition : 10th, 1999

ISBN : 81-7080-031-5

K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
Post Box No. 1008, Varanasi-221 001 (India)
Phone : Off. 333458, Resi. : 334032 & 335020

Also can be had from

KRISHNADAS ACADEMY

Oriental Publishers & Distributors,
Post Box No. 1118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane, Varanasi-221 001
Phone : 335020

प्रस्तावना

भास–नाटक–चक्र

महाकवि भास के 'नाटक–चक्र' का संकेत सर्वप्रथम छठी-सातवीं शताब्दी के महाकवि बाण ने किया है :—

'सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः । सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥'

(हर्षचरित)

इस संकेत से इतना तो अवश्य स्पष्ट है कि भास की नाटक-कृति एक नहीं अपितु अनेक थीं ।

महाकवि भास के नाम के साथ उनके रचित 'नाटक-चक्र' का सम्बन्ध कालान्तर में भी संस्कृत के विषयों और लेखकों की स्मृति में सुरक्षित रहा क्योंकि 'सूक्तिमुक्तावली' के रचयिता कवि राजशेखर ने भी भास और उनकी नाटक–कृतियों का स्मरण किया था :—

'भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥'

१२ वीं शताब्दी के कवि कल्हण ने अपनी 'सूक्तिमुक्तावली' में राजशेखर की 'सूक्तिमुक्तावली' की इसी उपर्युक्त सूक्ति का पुनरुल्लेख कर भास के 'नाटक–चक्र' की प्राचीन स्मृति को जागृत रखा है ।

किन्तु समय के हेर-फेर से भास का 'नाटक-चक्र' लुप्तप्राय हो गया । भास के 'नाटक–चक्र' की खोज १९०९ में हुई और महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री ने भास के १३ नाटकों को संस्कृत के विद्वज्जगत् के सामने उपस्थित किया । संस्कृत के अनुसंधानशील भारतीय और विदेशीय विद्वान् भास के इस 'नाटक-चक्र' के सम्बन्ध में दो विरुद्ध पक्षों में विभक्त हो गये । एक पक्ष ने दक्षिण भारत में उपलब्ध 'स्वप्नवासवदत्तम्' आदि १३ नाटकों को भास के 'नाटक–चक्र' के रूप में माना, किन्तु दूसरे पक्ष ने इन्हें सन्देह की दृष्टि से देखा । महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री के द्वारा प्रकाश में लाये गये 'स्वप्नवासवदत्तम्' आदि १३ नाटकों को भास के 'नाटक–चक्र' के रूप में मानने वाले विद्वानों में डाक्टर कीथ, डाक्टर टामस, डाक्टर स्वरूप आदि रहे और इन्हें सन्देह की दृष्टि से देखने वाले विद्वानों में डाक्टर बार्नेट, डाक्टर सिल्वन लेवी, डाक्टर बुलनर, म० म० कुप्पू स्वामी शास्त्री आदि थे ।

अस्तु, महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री की खोज में मिले 'नाटक-चक्र' में ये १३ नाटक हैं :—

१. स्वप्नवासवदत्तम्
२. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्
३. अविमारकम्
४. चारुदत्तम्
५. प्रतिमानाटकम्
६. अभिषेकनाटकम्
७. पञ्चरात्रम्
८. मध्यमव्यायोगः
९. दूतवाक्यम्
१०. दूतघटोत्कचम्
११. कर्णभारम्
१२. ऊरुभङ्गम्
१३. बालचरितम्

प्रतिमानाटक : नामसार्थक्य

उपर्युक्त भास-नाटक-चक्र में 'प्रतिमानाटक' एक मुख्य नाटक है। 'प्रतिमा-नाटक' का नाम कुछ लोग इसलिये सङ्गत मानते हैं कि इसमें प्रतिमा-गृह अथवा मूर्तिगृह की घटना का महत्त्व ही नाटक की इतिवृत्त रचना की विशेषता है। प्रोफेसर ध्रुव के अनुसार इस नाटक का पूरा नाम 'प्रतिमा-दशरथ' रहा होगा जिसे संक्षिप्त रूप में 'प्रतिमा' कर दिया गया। भास का एक नाटक 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' भी है जिसे संक्षेप में 'प्रतिज्ञा' नाटक कहा जा सकता है। भास के 'स्वप्नवासवदत्तम्' की कुछ प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में केवल 'स्वप्न-नाटक' ही लिखा मिलता है।

प्रतिमा का इतिवृत्त

भास ने 'प्रतिमा नाटक' का मूलवृत्त रामायण से लिया है। वाल्मीकि-रामायण के अयोध्याकाण्ड और अरण्यकाण्ड में वर्णित वृत्त ही वस्तुतः इस नाटक का आधार-वृत्त है। किन्तु इस आधारवृत्त की रचना जो नाटक के इतिवृत्त रूप में है वह महाकवि भास की अपनी नाटकीय कल्पना है। 'प्रतिमा' के सात अङ्कों में भास की इतिवृत्त-कल्पना जिस नाटकीय घटना-चक्र की सृष्टि करती है उसका रूप निम्न है :—

प्रथम अंक
(दृश्य प्रथम)

महाराज दशरथ के राजप्रासाद में राम के राज्याभिषेक की तैयारी हो रही है। महाराज दशरथ ने राज्याभिषेक की सामग्री की तैयारी के सम्बन्ध में आज्ञा दे दी है और उनकी प्रतीहार-रक्षी उनकी आज्ञा के पालन के सम्बन्ध में कञ्चुकी से सब समाचार जानना चाहती है। कञ्चुकी के द्वारा प्रतीहार-रक्षी को और प्रतीहार-रक्षी के द्वारा महाराज दशरथ को भी पता

चलता है कि राज-छत्र, राजसिंहासन, मङ्गलकलश आदि सभी सामग्रियाँ तैयार हैं और महर्षि वशिष्ठ राज्याभिषेक-संस्कार प्रारम्भ करने के लिये महाराज की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

(दृश्य—द्वितीय)

सीताजी अपने हर्म्य-कक्ष में अपनी चेटियों के साथ हास-परिहास में लगी हैं। इतने में उनकी एक चेटी आती है और अपने साथ एक बल्कल-वस्त्र लाती है जिसे उसने राजप्रासाद की नाट्य-शाला से, नाट्यशाला की संरक्षिका को बिना बताये, ले लिया है। सीताजी इस चेटी को कुछ भला-बुरा कहती हैं और वल्कल को नाट्यशाला में लौटाने की आज्ञा देती हैं। चेटी वल्कल लौटाने ही जा रही है कि सीताजी उसकी सुन्दरता से आकृष्ट होकर कौतुकवश उसे पहन लेती हैं। इतने में एक दूसरी चेटी आती है और सीताजी को राम के राज्याभिषेक की सूचना देती है। अभिषेक-समारोह के मङ्गलवाद्य बजते-बजते अकस्मात् बन्द हो जाते हैं और सीता के पास राम आ पहुँचते हैं। राम प्रसन्न हैं क्योंकि उनका राज्याभिषेक होते-होते रुक गया है। राम अपने राज्याभिषेक के रुकने का कारण बताते हैं और सीता प्रसन्न होती हैं। अकस्मात् राम का ध्यान सीता के वल्कल-परिधान पर जाता है और स्वयं भी उन्हें वल्कल पहनने की इच्छा होने लगती है। इतने में अन्तःपुर का करुण-क्रन्दन सुन पड़ता है और महाराज दशरथ के शोक-मूर्च्छित होने का समाचार फैल जाता है। क्रोध में लक्ष्मण सीता के हर्म्यकक्ष में पहुँच जाते हैं और कैकेयी से बदला लेने के लिये स्त्रीजाति के संहार की प्रतिज्ञा करते हैं। राम समझा-बुझा कर लक्ष्मण को शान्त करते हैं और राम के साथ सीता और लक्ष्मण बन-गमन के लिये तैयार हो जाते हैं।

द्वितीय अङ्क

राम, सीता और लक्ष्मण को वन-गमन से रोकने में असमर्थ महाराज दशरथ शोकोन्मत्त हैं और अपने अन्तःपुर में मूर्च्छित पड़े हैं। कौसल्या महाराज दशरथ को शान्त करने में लगी हैं। इतने में राम के साथ सीता और लक्ष्मण को अयोध्या की सीमा के पार पहुँचा कर लौटे हुये सुमन्त्र आते हैं। सुमन्त्र से राम के वन-गमन का समाचार जान महाराज दशरथ मूर्च्छित और निष्प्राण हो जाते हैं।

तृतीय अङ्क

दिवंगत रघुवंशी राजाओं का प्रतिमागृह सजाया जा रहा है और मृत महाराज दशरथ की प्रतिमा के स्थापन-संस्कार के लिये कौसल्या आदि रानियों के आगमन की प्रतीक्षा हो रही है। महाराज दशरथ के अस्वास्थ्य का समाचार सुन भरत अपने मातुलगृह (केकय देश) से चले आ रहे हैं और अयोध्या की सीमा पर निर्मित 'प्रतिमागृह' की सजावट देख वहाँ रुक जाते हैं। अयोध्या

से बहुत समय बाहर रहने के कारण भरत को यह प्रतिमा-गृह अपने पूर्वजों का स्मारक नहीं अपितु देवमन्दिर-सा लगता है। इतने में भरत के स्वागतार्थ शत्रुघ्न का सैनिक सेवक आता है और उन्हें अयोध्या-प्रवेश के लिए शुभमुहूर्त्त की प्रतीक्षा करने के लिये कहता है। अयोध्या-प्रवेश के शुभ मुहूर्त्त की प्रतीक्षा में भरत प्रतिमागृह के दर्शन के लिये चल पड़ते हैं और देवकुलिक (प्रतिमागृह के पूजनाधिकारी) के द्वारा क्रमशः दिलीप, रघु और अज की प्रतिमाओं का परिचय प्राप्त करते हैं। महाराज दशरथ की प्रतिमा दिखाये जाने पर और यह बताये जाने पर कि प्रतिमागृह दिवंगत रघुवंशी राजाओं का स्मारकभवन है, भरत मूर्च्छित हो जाते हैं। मूर्च्छा से उठने पर भरत को राम और दशरथ का पूरा वृत्तान्त बताया जाता है और भरत पुनः मूर्च्छित हो जाते हैं। इतनेमें कौसल्या आदि रानियाँ प्रतिमागृह में पहुँचती हैं। भरत मूर्छा से उठते हैं और सुमन्त्र के साथ आये अपने मातृवर्ग से मिलते हैं। कैकेयी पर भरत क्षुब्ध होते हैं और अपने राज्याभिषेक के बदले राम के साथ बनवास करने का दृढ़ निश्चय प्रकट करते हैं।

चतुर्थ अङ्क

राम, सीता और लक्ष्मण के साथ वन में रहने लगे हैं। सुमन्त्र के साथ भरत राम की पर्णकुटी पर जा पहुँचते हैं भरत के स्वर से उन्हें पहचान कर राम उनसे मिलने को उत्सुक हो जाते हैं। भ्रातृमिलन के बाद भरत राम के प्रतिनिधिरूप से अयोध्या का राज्य चलाने पर किसी प्रकार तैयार होते हैं और राम, सीता और लक्ष्मण से विदा लेते हैं।

पञ्चम अङ्क

रावण कपट-परिव्राजक बनकर वन में पहुँचता है और राम का आतिथ्य ग्रहण करता है बातचीत में महाराज दशरथ के श्राद्ध के लिये रावण राम को सुवर्णमृग के निवाप का उपदेश देता है। राम सुवर्णमृग के पीछे चल पड़ते हैं और लक्ष्मण एक महर्षि के स्वागतार्थ चले जाते हैं। सीता रावण का आतिथ्य करने रुक जाती है। रावण सीता को अपना वास्तविक परिचय देता है और डरा-धमकाकर बलात् उनका अपहरण करता है। सीता का करुण-क्रन्दन जटायु को सुन पड़ता है और जटायु रावण के मार्ग में यथाशक्ति विघ्न उपस्थित करता है।

षष्ठ अङ्क

(दृश्य—प्रथम)

रावण सीता को आकाश-मार्ग से भगाये ले जा रहा है और जटायु रावण से लड़ता-भिड़ता उड़ रहा है। अन्त में जटायु की मृत्यु हो जाती है। 'जनस्थान' वन के दो ऋषिकुमार सीतापहरण तथा जटायुवध की घटना अवगत कराने के लिये राम को ढूँढ़ने निकल पड़ते हैं।

(दृश्य-द्वितीय)

'जनस्थान'-वन से लौटे सुमन्त्र अयोध्या के राजप्रासाद में भरत से मिलते हैं और सीतापहरण का दुखद समाचार छिपाने की यथाशक्ति चेष्टा करते हैं। रावण के द्वारा सीतापहरण का समाचार मिलते ही भरत कैकेयी पर अपना क्रोध निकालने लगते हैं। कैकेयी क्षमा माँगती हैं और यह निवेदन करती हैं कि उनके मुँह से 'चौदह दिन' के बनवास के बदले 'चौदह वर्ष' का बनवास निकल पड़ा। भरत कैकेयी की बात पर सुमन्त्र के कहने से विश्वास कर लेते हैं और रावण पर आक्रमण करने के लिये उत्कण्ठित हो उठते हैं।

सप्तम अंक

रावण विजय के बाद लङ्का से लौटे राम जनस्थान में पहुँच आये हैं। उनके साथ सीता और लक्ष्मण हैं। जनस्थान की प्राचीन सुखद स्मृति में तीनों एक दूसरे से वार्तालाप कर रहे हैं। इतने में उन्हें भरत और उनकी सेनाओं के वहाँ पहुँचने का समाचार मिलता है। भरत के साथ सुमन्त्र और कैकेयी आदि हैं। सबकी उपस्थिति में भरत अपने अग्रज राम के चरणों में राज्य-भार समर्पण कर देते हैं और कैकेयीं की आज्ञा से राम अपना राज्याभिषेक स्वीकार करते हैं।

'प्रतिमा' के इतिवृत्त का रामायण के मूल वृत्त से भेद

सात अङ्कों में अङ्कित प्रतिमानाटक का इतिवृत्त रामायण के मूलवृत्त का नवीन कविकल्पना-प्रसूत रूपान्तर है। नाट्यविद्या की प्राचीन परम्परा के अनुसार नाटककार को जो यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपने रस-भाव की दृष्टि से प्राचीन मूलवृत्त में यथासम्भव परिवर्त्तन कर सकता है, उसका पूरा उपयोग प्रतिमानाटक में किया गया है। प्रतिमानाटक में महाकवि भास ने जो घटना-चक्र रचा है वह रामायण के कथानक से इन-इन अंशों में नवीन है :—

(१) प्रथम अङ्क की वल्कल की घटना रामायण में नहीं है। नाटक कवि की यह अपनी कल्पना है, जिसका उद्देश्य सीता और राम के मधुर गार्हस्थ्य का प्रकाशन है। रामायण में राम के राज्याभिषेक में भरत के साथ शत्रुघ्न को भी अनुपस्थित दिखाया गया है किन्तु 'प्रतिमा' में केवल भरत अनुपस्थित रखे गये हैं और शत्रुघ्न को राज्याभिषेक के समय अयोध्या में उपस्थित बताया गया है।

(२) द्वितीय अङ्क में मृत्यु-शय्या पर पड़े दशरथ के सामने उनके स्वर्ग से आये पूर्वजों का जो दृश्य है वह नाटककार की कल्पना है क्योंकि रामायण में इसका कोई निर्देश नहीं है।

(३) तृतीय अङ्क की घटना नाटककार की एक मात्र नाटकीय कल्पना है। रामायण में 'प्रतिमागृह' की कोई भी चर्चा नहीं है। वस्तुतः तृतीय अङ्क की प्रतिमागृह-सम्बन्धी कल्पना ही प्रतिमानाटक की जन्मभूमि है।

(४) पञ्चम अङ्क में राम और रावण का जैसा मिलन वर्णित है उसका रामायण में कोई भी निर्देश नहीं। यहाँ मारीचरूपी मायामृग के बदले 'काञ्चनपार्श्व' मृग की कल्पना है और दिवंगत दशरथ के श्राद्ध के लिये इस मृग के अन्वेषण में राम को सीता के पास से जो हटाया गया है वह भी सर्वथा एक नयी कल्पना है।

(५) षष्ठ अङ्क में सुमन्त्र का पुनः दण्डकारण्य में जाना और रावण के द्वारा सीतापहरण की घटना से परिचित होना नाटककार की कल्पना है। रामायण में इस प्रकार का कोई वर्णन नहीं है। साथ ही साथ सुमन्त्र द्वारा वर्णित सीता-पहरण के वृत्तान्त से दुखित भरत का अपनी माता कैकेयी को कोसना और कैकेयी का यह कहना कि चौदह दिन के वनवास के बदले चौदह वर्ष का वनवास सम्भ्रमवश उसके मुँह से निकल पड़ा आदि बातें प्रतिमानाटक की इतिवृत्त रचना की विशेषता है क्योंकि रामायण में इस प्रकार का कोई संकेत नहीं। रावणविजय के लिये भरत का सेना-समुद्योग भी नाटककार की ही कल्पना है जिसका रामायण में कोई उल्लेख नहीं है।

(६) सप्तम अङ्क में राम के राज्याभिषेक का जनस्थान में होना, अयोध्या के नरनारियों का इस राज्याभिषेकोत्सव में सम्मिलित होना, विभीषण, सुग्रीव आदि का भी वहाँ विराजमान रहना और पुनः धूमधाम से राज्याभिषेक के लिए सबका अयोध्या जाना आदि नाटककार की इतिवृत्त-कल्पना से सम्बद्ध है। इसका भी रामायण में कोई निर्देश नहीं है।

'प्रतिमा' में चरितचित्रण : रामायण की चरितवर्णना से भिन्न

नाटककार भास ने 'प्रतिमा' में जैसा चरितचित्रण किया है उसी के अनुसार इतिवृत्त-रचना की है। 'प्रतिमा' का चरितचित्रण 'प्रतिमा' के रस-भाव का अनुसरण करता है। जहाँ 'प्रतिमा' में जो मुख्य रस-भाव विवक्षित है वह करुण-रस है और इसी के विविध प्रकार के परिपोष में प्रत्येक चरित विविधरूप में विकसित होते हैं।

राम का चरितचित्रण

'प्रतिमा' के राम रामायण के राम नहीं। रामायण के राम अपने पिता महाराज दशरथ के सम्बन्ध में वह कोमल भाव नहीं रखते जो 'प्रतिमा' के राम में स्पष्ट झलकता है। 'प्रतिमा' के राम अपने राज्याभिषेक के होते-होते रुक जाने और अपने वनवास के सम्बन्ध में प्रसन्न होकर यह कहते हैं—

'वनगमननिवृत्तिः पार्थिवस्यैव तावत्, मम पितृपरवेत्ता बालभावः स एव।
नवनृपतिविमर्शे नास्ति शङ्का प्रजानामथ च न परिभोगैर्वञ्चिता भ्रातरो मे॥

(पृ० ३१)

वहाँ रामायण के राम का इस अवसर पर कुछ दूसरा ही रूप है :—

'गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः क्रोधात् प्रहर्षादथ वापि कामात्।
यद् व्यादिशेत् कार्यमवेक्ष्य धर्मं कस्तन्न कुर्यादनृशंसवृत्तिः॥

(अयोध्याकाण्ड २१. ५६)

रामायण में राम को कैकेयी पर कुछ क्रोध और क्षोभ भी प्रकट करते वर्णित किया गया है :—

मम प्रव्रजनादद्य कृतकृत्या नृपात्मजा।
सुतं भरतमव्यग्रमभिषेचयतां ततः॥
मयि चीराजिनधरे जटामण्डलधारिणि।
गतेऽरण्यं च कैकेय्या भविष्यति मनःसुखम्॥

(अयोध्याकाण्ड २२, १२. १३)

किन्तु, 'प्रतिमा' (पृ० २८–२६) में राम को कैकेयी के प्रति क्रोध-क्षोभ-रहित दिखाया गया है :—

रामः—···अथ कुत उत्पन्नोऽयं दोषः!

काञ्चुकीयः—स्वजनात्।

रामः—स्वजनादिति। हन्त, नास्ति प्रतीकारः!

शरीरेऽरिः प्रहरति हृदये स्वजनस्तथा।
कस्य स्वजनशब्दो मे लज्जामुत्पादयिष्यति॥

काञ्चुकीयः—तत्र भवत्याः कैकेय्याः।

रामः—किमम्बायाः? तेन हि उदर्केण गुणेनात्र भवितव्यम्।

काञ्चुकीयः—कथमिव?

रामः—श्रूयताम्—

यस्याः शक्रसमो भर्ता मया पुत्रवती च या।
फले कस्मिन् स्पृहा तस्या येनाकार्यं करिष्यति॥

रामायण के कवि ने राम को सीता के स्पृहा-विनोदन के लिए माया-मृग मारीच के प्रति भेजा है :—

आर्यपुत्राभिरामोऽसौ मृगो हरति मे मनः।
आनयैनं महाबाहो क्रीडार्थं नो भविष्यति॥

(अरण्यकाण्ड ४३, ६)

यावद् गच्छामि सौमित्रे ! मृगमानयितुं द्रुतम् ।
पश्य लक्ष्मण ! वैदेहीं मृगत्वचि गतस्पृहाम् ॥

(अरण्यकाण्ड ४३, ४८)

किन्तु 'प्रतिमा' के नाटककार ने राम को काञ्चन-पार्श्व मृग का पीछा करते चित्रित करते हुए पितृभक्त पुत्र के रूप में प्रस्तुत किया है (पृ० १३९–४०) :—

रावणः—कौसल्यामातः ! अलमतिमनोरथेन । न ते (काञ्चनपार्श्वाः मृगाः) मानुषैर्दृश्यन्ते ।

रामः—भगवन् ! किं हिमवति प्रतिवसन्ति ?

रावणः—अथ किम् ।

रामः—तेन हि पश्यतु भवान्—

सौवर्णान् वा मृगांस्तान् मे हिमवान् दर्शयिष्यति ।
भिन्नो मद्बाणवेगेन क्रौञ्चत्वं वा गमिष्यति ॥

रावणः—(स्वगतम्) अहो असह्यः खल्वस्यावलेपः । (प्रकाशम्) अये विद्युत्-संपात इव दृश्यते । कौसल्यामातः ! इहस्थमेव भवन्तं पूजयति हिमवान् । एष काञ्चनपार्श्वः ।

रामः—भगवतो वृद्धिरेषा ।

सीता—दिष्ट्या आर्यपुत्रो वर्धते ।

रामः—न न—

तातस्यैतानि भाग्यानि यदि स्वयमिहागतः ।
अर्हत्येष हि पूजायां लक्ष्मणं ब्रूहि मैथिलि ! ॥

सीता का चरित-चित्रण

'प्रतिमा' की सीता वही नहीं जो 'रामायण' की सीता है । रामायण की सीता तो महाराज दशरथ की बनवास की आज्ञा के पालन में राम को कुछ खरी-खोटी भी सुनाती है :—

'शान्त्वमाना तु रामेण मैथिली जनकात्मजा ।
वनवासनिमित्तार्थं भर्तारमिदमब्रवीत् ॥
सा तमुत्तमसंविग्ना सीता विपुलवक्षसम् ।
प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेप राघवम् ॥
किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः ।
रामं जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ॥

स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम् ।
शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि ॥
(अयोध्याकाण्ड ३०.१.७)

किन्तु 'प्रतिमा' की सीता राम के राज्याभिषेक में न तो प्रसन्न है और न वनगमन में खिन्न। राम से सीता इतना ही कहती है :—

'प्रियं मे। महाराज एव महाराजः। आर्यपुत्र एवार्यपुत्रः।' (पृ० २३)

रामायण की सीता मायामृग के आखेट के लिए निकले राम के पीछे लक्ष्मण को न जाते देख लक्ष्मण पर क्रुद्ध होती हैं :—

'तमुवाच ततस्तत्र क्षुभिता जलकात्मजा।
सौमित्रे मित्ररूपेण भ्रातस्त्वमसि शत्रुवत् ॥
यस्त्वमस्यामवस्थायां भ्रातरं नाभिपद्यसे।
इच्छसि त्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते ॥
लोभात्तु मत्कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम्।
व्यसनं ते प्रियंमन्ये स्नेहो भ्रातरि नास्ति ते ॥
(अरण्यकाण्ड ४५–५–७)

किन्तु 'प्रतिमा' नाटक के कवि ने सीता के इस व्यक्तित्व का चित्रण करना अनुचित समझकर मायामृग की घटना में लक्ष्मण को ही अनुपस्थित निर्दिष्ट कर दिया है।

कौसल्या का चरित–चित्रण

रामायण में तो कौसल्या को कैकेयी के दुर्व्यवहार पर क्षुब्ध चित्रित किया गया है और भरत पर भी रुष्ट बताया गया है :—

तथैव क्रोशतस्तस्य भरतस्य महात्मनः।
कौसल्या शब्दमाज्ञाय सुमित्रां चेदमब्रवीत् ॥
आगतः क्रूरकार्यायाः कैकेय्या भरतः सुतः।
तमहं द्रष्टुमिच्छामि भरतं दीर्घदर्शिनम् ॥
भरतं प्रत्युवाचेदं कौसल्या भृशदुःखिता।
इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम्।
सम्प्राप्तं वत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा ॥
प्रस्थाप्य चीरवसनं पुत्रं मे वनवासिनम्।
कैकेयी कं गुणं तत्र पश्यति क्रूरदर्शिनी ॥
(अयोध्याकाण्ड ७५.५–१२)

किन्तु 'प्रतिमा' में कौसल्या का जो चरित है उसमें कहीं भी उसे रुष्ट अथवा क्षुब्ध नहीं देखा जा सकता।

कैकेयी का चरित-चित्रण

'प्रतिमा' में कैकेयी का जो चरित्र चित्रित है वह एक उदात्त चरित्र है। 'प्रतिमा' (पृ० १६३-६६) में कैकेयी राम के वनवास का वर इसलिये माँगती है कि महाराज दशरथ को दिया गया ऋषि-शाप उसे इसके लिये प्रेरित करता है :—

भरतः—हन्त भोः ! सत्त्वयुक्तानामिक्ष्वाकूणां मनस्विनाम् ।
वधूप्रधर्षणं प्राप्तं प्राप्यात्रभवतीं बधूम् ॥

कैकेयी—(आत्मगतम्) भवतु । इदानीं कालः कथयितुम् । (प्रकाशम्) जात ! त्वं न जानासि महाराजस्य शापम् ।

भरतः—किं शप्तो महाराजः ?

कैकेयी—सुमन्त्र ! आचक्ष्व विस्तरेण ।

सुमन्त्रः—यदाज्ञापयति भवती । कुमार ! श्रूयताम्—पुरा मृगयां गतेन महाराजेन कस्मिंश्चित्सरसि कलशं पूरयमाणो वनगजबृंहितानुकारिशब्दसमुत्पन्नवनगजशङ्कया शब्दवेधिना शरेण विपन्नचक्षुषो महर्षेश्चक्षुर्भूतो मुनितनयो हिंसितः ।

भरतः—हिंसित इति । शान्तं शान्तं पापम् । ततस्ततः ।

सुमन्त्रः—ततस्तमेवं गतं दृष्ट्वा—
तेनोक्तं रुदितस्यान्ते मुनिना सत्यभाषिणा ।
यथाऽहं भोस्त्वमप्येवं पुत्रशोकाद् विपत्स्यसे ॥ इति ।

भरतः—नन्विदं कष्टं नाम ।

कैकेयी—जात ! एतन्निमित्तमपराधे मां निक्षिप्य पुत्रको रामो वनं प्रेषितः । न खलु राज्यलोभेन । कुपरिहरणीयो महर्षिशापः पुत्रविप्रवासं विना न भवति ।

भरतः—अथ तुल्ये पुत्रविप्रवासे कथमहमरण्यं न प्रेषितः ।

कैकेयी—जात ! मातुलकुले वर्त्तमानस्य प्रकृतीभूतस्ते विप्रवासः ।

भरतः—अथ चतुर्दशवर्षाणि किं कारणमवेक्षितानि ।

कैकेयी—जात ! चतुर्दश दिवसा इति वक्तुकामया पर्याकुलहृदयया चतुर्दश वर्षाणि इत्युक्तम् ।

भरतः—अस्ति पाण्डित्यं सम्यग् विचारयितुम् । अथ विदितमेतद् गुरुजनस्य ?

सुमन्त्रः—कुमार ! वसिष्ठवामदेवप्रभृतीनामनुमतं विदितञ्च ।

किन्तु रामायण के कवि ने कैकेयी पर सन्देह दृष्टि रखी है और उसे ही सभी अनर्थ का कारण बताया है :—

कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता ।
अङ्गारमुपगुह्य स्म पिता मे नावबुद्धवान् ॥

मृत्युमापादितो राजा त्वया मे पापदर्शिनी ।
सुखं परिहृतं मोहात्कुलेऽस्मिन् कुलपांसनि ॥

(अयोध्याकाण्ड ७३, ४–५)

सुमन्त्र का चरित्र-चित्रण

रामायण में सुमन्त्र का जो चरित्र है उससे 'प्रतिमा' के सुमन्त्र का चरित्र सर्वथा भिन्न है। रामायण का सुमन्त्र कैकेयी पर क्रुद्ध होकर उसे मर्मान्तक वाक्य-बाणों से मारता है :—

ततो निधूय सहसा शिरो निःश्वस्य चासकृत् ।
पाणिं पाणौ विनिष्पिष्य दन्तान् कटकटाय्य च ॥
लोचने कोपसंरक्तं वर्णं पूर्वोचितं जहत् । कोपाभिभूतः सहसा संतापमशुभं गतः ॥
मनः समीक्षमाणश्च सूतो दशरथस्य च ।
कम्पयन्निव कैकेय्या हृदयं वाक्शरैः शितैः ॥
वाक्यवज्रैरनुपमैर्निर्भिन्दन्निव चाशुभैः । कैकेय्याः सर्वमर्माणि सुमन्त्रः प्रत्यभाषत ॥
न ह्यकार्यतमं किञ्चित्तव देवीह विद्यते ।
पतिघ्नीं त्वामहं मन्ये कुलघ्नीमपि चान्ततः ॥
आश्चर्यमिव पश्यामि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम् ।
आचरन्त्या न विदृता सद्यो भवति मेदिनी ॥

(अयोध्याकाण्ड ३५, १–६, १४)

किन्तु 'प्रतिमा' का सुमन्त्र सौम्यस्वभाव और शान्त व्यक्ति है जो दैवदुर्विपाक पर भले ही क्रुद्ध हो, कैकेयी पर नहीं।

'प्रतिमा' का रस

'प्रतिमा' रूपक का वह भेद है जिसे नाटक कहा जाता है। नाटक में रस-भाव की ही दृष्टि से चरित्र-चित्रण और इतिवृत्त-निर्माण दोनों हुआ करते हैं। 'प्रतिमा' के 'रस' के सम्बन्ध में भासनाटक के विचारशील विद्वानों में मतभेद है। महामहोपाध्याय डाक्टर गणपति शास्त्री के अनुसार 'प्रतिमा' का मुख्य रस वीररस है जिसे 'धर्मवीर रस' कहना चाहिये और 'प्रतिमा' में जो करुणरस की अभिव्यक्ति है, वह इसी 'धर्मवीर' की अभिव्यक्ति का अङ्ग है। किन्तु प्रोफेसर ध्रुव की दृष्टि में 'प्रतिमा' का मुख्य अथवा अङ्गी रस करुण है।

वस्तुतः रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से करुण रस ही 'प्रतिमा' का मुख्य रस है। प्रथम अङ्क (पृ० २४) में सीता और राम का वल्कल के साथ मनोविनोद—
आदर्शे वल्कलानीव किमेते सूर्यरश्मयः । हसितेन परिज्ञातं क्रीडेयं नियमस्पृहा ॥

और साथ ही साथ लक्ष्मण का क्रोध (पृ० ३४)—

'यदि न सहसे राज्ञो मोहं धनुः स्पृश मा दया
स्वजननिभृतः सर्वोऽप्येवं मृदुः परिभूयते ।
अथ न रुचितं मुञ्च त्वं मामहं कृतनिश्चयो
युवतिरहितं कर्तुं यतश्छलिता वयम् ॥

करुण रस का ही प्रादुर्भाव परिपोष का उपाय मात्र है ।

द्वितीय अङ्क तो करुण रस से ओतप्रोत है ही ।

तृतीय अङ्क (पृ० ७२) में भरत की स्वजन-दर्शन की यह उत्सुकता—

पतितमिव शिरः पितुः पादयोः स्निह्यतेवास्मि राज्ञा समुत्थापितः
त्वरितमुपगता इव भ्रातरः क्लेदयन्तीव मामश्रुभिर्मातरः ।
सदृश इति महानिति व्यायतश्चेति भृत्यैरिवाहं स्तुतः सेवया
परिहसितमिवात्मनस्तत्र पश्यामि वेषं च भाषां च सौमित्रिणा ॥

सहृदय सामाजिक में जिस विचित्रता से करुण रस का सञ्चार करती है वह अन्यत्र सुलभ नहीं । 'प्रतिमागृह' में भरत का प्रतिमा-दर्शन और कलाविनोद करुण रस की एक नयी ही उद्भावना है । चतुर्थ अङ्क में जो करुण का विराम है और पञ्चम अङ्क में जो रावण के चरित्र में विस्मय-भाव का प्रकाशन है वह सब सीतापहार की दुखद घटना में पर्यवसित होकर करुण का ही परिपोषक बना दिखाई देता है ।

उत्तररामचरित का करुण काव्यव्यङ्ग्य करुण रस है किन्तु 'प्रतिमा' का करुण नाट्यव्यङ्ग्य करुण रस है । वैसे तो भवभूति ने भी 'उत्तररामचरित' को नाटक-रूप में ही रचा है किन्तु वहाँ जो करुण की अवतारणा है वह कविता का कार्य है । 'प्रतिमा' में करुण रस कविता द्वारा नहीं अपितु नाटक द्वारा अभिव्यक्त किया गया है । नाटक की मुख्य घटना 'प्रतिमागृह' और प्रतिमा-दर्शन में भरत की उत्सुकता-जिसकी स्मृति नाटक के नामकरण में सुरक्षित रखी गयी है—बिना काव्यमय करुण सन्दर्भों के ही करुण रस की उद्गमभूमि बनी प्रतीत हुआ करती है ।

'प्रतिमा' का नायक

प्रतिमा नाटक के आलोचक विद्वानों की दृष्टि में 'राम' प्रतिमानाटक के नायक हैं । डाक्टर गणपति शास्त्री का कहना है :—

'In the Pratima, however, the central Rasa that runs through it, is the Dharmavira mingled with Karuna Rasa–the Dharmavira manifesting itself in the enthusiasm displayed by the hero (Bama) in cherishing the single thought of carrying out the Dharma i, e, fulfilling the mandates of his royal father'–Pratima: Introduction,

जिसका अभिप्राय यही है कि राम को नायक मान कर नाटककवि ने अपने नाटक में धर्मवीर रस की पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति की है। किन्तु ऐसा लगता है कि नाटककार को वहाँ करुणरस की ही अभिव्यक्ति अभिप्रेत है और इस दृष्टि से भरत ही इस नाटक के नायक रूप में चित्रित है।

रामायण में भरत का जो उदात्त चरित्र है उसकी छाप 'प्रतिमा' पर सर्वत्र पड़ी दिखाई देती है। यद्यपि इस नाटक के प्रथम अङ्क (पृ० ३७) में 'भरत' का दर्शन नहीं होता किन्तु राम की इस उक्ति अर्थात्—

'ताते धनुर्न मयि सत्यमवेक्षमाणे मुञ्चानि-मातरि शरं स्वधनं हरन्त्याम्।
दोषेषु बाह्यमनुजं भरतं हनानि किं रोषणाय रुचिरं त्रिषु पातकेषु॥'

में भरत के व्यक्तित्व का धुँधला चित्र सहृदय सामाजिकों की अन्तर्दृष्टि के आगे अवश्य उपस्थित किया गया है। दूसरे अङ्क (पृ० ६४) में भी भरत को सहृदय सामाजिक नहीं देखते किन्तु राजा दशरथ की इस उक्ति अर्थात्—

'गतो रामः प्रियं तेऽस्तु त्यक्तोऽहमपि जीवितैः।
क्षिप्रमानीयतां पुत्रः पापं सफलमस्त्विति॥'

में वे भरत की प्रतीक्षा में उत्सुक अवश्य हो उठते हैं। सहृदय सामाजिकों की उत्सुकता तीसरे अङ्क में भरत को देखकर शान्त हो जाती है। तीसरे अङ्क (पृ० ७०) में भरत का जो करुण चित्र सहृदय सामाजिक के सामने आता है वही अन्त तक नये-नये दृष्टिकोणों से दीखता चला करता है। सुमन्त्र के साथ भरत की जो उक्ति-प्रयुक्ति है :—

भरतः—पितुर्मे को व्याधिः।
सूतः—हृदयपरितापः खलु महान्।
भरतः—किमाहुस्तं वैद्याः।
सूतः—न खलु भिषजस्तत्र निपुणाः।
भरतः—किमाहारं भुङ्क्ते शयनमपि।
सूतः—भूमौ निरशनः।
भरतः—किमाशा स्यात्।
सूतः—दैवं।
भरत—स्फुरति हृदयं वाहय रथम्।

इसमें भरत का पिता के प्रति स्नेह शोक की एक तीव्र व्यथा से लिपटा प्रतीत हो रहा है। भरत का व्यक्तित्व एक शोकाकुल महापुरुष का व्यक्तित्व है और इस व्यक्तित्व में तन्मय सामाजिक को इस नाटक के अन्य चरितों का व्यक्तित्व भी करुण-व्यक्तित्व ही लगा करता है।

सुमन्त्र की यह उक्ति (पृ० ८७)—

सुमन्त्रः—इत इतो भवत्यः—

इदं गृहं तत् प्रतिमानृपस्य नः समुच्छ्रयो यस्य स हर्म्यदुर्लभः ।
अयन्त्रितैरप्रतिहारिकागतैर्विना प्रणामं पथिकैरुपास्यते ।।

(प्रविश्यावलोक्य)

भवत्यः ! न खलु न खलु प्रवेष्टव्यम्-अयं हि पतितः कोऽपि वयस्स्थ इव पार्थिवः ।
देवकुलिकः—परशङ्कामलं कर्तुं गृह्यतां भरतो ह्ययम् ।।

राजा दशरथ की प्रतिमा–दशरथ सिद्ध करने के लिए नहीं अपितु भरत को करुण रस की प्रतिमा सिद्ध करने के लिए है। भरत का कैकेयी के प्रति यह क्षोभ (पृ० ९५)—

अयशसि यदि लोभः कीर्तयित्वा किमस्मान्, किमु नृपफलतर्षः किं नरेन्द्रो न दद्यात् ।
अथ तु नृपतिमातेत्येष शब्दस्तवेष्टो, वदतु भवति ! सत्यं किं तवार्यो न पुत्रः ॥

वस्तुतः भरत के शोक का ही एक प्रकाशन प्रकार है।

चतुर्थ अङ्क (पृ० १०४) में भरत का व्यक्तित्व भरत के शब्दों में स्वयं प्रकाशित है :—

'निर्घृणश्च कृतघ्नश्च प्राकृतः प्रियसाहसः ।
भक्तिमानागतः कश्चित् कथं तिष्ठतु यात्विति ।।'

छठे अङ्क (पृ० १५५) में भरत की यह उक्ति—

भरतः—तात ! अपि दृष्टस्त्वया लोकाविष्कृतपितृस्नेहः । अपि दृष्टं द्विधाभूतमरुन्धतीचारित्रम् । अपि दृष्टं त्वया निष्कारणावहितवनवासं सौभ्रात्रम् ।

भरत के करुण महान् व्यक्तित्व को और भी स्पष्टतया प्रकट कर देती है। भरत का कैकेयी से यह कहना (पृ० १६६)—

भरतः—अनुगृहीतोऽस्मि । आपृच्छाम्यत्रभवतीम् । अद्यैवाहमार्यस्य साहाय्यार्थं कृत्स्नं राजमण्डलमुद्योजयामि । अयमिदानीं—

वेलामिमां मत्तगजान्धकारां करोमि सैन्यौघनिवेशनद्धाम् ।
बलैस्तरद्भिश्च नयामि तुल्यं रत्नानि समुद्रं सह रावणेन ।।

जो रामायण में असम्भव है, भरत की कर्त्तव्यनिष्ठा की तो सूचना देता ही है किन्तु साथ ही साथ भरत के करुण व्यक्तित्व को भी झलका जाता है।

सप्तम अङ्क (पृ० १७७) में सहृदय सामाजिक भरत को अवश्य प्रसन्न देखते हैं—

भरतः—आर्य ! अभिवादये भरतोऽहमस्मि ।

रामः—एह्येहि वत्स ! इक्ष्वाकुकुमार ! स्वस्ति, आयुष्मान् भव ।

वक्षः प्रसारय कवाटपुटप्रमाणमालिङ्ग मां सुविपुलेन भुजद्वयेन ।

उन्नामयाननमिदं शरदिन्दुकल्पं प्रह्लादय व्यसनदग्धमिदं शरीरम् ॥
भरतः—अनुगृहीतोऽस्मि । आर्ये ! अभिवादये, भरतोऽहमस्मि ।
सीता—आर्यपुत्रेण चिरसञ्चारी भव ।
भरतः—अनुगृहीतोऽस्मि । आर्य ! अभिवादये ।
लक्ष्मणः—एह्येहि वत्स ! दीर्घायुर्भव । परिष्वजस्व गाढम् ।
भरतः—अनुगृहीतोऽस्मि । आर्य ! प्रतिगृह्यतां राज्यभारः ।

किन्तु भरत की यह प्रसन्नता करुणा की ही प्रसन्नता है । नाटक को सुखान्त होना चाहिये । भरत की करुणा यद्यपि हँस रही है तथापि वह करुणा ही है ।

'प्रतिमा' और अभिज्ञानशाकुन्तल

भासकृत 'प्रतिमा' की मधुर कल्पना ने महाकवि कालिदास को कम प्रभावित नहीं किया । 'प्रतिमा' के प्रथम अङ्क में वल्कलावृता सीता के सम्बन्ध में अवदातिका की जो उक्ति है :—

'भट्टिनि ! सर्वशोभनीयं सुरूपं नाम' (पृ० १२)

उसी की भावना अभिज्ञानशाकुन्तल में कालिदास की इस स्मरणीय उक्ति की प्रेरणा है:—

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं, मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥
(अभिज्ञानशाकुन्तल १. १७)

'प्रतिमा' के पञ्चम अङ्क (पृ० १२७) में पेड़-पौधों को पानी से पटाती सीता का जो सुन्दर चित्र है—

'योऽस्याः करः श्राम्यति दर्पणेऽपि स नैति खेदं कलशं वहन्त्याः ।
कष्टं वनं स्त्रीजनसौकुमार्यं समं लताभिः कठिनीकरोति ॥'

उसी के आधार पर सम्भवतः महाकवि कालिदास ने शकुन्तला का यह चित्र खींचा है :—

'इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया समीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥'
(अभिज्ञानशाकुन्तल १. १७)

'प्रतिमा' के पञ्चम अङ्क (पृ० १२८) की यह मधुर कल्पना—

'आपृच्छ पुत्रकृतकान् हरिणान् द्रुमांश्च, विन्ध्यं वनं तव सखीर्दयिता लताश्च ।'

अभिज्ञानशाकुन्तल की इस कल्पना में अपने पूर्ण माधुर्य में उभर उठी है—

'पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।

आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

(अभिज्ञानशाकुन्तल ४. ८)

'प्रतिमा' के सप्तम अङ्क (पृ० १७३) में राम की सीता के प्रति यह उक्तिः—

'अप्युपलभ्यतेऽस्य सप्तपर्णस्याधस्तात् शुक्लवाससं भरतं दृष्ट्वा परित्रस्तं मृगयूथमासीत् ।'

अभिज्ञानशाकुन्तल के पञ्चम अङ्क में शकुन्तला की दुष्यन्त के प्रति इस उक्ति में झलक रही है :—

'नन्वेकस्मिन् दिवसे नवमालिकामण्डपे नलिनीपत्रभाजनगतमुदकं तव हस्ते सन्निहितमासीत् ।···तत्क्षणे स मे पुत्रकृतको दीर्घापाङ्गो नाम मृगपोतक उपस्थितः । त्वयाऽयं तावत् प्रथमं पिबत्वित्यनुकम्पितोपच्छन्दित उदकेन । न पुनस्तेऽपरिचयाद्धस्ताभ्यामुपगतः । पश्चात्तस्मिन्नेव मया गृहीते सलिलेऽनेन कृतः प्रणयः । तदा त्वमित्थं प्रहसितोऽसि सर्वः सगन्धेषु विश्वसिति । द्वावप्यारण्यकाविति ।'

ऐसा लगता है कि भास की रेखा-रचना को कालिदास की कविप्रतिभा ऐसा उन्मीलित कर देती है कि देखने वाले चित्र देखने में ही मुग्ध हो जाते हैं और उसके पूर्वरूप को देखना नहीं चाहते ।

प्रतिमा और उत्तररामचरित

'प्रतिमा' की 'प्रतिमा-कल्पना' ने उत्तररामचरित की 'चित्र-वीथी' की कल्पना को भी प्रभावित किया है। यद्यपि उत्तररामचरित की 'चित्रवीथी'–कल्पना संस्कृत काव्यसाहित्य में एक अद्भुत कल्पना है और ऐसी कल्पना है जो चित्र और काव्यकला दोनों के गठबन्धन की एक अभूतपूर्व कल्पना है किन्तु इसकी सृष्टि भास की 'प्रतिमा'–कल्पना के कारण ही संभवतः हुई है। यद्यपि उत्तररामचरित की 'चित्रवीथी' की यह सुन्दरता :—

'अयं तावद्बाष्पस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो, विसर्पन्धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः।
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया, परेषामुन्नेयो भवति चिरमाध्मातहृदयः ॥

(उत्तररामचरित १. २९)

'प्रतिमा' में कहीं नहीं, और हो भी नहीं सकती, क्योंकि आँसू का अंकन संगीत और चित्र तथा काव्य की कलायें ही कर सकती हैं—मूर्तिकला नहीं, किन्तु तब भी 'प्रतिमा' की 'प्रतिमा-कल्पना' उत्तररामचरित की 'चित्रकल्पना' की एक प्रबल प्रेरणा अवश्य है ।

'प्रतिमा' में अलङ्कार-योजना

'प्रतिमा' में अलङ्कार–योजना की वही विशेषता है जो भास के 'स्वप्न-वासवदत्तम्' किंवा 'अविमारक' आदि में दिखाई देती है। भास का परमप्रिय अलङ्कार 'उपमा' अलङ्कार है। कालिदास तो उपमा के प्रयोग और उपयोग में सिद्धहस्त प्रसिद्ध ही हैं, किन्तु भास की 'उपमा' भी अपनी स्वाभाविकता और प्रभावमयता का प्रदर्शन किया ही करती है। 'प्रतिमा' के प्रथम अङ्क (पृ० ४१) में लक्ष्मण की यह उक्तिः—

'अनुचरति शशाङ्कं राहुदोषेऽपि तारा, पतति च वनवृक्षे याति भूमिं लता च।
त्यजति न च करेणुः पङ्कलग्नं गजेन्द्रं, व्रजतु चरतु धर्मं भर्तृनाथा हि नार्यः॥

'अर्थान्तरन्यास' के सदुपयोग का एक दृष्टान्त अवश्य है, किन्तु इसमें भी 'उपमानोपमेयभाव' का ही सौन्दर्य छिपा झलक रहा है। यह 'अर्थान्तरन्यास' नीरस नहीं अपितु सरस है।

'प्रतिमा' के तृतीय अङ्क (पृ. ८४) में भरत की इस उक्तिः—

'अयोध्यामटवीभूतां पित्रा भ्रात्रा च वर्जिताम्।
पिपासार्तोऽनुधावामि क्षीणतोयां नदीमिव॥'

में 'उपमा' की जो योजना है उसमें भरत की विकल मनःस्थिति का दर्शन स्पष्ट हो रहा है।

भास की 'उत्प्रेक्षा' भी 'प्रतिमा' में बड़ी प्रभावपूर्ण बन पड़ी है। द्वितीय अङ्क (पृ. ४७) में महाराज दशरथ के इस वर्णन :—

'मेरुश्चलन्निव युगक्षयसन्निकर्षे शोषं व्रजन्निव महोदधिरप्रमेयः।
सूर्यः पतन्निव च मण्डलमात्रलक्ष्यः शोकाद् भृशं शिथिलदेहमतिर्नरेन्द्रः॥'

में जो 'उत्प्रेक्षा' है, उसमें महाराज दशरथ और उनके पुत्रशोक—दोनों की महानता और गम्भीरता का स्पष्ट अङ्कन प्रतीत हो रहा है।

'प्रतिमा' के प्रथम अङ्क (पृ. ४२) में भास ने 'वल्कल' पर यह रूपक-रचना की है :—

'तपःसंग्रामकवचं नियमद्विरदाङ्कुशः। खलीनमिन्द्रियाश्वानां गृह्यतां धर्मसारथिः॥

किन्तु इसकी सुन्दरता इसलिये आकर्षक है कि इसके पहले (पृ. २४ में) भास ने 'वल्कल' को 'ससन्देह' अलङ्कार से अलङ्कृत कर दिया है :—

'आदर्शे वल्कलानीव किमेते सूर्यरश्मयः। हसितेन परिज्ञातं क्रीडेयं नियमस्पृहा।

राम के लिये 'वल्कल' पहले तो मनोविनोद का साधन बना और बाद में ही 'तपः संग्रामकवच' आदि रूप में निखरा। अलङ्कार चरित-चित्रण में भी साधन है—यह यहाँ स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

महाकवि भास

काल-निर्णय

भारत के साहित्यिक इतिहास की सबसे बड़ी कठिनाई कवियों और काव्य-प्रकृतियों का काल-निर्णय है। महाकवि कालिदास भारत के कविसम्राट् हैं किन्तु अभी तक इनके भी युग के सम्बन्ध में मतभेद चल ही रहे हैं। महाकवि कालिदास ने 'भास' का आदरपूर्वक स्मरण किया है। कालिदास के पहले भास की नाटक-कृतियों का बोलबाला अवश्य रहा होगा। अन्यथा कालिदास को भास की स्तुति क्योंकर हो पाती। किन्तु तब भी भास के काल-निरूपण में एक का मत दूसरे से नहीं मिलता।

भास का समय भिन्न-भिन्न विद्वान् भिन्न-भिन्न मानते आ रहे हैं—म० म० गणपति शास्त्री, म० म० हरप्रसाद शास्त्री आदि विद्वानों की दृष्टि से भास का समय यदि ६००–४०० ई० पूर्व का होना चाहिये तो म० म० डाक्टर काणे, म० म० रामावतार शर्मा आदि विद्वानों के मत में ईसा की ९ वीं १० वीं शताब्दी। डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल, प्रिंसिपल ध्रुव आदि ऐतिह्यविद् भास को यदि २ री–१ ली शताब्दी पूर्व का सिद्ध करना चाहते हैं तो डाक्टर बार्नेट, प्रोफेसर देवधर आदि विद्वान ईसा की ७ वीं शताब्दी का। भास को ईसा की २ री, ३ री, ४ थी, ५ वीं और छठी शताब्दी में स्थान देने वालों का भी अपना-अपना मत और अपना-अपना दल है। तात्पर्य यही है कि भास के युग के अनिर्णय में जितना संदेह नहीं उतना निर्णय में है।

भास का काल-निर्णय तभी संभव है जब कौटिल्य, शूद्रक, कालिदास और अश्वघोष का काल-निर्णय निःसन्दिग्ध हो जाय। ६ ठी–७ वीं शताब्दी के बाद तो भास को रखा ही नहीं जा सकता, क्योंकि महाकवि बाण के द्वारा भास और भास नाटकचक्र, भास-नाटक की विशेषता आदि के निर्देश एक समस्या बन जायेंगे। कालिदास के पहले भास का होना अनिवार्यरूप से आवश्यक है, क्योंकि कालिदास ने भास का नामोल्लेख किया है जिसका कारण है कालिदास के पूर्व भास की नाट्यकृतियों की प्रसिद्धि।

नाट्य-रचना की दृष्टि से भास का समय कालिदास से बहुत पहले का होना चाहिये। भास की नाटक-कृतियों पर भरतकृत नाट्यशास्त्र का प्रभाव नहीं दिखाई देता किन्तु कालिदास की नाटक-कृतियाँ भरतमुनि की नाट्य-परम्परा में आ जाती हैं। म०म० गणपति शास्त्री ने भासकी नाटक-रचना पर भगवान् पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट 'नटसूत्र' के सम्प्रदाय के प्रभाव का अनुमान किया है। भास यदि

पाणिनि के पूर्ववर्त्ती न भी हों, क्योंकि अष्टाध्यायी पर भासकृत प्रयोगों की कोई छाप नहीं दिखाई देती, तब भी इतना तो माना जा सकता है कि भास के नाटक भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र की मर्यादा से पहले की नाट्य मर्यादा का अनुसरण करते हैं।

भास को भगवान् बुद्ध का पूर्ववर्ती मानना, जैसा कि म० म० गणपति शास्त्री का कहना है, ठीक नहीं जँचता, क्योंकि भास के नाटकों में 'शाक्यश्रमणक', 'नग्ना श्रमणिका' आदि-आदि प्रयोग बहुधा आये हैं।

भास के नाटकों में जिस सामाजिक परिस्थिति का चित्रण है वह कालिदास के नाटकों में चित्रित सामाजिक परिस्थिति से पर्याप्त रूप से प्राचीन है। 'प्रतिमा' नाटक में प्रतिमागृह की प्राङ्गणभूमि में 'वालुका' (बालू) का छींटना जो वर्णित है उसके आधार पर म० म० हरप्रसाद शास्त्री का अनुमान है कि भास ५ वीं शताब्दी ई० पूर्व के रहे होंगे क्योंकि आपस्तम्ब (६०० ई० पूर्व) ने ही 'बालुकास्तरण' का उल्लेख किया है और किसी गृह्यसूत्रकार ने नहीं। भास के 'अविमारक' में जिस प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध का निर्देश है उसे मनुस्मृति युग में अवैध माना गया है। इसके आधार पर भी भास का युग मनुस्मृति (२ री शताब्दी ई० पूर्व) का पूर्ववर्ती सिद्ध किया जाता है।

भास के नाटकों में बौद्ध और जैन धर्म के प्रति कोई सद्भावना का भाव नहीं दिखाई देता, प्रत्युत जो भी धार्मिक आदर्श प्रस्तुत किया गया है वह वैदिक धर्म का ही आदर्श है—भास की प्राचीनता में यह भी एक प्रमाण है।

भास के नाटकों में प्रतिबिम्बित सामाजिक जीवन कौटिलीय अर्थशास्त्र की राजनीति की पृष्ठभूमि-सा लगता है। अर्थशास्त्र में मदिरा-गृह और उसके राजकीय संरक्षण का उल्लेख भास के प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण (अङ्क ४ प्रवेशक) की इन पंक्तियों में स्पष्टतया निर्दिष्ट है :—

गात्रसेवक—क इदानीमेषोऽत्र राजमार्गे गात्रसेवक! गात्रसेवक! इति मां शब्दापयति? पानागारान्निष्क्रान्तो दृष्टोऽस्मि मम श्वशुरेण सुरुष्टेन। शकृत-मल्लकेन घृतमरिचलवणरूषितो मांसखण्डो मुखे प्रक्षिप्तश्च। स्नुषा रज्यति पीता यदि। श्वश्रूर्ननु दण्डोद्यता भवति।

धन्याः सुराभिर्मत्ता धन्याः सुराभिरनुलिप्ताः।
धन्याः सुराभिः स्नाता धन्याः सुराभिः संज्ञापिताः॥

अर्थशास्त्र में, बड़े-बड़े नगरों में किन्हीं विशेष अवसरों पर नागरिकों के रात्रि-भ्रमण के प्रतिबन्ध (कर्फ्यू) का जो सङ्केत है और उसके लिए तूर्यवादन के द्वारा सबको सूचित करने का जो विधान है उसका चित्र भास के नाटक 'चारुदत्त' में स्पष्ट चित्रित है :—

विदूषक-भो वयस्य! कः कालः कृतपरिघोषणतया निःसम्पाता राजमार्गाः।

कौटिल्य अर्थशास्त्र और भासनाटक-चक्र में समसामयिक जीवन का जो चित्र है उसके आधार पर भास को ईस्वी पूर्व का ही महाकवि मानना अनिवार्य

हो जाता है। कालिदास के पूर्ववर्ती भास को आज-कल उपलब्ध नाटकचक्र की कृति से सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध सिद्ध करने के भी अनेकानेक प्रयत्न किये जा चुके हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि आलङ्कारिकों द्वारा नामग्रहण के साथ उद्धृत 'स्वप्नवासवदत्त' यदि भासकृत है तो अन्य उपलब्ध १२ नाटक भी भासकृत ही होने चाहिये। भास की कृति के रूप में प्रसिद्ध 'स्वप्नवासवदत्त' आदि तेरहों नाटक एक प्रतिभाशाली नाटक कवि की रचनायें हैं न कि किसी प्राचीन नाटक-मण्डली के द्वारा अभिनय के लिये संगृहीत रूपक-वस्तुयें। डाक्टर विंटरनिट्ज का इसीलिये कहना है :—

'*Plays like* ऊरुभङ्ग, पाञ्चरात्र *and* बालचरित, *to say nothing of such works as the* स्वप्नवासवदत्त *and* प्रतिज्ञायौगन्धरायण *or* अविमारक *are original works and cannot by any stretch of the term be designated as Compilations.*'

भास की शैली

भास की शैली संस्कृत नाटक की आदर्शशैली कहना चाहिये। नाट्याचार्यों ने जिसे 'भारती वृत्ति' कहा है उसमें आधुनिक नाट्य-मर्यादा का *Dialogue* (कथनोपकथन अथवा संवाद) अन्तर्भूत प्रतीत होता है। भास के नाटकों की जो 'भारती वृत्ति' है वह दूसरे संस्कृत नाटकों में दुर्लभ है। म० म० गणपति शास्त्री का कहना है :—

'*The superior excellence of sentences which are not subject to the restrictions of veriffication is everywhere to be observed in these Rupakas. It really surpasses in grandeur, the styte of other works and is incomparable,* अर्थात् भास के नाटक-चक्र में वाक्य-योजना की जो विशेषतायें हैं उनका अनुकरण नहीं हो सकता और न उन्हें अन्यत्र पाया ही जाता है।

भास की भाषा बोलचाल की संस्कृत भाषा है। भास की भाषा की स्वाभाविकता कालिदास की भाषा में नहीं। भास की भाषा पहाड़ी निर्झरिणी-सी स्वच्छन्द होते हुए सरल है किन्तु कालिदास की भाषा गङ्गा की धारा-सी संयत और सुन्दर है।

भास ने अपने नाटकों में चरितों के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया है। कालिदास के नाटकों में काव्यात्मकता की सुन्दरता स्थान-स्थान पर मिलती है किन्तु भास के नाटक नाटकीयता से पूर्ण हैं। भास को भारती वृत्ति—संवाद-रचना—का अद्वितीय कलाकार कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगी। भास की शैली के सम्बन्ध में यह उक्ति :—

'*He is terse and sparse in his expression. He tells us more by the things he does not say than by the things he says. He is the master*

of silence. अर्थात् 'भास की शब्दार्थ-योजना अभिव्यञ्जना से ओतप्रोत है' सर्वथा युक्तियुक्त है प्रत्येक रस-भाव के अनुकूल, देश और काल के अनुसार भास की भाषा का प्रवाह देखते ही बनता है।

भास की रस-योजना

अलङ्कारशास्त्र में 'रस' को नाट्य और काव्य की आत्मा कहा गया है। भास की नाटक कृतियों में रसरूपी आत्मतत्त्व सर्वत्र झलकता है। भास की रचना एक रसाविष्टहृदय कवि की रचना है और इसीलिये उसमें शब्द-ग्राम, अर्थ-सार्थ उक्तिवैखरी, कल्पना-वैचित्र्य सभी के सभी स्वभावतः खिंचे चले आये हैं। भास को वीर, वात्सल्य, हास्य, अद्भुत, रौद्र और करुणरस पर अधिकार है। भास की श्रृङ्गार रस की भी नाट्य-कृतियाँ हैं, जिनमें रति अथवा प्रेम का भाव अत्यन्त उत्कृष्ट रूप का अभिव्यक्त हुआ है।

भास की रस योजना में अलङ्कार कहीं भी बाधक नहीं प्रतीत होते। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अर्थान्तरन्यास—इन कतिपय अलङ्कारों की योजना भास की रससिद्ध रचनाओं की एक सुन्दरता है। कालिदास ने भास की नाटक-कृतियों की शाला में अलङ्कार-योजना का अध्ययन किया है। कालिदास की अलङ्कार-योजना की सुन्दरता का बहुत कुछ श्रेय इस दिशा में भास के मार्ग-प्रदर्शन को है। डाक्टर ए० बी० कीथ की यह उक्ति :—

His practical appreciation of the merits of the dramatist (Bhasa) with whose established fame his (Kalidasa's) nascent genius had to contend. अर्थात् 'कालिदास ने भास की विशेषताओं का अपने में आधान किया है क्योंकि कालिदास की उदीयमान कवि-प्रतिभा को भास की चमकती प्रतिभा का सामना करना पड़ा है' कोई अत्युक्ति नहीं।

भास का प्रकृतिवर्णन

भास का प्रकृति-निरीक्षण सूक्ष्म और व्यापक दोनों है। सूक्ष्म इसलिये है कि प्रत्येक दृश्य केवल रेखानिवेश के रूप में नहीं अपितु पूर्ण चित्र के रूप में अङ्कित हुए हैं और व्यापक इसलिये कि भास की नाटक कृतियों में प्रकृति के अनेक दृश्य एक के बाद एक आया-जाया करते हैं। 'स्वप्नवासवदत्त' (१. १६) में सायंकाल का यह चित्रण :—

'खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद्रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥'

जितना स्वाभाविक है उतना ही सुन्दर और सरस भी है।

कालिदास की कृतियों में प्रकृति और मानव का जो घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित दिखायी देता है और प्रकृति के दृश्य मानव-हृदय के प्रति सान्त्वना और समवेदना के भावों से जो ओत-प्रोत लगते हैं उन सब का पूर्वरङ्ग भास की नाट्य-कृतियाँ हैं। भास ने अपने नाटक में अविमारक के वियोग-दुःख में निदाघ को संतप्त चित्रित किया है :—

'अत्युष्णा ज्वरितेव भास्करकरैरापीतसारा मही
यक्ष्मार्त्ता इव पादपाः प्रमुषितच्छाया दवाग्न्याश्रयात्।
विक्रोशन्त्यवशा दिवोच्छ्रितगुहाव्यात्ताननाः पर्वता
लोकोऽयं रविपाकनष्टहृदयः संयाति मूर्च्छामिव ॥' (अविमारक ४.४)

इसी प्रकार 'अविमारक' की प्रसन्नता में प्रकृति भी प्रसन्नता से फूली नहीं समाती :—

'व्यामृष्टसूर्यतिलको विततोडुमालो नष्टातपो मृदुमनोहरशीतवातः।
संलीनकामुकजनः प्रविकीर्णशूरो वेषान्तरं रचयतीव मनुष्यलोकः ॥'
(अविमारक २. १२)

कालिदास ने आकाशमार्ग से इन्द्र-रथ पर चलते हुए महाराज दुष्यन्त के द्वारा देखे गये भूलोक के दृश्य का जो सच्चा और स्वाभाविक चित्र उपस्थित किया है :—

'शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात् पादपाः।
संतानैस्तनुभावनष्टसलिला व्यक्तिं भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते ॥' (शाकुन्तल ७. ८)

उसकी रेखा भास के अविमारक (४. ११) में ही बन चुकी है :—

'शैलेन्द्राः कलभोपमा जलधयः क्रीडातटाकोपमा
वृक्षाः शैवलसन्निभाः क्षितितलं प्रच्छन्ननिम्नस्थलम्।
सीमन्ता इव निम्नगाः सुविपुलाः सौधाश्च बिन्दूपमा
दृष्टं वक्त्रमिवावभाति सकलं संक्षिप्तरूपं जगत् ॥'

महाकवि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल (१.६) में द्रुतगतिगामी रथ पर आरूढ़ दुष्यन्त के द्वारा देखे गये प्राकृतिक दृश्यों का यह वर्णन :—

'यदालोके सूक्ष्मं व्रजति सहसा तद्विपुलतां
यदर्धे विच्छिन्नं भवति कृतसंधानमिव तत्।
प्रकृत्या यद्वक्रं तदपि समरेखं नयनयो
र्न मे दूरे किंचित् क्षणमपि न पार्श्वे रथजवात् ॥'

अपनी स्वाभाविकता में जितना सुन्दर है उतना ही भास के प्रतिमानाटक (पृ. ७१) में तीव्रगामी रथ पर आरूढ़ भरत के द्वारा देखे गये प्राकृतिक दृश्यों का यह वर्णन भी स्वभावमनोहर है :—

'द्रुमा धावन्तीव द्रुतरथगतिक्षीणविषया नदीवोद्वृत्ताम्बुर्निपतति मही नेमिविवरे।
अरव्यक्तिर्नष्टा स्थितमिव जवाच्चक्रवलयं रजश्चाश्वोद्धूतं पतति पुरतो नानुपतति॥'

भासकृत रात्रि-वर्णन और संतमस-वर्णन वास्तविकता और कलात्मकता का बड़ा सुंदर संमिश्रण है। भास ने 'अविमारक' (२. १२) में 'सांध्यवेला' का जो चित्र खींचा है :—

'पूर्वा तु काष्ठा तिमिरानुलिप्ता सन्ध्यारुणा भाति च पश्चिमाशा।
द्विधा विभक्तान्तरमन्तरिक्षं यात्यर्धनारीश्वररूपशोभाम्॥

वह संस्कृत काव्य-साहित्य में अपनी स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति में अनुपम है।

भास की प्रमुख विशेषता

भास का अधिकार नाट्य-कला पर है। नाट्य-कला का चरितचित्रण-कला अत्यन्त आवश्यक अङ्ग है। यह चरितचित्रण-कला भास की सबसे बड़ी विशेषता है। भास के नाटकों में क्या देव और क्या मनुष्य सभी उपस्थित हैं। सबका चित्रण भास ने किया है और इस ढङ्ग से किया है जिसमें सहृदय सामाजिक उन्हें अनायास अपना सकें।

भास का चरित-चित्रण मनोवैज्ञानिक है। मानवहृदय के अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में भास सिद्धहस्त हैं। भास ने प्रायः २३० चरित अपनी नाट्य कृतियों में चित्रित किये हैं।

महाकवि बाण को भास की 'अनेक चरित-चित्रण-कला' का स्मरण है :—

'सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः। सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव॥'

भास की कल्पना द्वारा उद्भावित प्रत्येक चरित का अपना-अपना व्यक्तित्व है। क्या छोटे और क्या बड़े सभी प्रकार के चरित इस प्रकार चित्रित हैं कि उन्हें पृथक्-पृथक् देखना सरल है।

भास का 'प्रतिमानाटक' भास की चरितचित्रणकला का एक प्रमुख निदर्शन है। 'प्रतिमा' में चित्रित राम और सीता आदि के चित्र में सहृदय सामाजिक अनायास तन्मय हो सकता है। कालिदास और बाण द्वारा उद्भावित चरितों की कल्पनाशक्ति, भवभूति द्वारा चित्रित चरितों की भावुकता और शूद्रक की प्रतिभा से प्रसूत चरितों की स्वाभाविकता—इन सबकी विशेषतायें भास के चरित-चित्रण में घुली-मिली हैं किन्तु तब भी भास का चरित-चित्रण भास का ही चरित-चित्रण है।

भास के नाटक-चक्र की कुछ विशेषतायें

भास की कृति के रूप में प्रसिद्ध नाटक-चक्र में कई एक ऐसी विशेषताएँ देखी गई हैं जो अन्य नाटककारों की कृतियों में नहीं के बराबर हैं और जिनके आधार पर यह भी प्रमाणित होता है कि नाटक-चक्र एक नाटककार की रचना है। विशेषताओं में कतिपय मुख्य विशेषतायें निम्न हैं :—

(क) नाट्य-रचना सम्बन्धी समानता

भास के नाटक-चक्र में प्रत्येक नाटक 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः' इस निर्देश से प्रारम्भ होता है जब कि कालिदास आदि के नाटकों में सूत्रधार के नान्दीपाठ के बाद 'नान्द्यन्ते'–यह निर्देश रहा करता है।

भास अपने नाटकों के प्रारम्भ का 'स्थापना' इस पारिभाषिक शब्द से सूचित किया करते हैं जब कि अन्य नाटककार अपने नाटकों के प्रारम्भ को 'प्रस्तावना' कहा करते हैं। भास के नाटकों की 'स्थापना' में नाटक अथवा नाटककार का नाम नहीं दिया गया है जब कि और नाटकों में नाटक और नाटककार का नाम-निर्देश 'प्रस्तावना' के आवश्यक अङ्ग रूप से किया गया है। भास के नाटकों की 'प्रशस्ति' (अन्तर्मङ्गल) प्रायः यही उक्ति है :—

'इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्।
महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः॥'

जब कि अन्य संस्कृत नाटकों में एक ही नाटककार अपने भिन्न-भिन्न नाटकों के लिए भिन्न-भिन्न 'प्रशस्ति' का नियम रखता रहा है। भास के नाटकों की 'स्थापना' में यह संकेत प्रायः सर्वत्र दिखाई देता है :–'एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि। अये किं नु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते। अङ्ग पश्यामि।'

(ख) भरतनाट्यशास्त्रभिन्न नाट्य-परम्परा

भास की नाट्य-परम्परा वह नहीं है जो कालिदास आदि की है। भास की नाट्य–परम्परा के सम्बन्ध में डाक्टर विंटरनिट्ज की इसीलिए यह उक्ति है :—

'(The plays of Bhasa) disregard the rules of the Natya shastr !n bringing scenes of tho stage which will never occur in classica dramas.' जिसका तात्पर्य यह है कि नाट्य के वे नियम जो संस्कृत नाटकों में पाले गये दिखाई देते हैं, भासकृत नाटकों में नहीं दिखाई देते। भास के नाटक तो नाट्यशास्त्र की मर्यादा से भिन्न नाट्य-मर्यादा का अनुसरण किया करते हैं। प्रतिमानाटक (२य अंक) में रङ्गमञ्च पर दशरथ की मृत्यु 'ऊरुभङ्ग' (२य अंक) में दुर्योधन की रङ्गमञ्च पर मृत्यु, 'स्वप्नवासवदत्त' (४म अंक) में रङ्गमञ्च पर निद्रा आदि-आदि बातें ऐसी हैं जो भरतनाट्य-शास्त्र की अभिनव-परम्परा के सर्वथा प्रतिकूल हैं।

नाट्यशास्त्र के अनुसार 'आर्यपुत्र'–यह सम्बोधन सेवक का स्वामी के प्रति नहीं अपितु पत्नी का पति के प्रति किया जाना अभिप्रेत है किन्तु भास के नाटकों में जैसे कि स्वप्नवासवदत्त में ही सेवक भी स्वामी को 'आर्यपुत्र' कहकर सम्बोधित करता है।

भास के नाटकों में किसी प्रमुख नाटक पुरुष का आगमन प्रायः इन शब्दों से सूचित किया गया है :—'उत्सरत उत्सरत आर्या उत्सरत' जो कि अन्य संस्कृत नाटकों में नहीं है।

भास के नाटकों में सामाजिकों को घटना का सम्बन्ध 'काञ्चुकीय' की प्रायः इसी प्रकार की उक्ति से बताया गया है :—'क इह भोः ! काञ्चन (रत्न) तोरणद्वारमयशून्यं कुरुते।' जो कि अन्य संस्कृत नाटकों में नहीं है।

(ग) विचारों की समानता

नाटकचक्र में विचारसाम्य सर्वत्र दिखायी देता है जिसके आधार पर यह विश्वास स्वभावतः हो जाता है कि नाटक-चक्र एक कलाकार की कृति है।

नाटक-चक्र के कई एक नाटकों में 'बाहुदण्ड' को प्रकृतिसिद्ध अस्त्र कहा गया है :—

(१) बालचरित (३, ११)—

'गिरितटकठिनांसावेव बाहू ममैतौ, प्रहरणमपरं तु त्वादृशां दुर्बलानाम् ॥

(२) पाञ्चरात्र (२, ५९)

'सहजौ मे प्रहरणं भुजौ पीनांसकोमलौ।
तावाश्रित्य प्रयुध्येयं दुर्बलैर्गृह्यते धनुः॥

(३) अविमारक (२, ११)—

'वयमपि च भुजायुधप्रधानाः, किमिह सखे ! भवतापि शङ्कनीयाः ॥'

(४) मध्यमव्यायोग (१, ४२)—

'काञ्चनस्तम्भसदृशो रिपूणां निग्रहे रतः।
अयं तु दक्षिणे बाहुरायुधं सहजं मम ॥'

नाटकचक्र में कई एक नाटकों में 'श्री' (लक्ष्मी) को 'साहस' के साथ प्रसन्न रहने वाली कहा गया है :—

(१) चारुदत्त–'साहसे खलुश्रीर्वसति'। (२) पाञ्चरात्रम्–'श्रीर्न सन्तोषमिच्छति।'

(३) स्वप्नवासवदत्त—'प्रायेण हि नरेन्द्रश्रीः सोत्साहैरेव भुज्यते।'

नाटकचक्र के कतिपय नाटकों में पेड़-पौधों के सींचे गये होने के कारण नगर का अनुमान वर्णित किया हुआ है :—

(२) प्रतिमानाटक–'सोपस्नेहतया वृक्षाणामभितः खल्वयोध्यया भवितव्यम्।
(३) अभिषेकनाटक—'सोपस्नेहतया वनान्तरस्याभितः खलु किष्किन्धया भवितव्यम्।

(घ) नाट्यात्मक परिस्थितियों का साम्य

नाटकचक्र के प्रायः सभी नाटकों में 'पताकास्थानक' रखा गया है जिसे पाश्चात्त्य नाट्य की परिभाषा में Dramatic Irony' कहा जाता है।

(ङ) कल्पना साम्य

नाटक–चक्र के नाटकों में कल्पना–साम्य प्रायः सर्वत्र दिखायी देता है। नाटककार की कुछ कल्पनायें तो सर्वथा मौलिक हैं—

(१) अभिषेकनाटक (२. २०) 'कथं लम्बसटः सिंहो मृगेण विनिपात्यते।'
(२) प्रतिमा (५. १८) 'न व्याघ्रं मृगशिशवः प्रधर्षयन्ति।'
(३) मध्यमव्यायोग 'व्याघ्रानुसारचकितो वृषभः सधेनुः।'
(४) चारुदत्त (१. ६) 'व्याघ्रानुसारचकिता हरिणी।'

(च) प्रयोग-साम्य

नाटकचक्र में प्रयोग-साम्य प्रायः सर्वत्र प्रतीत होता है :—

(१) अहो हास्यमभिधानम् (प्रतिज्ञायौगन्धरायण, पाञ्चरात्र, दूतघटोत्कच)
(२) अलमिदानीं भवानतिमात्रंसंतप्य (स्वप्नवासवदत्त, अविमारक, चारुदत्त)
(३) सञ्चारिणोऽनर्थाः (प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अविमारक)
(४) श्रूयतां मम पराक्रमः (अभिषेक, प्रतिमा, बालचरित)

(छ) पद्य–पद्यार्थ–साम्य

नाटकचक्र में जहाँ-तहाँ पद्य अथवा पद्यार्थ साम्य भी एक कलाकार का अनुमान करवाया करते हैं :—

(१) किं वक्ष्यतीति हृदयं परिशङ्कितं मे (स्वप्नवासवदत्त ६. १५, अभिषेकनाटक ४. ७)
(२) धर्मस्नेहान्तरे न्यस्ता (प्रतिज्ञायौगन्धरायण २.७ अभिषेकनाटक ६.२३)
(३) लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः)।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता॥ (बालचरित ६. १५, चारुदत्त १.१९)
(४) यदि तेऽस्ति धनुःश्लाघा (प्रतिमानाटक १. २०, अभिषेकनाटक ३.२२)

इसी प्रकार सामाजिक परिस्थितियों का साम्य, छन्दोयोजना का साम्य, आर्षप्रयोग का साम्य आदि-आदि अनेक और भी बातें हैं जो नाटक-चक्र को एक कलाकार की कृति के रूप में सिद्ध करती हैं।

भास का संस्कृत-नाटककारों पर प्रभाव

भास के नाटक संस्कृत नाटकों को प्रेरणा प्रदान करते आये हैं। भास ने कालिदास को प्रभावित किया है किन्तु कालिदास की प्रतिभा भास के प्रभाव को आत्मसात् करती अपने ही रूप में अपने आपको प्रकाशित किया करती है। 'प्रतिमा' और 'स्वप्नवासवदत्त' का प्रभाव कालिदास पर स्पष्ट है। भास के 'अविमारक' से भवभूति को प्रेरणा मिली है और वह प्रेरणा मिली है 'मालती–माधव' की रचना में। भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' ने विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' को कम प्रभावित नहीं किया है। मुद्राराक्षस के 'चाणक्य' और प्रतिज्ञायौगन्धरायण के 'यौगन्धरायण' में 'चरित्र-चित्रण–साम्य बहुत कुछ पाया जाता है। भास के स्वप्नवासवदत्त और प्रतिज्ञायौगन्धरायण से प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द नाटक पर्याप्त रूप से प्रभावित हैं। भास के नाटक-चक्र में 'स्वप्नवासवदत्त' का संस्कृत नाटकों पर जो प्रभाव पड़ा है वह अमिट है। 'स्वप्नवासवदत्त' के सम्बन्ध में यह उक्ति—

'भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः॥'

वस्तुतः संस्कृत नाट्यसाहित्य पर 'स्वप्नवासवदत्त' की कृति के प्रभाव की सूचना दिया करती है। भास को संस्कृत कविता-सरस्वती का 'हास' कहा गया है। जैसे किसी सुन्दरी की हँसी किसी को भी आकृष्ट कर सकती है वैसे ही भास की नाटककृति भी सामाजिकमात्र को आकृष्ट किया करती है। भास की यह विशेषता अन्यत्र कहीं नहीं पायी जाती।

पात्र-परिचय

पुरुष पात्र

१ सूत्रधार—नाटक का स्थापक ।
२ राजा—अयोध्याधिपति महाराज दशरथ ।
३ राम—महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र, नाटक के नायक, कौशल्यानन्दन ।
४ लक्ष्मण—महाराज दशरथ के पुत्र, सुमित्रातनय ।
५ भरत—महाराज दशरथ के पुत्र, कैकेयीतनय ।
६ शत्रुघ्न—लक्ष्मण के सोदर भाई ।
७ सुमन्त्र—महाराज दशरथ के मन्त्री ।
८ सूत—भरत के सारथी ।
९ रावण—नाटक का प्रतिनायक लङ्काधिपति ।
१० वृद्धतापसद्वय—रावण और जटायु के युद्ध को देखने वाले ।
११ देवकुलिक—प्रतिमा-गृह का पुजारी ।
१२ तापस—दण्डकारण्य के तपस्वी ।
१३ नन्दिलक—तपस्वी के परिजन ।
१४ भट—राजपुरुष ।
१५ सुधाकार—प्रतिमा-गृह में सुधा का लेप करने वाला ।
१६ कांचुकीय—अन्तःपुर का वृद्धसेवक ।

स्त्री पात्र

१ नटी—सूत्रधार की स्त्री ।
२ कौसल्या—महाराज दशरथ की प्रथम पत्नी, राम की माता ।
३ कैकेयी—महाराज दशरथ की द्वितीय पत्नी, भरत की माता ।
४ सुमित्रा—महाराज दशरथ की तृतीय पत्नी, लक्ष्मण की माता ।
५ सीता—मिथिलेश महाराज जनक की कन्या, राम की पत्नी ।
६ अवदातिका—सीता की सखी ।
७ प्रतिहारी—अन्तःपुर की द्वारपालिका ।
८ विजया—कैकेयी के अन्तःपुर की प्रतिहारी ।
९ नन्दिनिका—कैकेयी की परिचारिका ।
१० तापसी—दण्डकारण्य की तपस्विनी ।

॥ श्रीः ॥

प्रतिमानाटकम्

'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

अथ प्रथमोऽङ्कः

(नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः ।)

यदिङ्गितं चक्रमदृष्टसाह्यं विनैव मृद्दण्डपटैकदेशान् ।
ब्रह्माण्डभाण्डानि सृजत्यखेदं तं कुम्भकारं प्रणतः प्रपद्ये ॥ १ ॥
यो गुरुर्मम विकास्य शेमुषीं कल्पनामपि न जातु जग्मुषीम् ।
सिद्धिमानयत मां दयामये तस्य पादसरसीरुहे श्रये ॥ २ ॥
ध्यात्वा नतेन शिरसा 'जयमणि'-'मधुसूदनौ' पितरौ ।
प्रतिमा 'प्रकाश'विधये प्रयते श्रीरामचन्द्रोऽहम् ॥ ३ ॥
सन्तो गुणेन तुष्यन्ति स नैकान्तेन दुर्लभः ।
दोषाविलेऽपि तेनात्र दृक्पातः क्रियतां बुधैः ॥ ४ ॥

नाटकप्रणयनमाचार्यत्वेनाधुनावधि संस्तुतः प्रधानकविर्भासोऽभिनययोग्यं प्रतिमाऽभिधानं नाटकं निर्मित्सुः प्रारम्भे तस्य निर्विघ्नाभिनयसम्पत्ति विद्वत्समुदय-प्रतिपत्तिपरिपन्थिदुरितक्षयसाधनं पूर्वरङ्गप्रधानाङ्गं मङ्गलश्लोकपाठं तदङ्गञ्चैव कथांशनिर्देशं प्रयोगनिपुणेन सूत्रधारेण प्रथमाचरणीयं विभावयंस्तस्य तावत् प्रवेश-माह—'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधार' इति । नान्द्या अन्ते इति समासः । नान्दी-आनकः, 'दुन्दुभिस्त्वानको भेरी भम्भा नासूश्च नान्द्यपि' इति वैजयन्ती । सा चात्र वाद्यान्तराण्यप्युपलक्षयति । तथा चाभिनेयनाटकीयकथारम्भपूर्वाङ्गभूते

(नान्दी के अन्त में सूत्रधार का प्रवेश)

सूत्रधारः—

सीताभवः पातु सुमन्त्रतुष्टः सुग्रीवरामः सहलक्ष्मणश्च।
यो रावणार्यप्रतिमश्च देव्या विभीषणात्मा भरतोऽनुसर्गम् ॥ १ ॥

आनकादिवाद्यवादने समाप्त इत्यर्थः पर्यवस्यति। यद्वा—नन्दिरानन्दस्तस्या इयं नान्दी–गीतवाद्यवादनादिक्रिया, तस्या अन्ते-उपरमे इत्यर्थः, तदनुष्ठानं च देवता-परिषदादिप्रसादनाय क्रियते। ततः तदुत्तरकालम्, नान्दीसमाप्त्यव्यवहितोत्तर-काल इति तु नार्थः, मध्ये वाद्यादिस्थापनादौ व्यापारान्तरेऽनुष्ठीयमानेऽपि पौर्वा-पर्याव्याघातात्, अव्यवधानांशस्याविवक्षितत्वात्, तत्त्वेऽप्यधिकचमत्काराऽनाधा-नात्। नान्दीलक्षणं साहित्यदर्पणे यथा–'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते। देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति शब्दिता' ॥ इति ॥

प्रविश्य सूत्रधारः कर्त्तव्यस्य कर्मणो निर्विघ्नसम्पूर्त्तये मङ्गलं विधत्ते-**सीताभव** इति। सीतायाः स्वनामख्यातायाः जनकदुहितुर्भवः क्षेमः तत्कारणमित्यर्थः, कार्यका-रणयोरभेदोपचारकृत ईदृक्प्रयोगः। सुमन्त्रतुष्टः शोभनेन मन्त्रेण मुदितः। सह-लक्ष्मणः-लक्ष्मणसहितः, अथवा भ्रातुरर्थे वनवासतत्परिचरणस्वप्रेयसीवियोगादि-क्लेशानां सोढा लक्ष्मणस्तदभिधानो भ्राता यस्येत्यर्थः। विशेषणद्वयमपीदं रामस्य। सुग्रीवरामः—शोभनकण्ठश्चासौ राम इति कर्मधारयः। कर्तृपदमिदम् अनुसर्गम्—सर्गे सर्गे जन्मनि जन्मनि प्रतिप्रादुर्भावमित्यर्थः, वीप्सायामव्ययीभावः। पातु-रक्षतु अस्मान् युष्मांश्चेति शेषः, तत्रास्मानिति पक्षे प्रयोगसाफल्यप्रदानमत्र पालनेना-भिप्रेतम्, युष्मानिति पक्षे च यथाभवदभीष्टं फलं दद्यादिति।

उत्तरार्धेन पुनरपि रामं विशिनष्टि—**यो रावणार्यप्रतिम** इति। रावणारिः-रावणशत्रुः, न विद्यते प्रतिमा सादृश्यं यस्यासौ अप्रतिमः निरुपम इत्यर्थः। प्रतिमा शब्दस्य प्रसिद्धं मूर्त्तिवाचकत्वं तथापि-'सरोरुहं तस्य दृशैव निर्जितं जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः! अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे' इति नैषधीये सादृश्यपरत्वमपि प्रतीतमिति बोध्यम्। देव्या-सीतया, सहित इति शेषः। विभीषणः रावणानुजः, तस्मिन् आत्माभे स्वसदृशे स्वसमसुखदुःख इति तात्पर्यम्।

सूत्रधार—सीता के आनन्ददाता, अच्छे मन्त्र के पक्षपाती, सुन्दर कण्ठशाली (अथवा सुग्रीव के मित्र), लक्ष्मण के सहचर, सीताहरण द्वारा कृतापराध रावण के निहन्ता, विभीषणाभिन्नहृदय (अथवा शत्रुभयङ्कर) भगवान् राम जन्म-जन्म में हमारी तुम्हारी रक्षा करें ॥ १ ॥

(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)

आर्ये ! इतस्तावत् ।

(प्रविश्य)

नटी—आर्य ! इयमस्मि ।

अय्य ! इअम्हि ।

सूत्रधारः—आर्ये ! इममेवेदानीं शरत्कालमधिकृत्य गीयतां तावत् ।

नटी—आर्य ! तथा ।

अय्य ! तह । (गायति)

रतः अनुरक्तः च अस्तीति पदमध्याहार्यम् । अथ चात्र-सीता राम-सुमन्त्र-सुग्रीव-लक्ष्मण-रावण-विभीषण-भरताभिधानानि नाटकीयानि प्रमुखपात्राणि मुद्रालङ्कारद्वारोपनिबद्धानि । अप्रतिमघटकः प्रतिमशब्दश्चैकदेशविकृतन्यायमहिम्ना 'प्रतिमा' शब्दं स्मारयन् नाटकस्य नामधेयं प्रतिमानाटकपदव्यपदेश्यताबीजभूतं दशरथप्रतिमावृत्तं चावेदयति। इयं च द्वादशपदा नान्दी मङ्गलसाधारण्यत्र बोध्या । तदुक्तमभियुक्तैः—'पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत' इति। अत्र पदपदं श्लोकपादं सुबन्ततिङन्तत्वरूपपदत्वभाजं च सङ्गृह्णाति । अत्र यद्यपि 'समाप्य पुनरादानात् समाप्तपुनरात्तते'ति लक्षितं समाप्तपुनरात्तत्वं प्रतिभासते, तथापि पालनस्य रावणारित्वविभीषणात्मत्वादिपदप्रत्याय्याशासनार्थत्वेनोत्थिताकाङ्क्षत्वं प्रतिपद्यपरिहरणीयं तदिति बोध्यम् । अत्रेन्द्रवज्रावृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' ।

इतस्तावदिति—आगम्यतामिति चेष्टाव्यङ्ग्यम् ।

इममिति—अचिरप्रवृत्तम् । तावदितीह प्रथममित्यर्थे । गीयताम्—गानमारभ्यतामित्यर्थः ।

'अय्य तह' इति—तथेति तदुक्तिः स्वीकृता, गायामीत्यर्थः ।

(नेपथ्य की ओर देखकर)

आर्ये, इधर तो आना ।

(नटी का प्रवेश)

नटी—आर्य, आई तो ।

सूत्रधार—इसी शरद् ऋतु के सम्बन्ध में इस समय कुछ गाओ ।

नटी—अच्छी बात, गाती हूँ । (गाती है)

सूत्रधारः—अस्मिन् हि काले,

चरति पुलिनेषु हंसी काशांशुकवासिनी सुसंहृष्टा ।

(नेपथ्ये)

आर्य ! आर्य !
अय्य ! अय्य !

(आकर्ण्य)

सूत्रधारः—भवतु, विज्ञातम् ।

मुदिता नरेन्द्रभवने त्वरिता प्रतिहाररक्षीव ॥ २ ॥

अस्मिन्निति—इदं चरतीत्यादिना पद्येन सम्बध्यते ।

चरतीति । अस्मिन् काले शरत्समये काशांशुः काशपुष्पप्रकाशा, कवासिनी जलनिवासिनी च । सुसंहृष्टा अतिमुदिता सती हंसी वरटा पुलिनेषु नदीसैकतस्थलीषु चरति-यथेच्छमितस्ततो भ्रमति । हंसी धवला, शरदि काशविकासादत्यच्छप्रभेत्यर्थः । एतावतो भागस्य श्रवणात् प्रवृत्तोऽभिनय इत्यस्माभिरपि सन्नद्धैर्भाव्यमिति नेपथ्यगतानां पात्राणामितस्ततः सम्भ्रमं सम्भवन्तमुत्प्रेक्ष्याह—नेपथ्ये इति । प्रतीहार्याः प्रवेशाय कृतभूमिकाधारणायाः सम्भ्रमकृता द्विरुक्तिः—'आर्य आर्य' इति ।

विज्ञातम्—कस्य पात्रस्य वचनमिदमिति मया विदितमित्यर्थः । तस्यैव विदितोक्तेः पात्रविशेषस्य प्रवेशमनुजानान इव सूत्रधारः प्रतीहारीपदगर्भमार्योत्तरार्द्धं पूर्वार्द्धोपात्तहंस्युपादानमुखेनाह—

मुदितेति । हंसी अस्मिन् काले चरतीति पूर्वत्र पादेऽभिहितमिदानीं केव कस्मिन्निति वक्तव्यं तदाह—नरेन्द्रभवने दशरथाख्यनरपत्यन्तःपुरे प्रतीहाररक्षी प्रतीहारीद्वाराधिकृतेव। सा कथम्भूतेत्यपेक्षायामाह-मुदिता प्रसन्नान्तरङ्गा,त्वरिता कार्या-

---

सूत्रधार—इस शरत्समय में—

काश के फूलों से धवल प्रकाशवाली, (अथवा अतिस्वच्छ काशकुसुमों से आच्छादित नदी तीर में रहनेवाली) हंसी प्रसन्न-चित्त होकर नदीतट पर इस तरह पदसञ्चार कर रही है·········।

(नेपथ्य में)

आर्य, आर्य,

सूत्रधार—अच्छा समझ गया ।

जिस तरह (काशपुष्प-सदृश श्वेत सूक्ष्मदुकूलवस्त्र पहने) प्रसन्नहृदया द्वारपालिका शीघ्रतापूर्वक महाराज दशरथ के अन्तःपुर में (परिभ्रमण करती है) ॥ २ ॥

(निष्क्रान्तौ)

स्थापना ।

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—आर्य ! क इह काञ्चुकीयानां सन्निहितः ।
अय्य ! को इह कञ्चुईआण सण्णिहिदो ।

विकृतत्वेन सञ्जातत्वरा । किञ्चात्रोपमानभूतप्रतीहार्यामपि काशांशुकवासिनीति विशेषणं काशवदंशुकं वस्ते इति विगृह्य योजनीयम् । काशकुसुमवसनयोश्च सूक्ष्मत्व-धवलत्वादिकृतं सादृश्यम् । अन्यत् स्पष्टम् ।। २ ।।

निष्क्रान्ताविति-कथावस्त्वंशस्य स्थापनात् स्थापना*; प्रस्तावनेति पर्यायेणा-पीयमभिधीयते ।

अय्येति—प्रतीहारी कञ्चुकिनं कञ्चिदाह्वयति, कञ्चुकिनां मध्ये कोऽत्र सन्नि-हितः ? सन्निहितः—समीपस्थितः । यस्तथा तेनागन्तव्यमिति तदाशयः ।

(दोनों का प्रस्थान)

[प्रतीहारी का प्रवेश]

प्रतीहारी—आर्य, कौन कञ्चुकी यहाँ उपस्थित है ?

---

*अत्र गणपतिशास्त्रिणः—

'प्रसाद्य रङ्गं विधिवत् कवेर्नाम च कीर्तयेत् ।
प्रस्तावनां ततः कुर्यात् काव्यप्रख्यापनाश्रयाम् ॥' (नाट्यशा० ६)
'वाञ्छाकलापस्तु कवेरभीष्टार्थप्रकाशनम् ।
स्वाभिधेयगतत्वेन सा द्विधा परिपठ्यते ।
स्वगतं तु स्वगोत्रादिस्वीयकीर्तिप्रशंसनम् ।
अभिधेयगतं यत् तत् काव्यनाम्ना प्रकाशनम् ॥' (भावप्र०)

इत्यादिलक्षणशास्त्रविहिता कविकाव्यकीर्त्तना कालिदासादिनिखिलकविग्रामाचरि-ताऽत्र स्थापनाप्रकरणे कर्त्तव्या सती कस्मान्न कृता ? उच्यते—प्रस्तावनायां कवि-काव्यकीर्त्तनसमुदाचारस्तावदस्य पुराणमहाकवेः काले नावर्त्तत, पश्चात् कालेन कवीनामुपजातं कविकाव्यकीर्त्तनसमुदाचारप्रणयं भूयिष्ठमुपलभ्य तदनुसारिलक्षणं लक्षणकारैः प्रणीतमित्यदोषः । अस्य तु नाटकस्य मातृकाग्रन्थान्तदृष्टपाठानुसारात् प्रतिमानाटकमिति संज्ञा । श्रीरामे वनाय प्रस्थिते दशरथस्य या दशा सा प्रतिमागृहे तत्प्रतिमां दृष्टवता भरतेनावगतेति प्रतिमाप्रधानत्वादस्य तथा व्यपदेशः । एतत्कवेश्च 'भास' इति नामधेयमनुमितम् । यथा च तदनुमितिसिद्धिस्तत् स्वप्नवासवदत्तो-पोद्घाते निरूपितं तत एवावगन्तव्यम् इति ।

(प्रविश्य)

काञ्चुकीयः—भवति ! अयमस्मि । किं क्रियताम् ?

प्रतीहारी—आर्य ! महाराजो देवासुरसङ्ग्रामेष्वप्रतिहतमहारथो
अय्य ! महाराओ देवासुरसंगामेसु अप्पडिहदमहारहो

दशरथ आज्ञापयति—शीघ्रं भर्तृदारकस्य रामस्य राज्यप्रभाव-
दसरहो आणवेदि—सिग्घं भट्टिदारअस्स रामस्स रज्जपहाव-

संयोगकारका अभिषेकसम्भारा आनीयन्तामिति ।
सञ्जोअकारआ अहिसेअसम्भारा आणीअन्तु त्ति ।

काञ्चुकीयः—भवति ! यदाज्ञप्तं महाराजेन, तत् सर्वं सङ्कल्पितम् । पश्य—

किं क्रियताम् इति—अवसरप्राप्तं कार्यमादिश्यतामिति तत्तात्पर्यम् ।

अय्य महाराओ इति—आर्य, इति कञ्चुकिसम्बोधने, महाराजः—दशरथ इति विशेष्यमनतिदूरे देवासुरसंग्रामेषु देवदानवयुद्धेषु अप्रतिहतमनोरथः—अबाधप्रसारः महारथो रथमुख्यो यस्य स तथाभूतो दशरथः आज्ञापयति आदिशति । किमिति जिज्ञासायामाह—शीघ्रमिति । शीघ्रम्-अविलम्बम्, भर्तृदारकस्य—राजकुमारस्य रामस्य राज्यप्रभावसंयोगकारकाः राज्ञः कर्म राज्यं, प्रभावः=कोशदण्डजं तेजः, ताभ्यां संयोगः सम्बन्धस्तस्य कारकाः सम्पादयितारः अभिषेकसम्भाराः=अभिषेकोपकरणानि आनीयन्ताम्=सज्जीक्रियन्ताम् । अस्मिन् आदेशे राज्यप्रभावसंयोगकारिका इत्यंशस्यायमाशयः, इदानीं रामो यौवराज्येऽभिषेक्तव्यः, तस्मिंस्तत्पदमाश्रितवति तस्य राज्यकर्माधिकृतत्वेन स्वत एव राजकार्यभारः समापन्नो भवति, तेन यौवराज्याभिषेक एव राज्यप्रभावसंयोगकारक इति ।

सङ्कल्पितम् इति—सज्जीकृतमित्यर्थः । सज्जीकृतानि यौवराज्याभिषेकोपकरणानि गणयितुं तानि नामग्राहमाह—

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—आर्य, मैं हूँ, आज्ञा दें, क्या कार्य है ?

प्रतीहारी—आर्य, देवासुरयुद्ध में समरविजयी महाराज दशरथ का आदेश है कि शीघ्रातिशीघ्र राजकुमार राम के राजोचितप्रभुत्व के परिचायक राज्याभिषेक की सारी सामग्रियाँ प्रस्तुत की जायँ ।

कञ्चुकी—आर्ये, महाराज की आज्ञा के अनुकूल सब कुछ तैयार है । देखिये-

छत्रं सव्यजनं सनन्दिपटहं भद्रासनं कल्पितं
न्यस्ता हेममयाः सदर्भकुसुमास्तीर्थाम्बुपूर्णा घटाः ।
युक्तः पुष्यरथश्च मन्त्रिसहिताः पौराः समभ्यागताः
सर्वस्यास्य हि मङ्गलं स भगवान् वेद्यां वसिष्ठः स्थितः ॥३॥

प्रतीहारी—यद्येवं, शोभनं कृतम् ।
जइ एव्वं, सोहण किदं ।

छत्रमिति—छत्रं राजधारणीयं श्वेतातपत्रं सव्यजनं बीजनसाधनान्वितं चामरसहितमित्यर्थः । कल्पितमिति शेषः । सनन्दिपटहं—नन्दिरानन्दः तस्य तत्कालोपयुक्तः पटहो—वाद्यविशेषस्तेन सहितं भद्रासनं मङ्गलमयमासनम्, अत्रापि कल्पितमित्यन्वितम् । सदर्भकुसुमाः–दर्भैः कुशैः कुसुमैः पुष्पैश्च सहिताः (तथा) तीर्थस्य गङ्गादितीर्थविशेषस्य तोयं जलं तेन पूर्णाः भृतान्तराः हेममयाः सौवर्णा घटाः कलशाश्च न्यस्ताः समुपस्थापिताः । राजपुत्राणां यौवराज्याभिषेकावसरे तत्त-तीर्थोपहृतानाञ्जलानामुपयोग इति तत्सम्प्रदायसिद्धम् । पुष्यरथः क्रीडाविहारप्रयोजनो रथविशेषश्च युक्तः योजिताश्वः कृतः, मन्त्रिभिस्तत्तत्कार्याधिकृतैः प्रधानराज्य-कर्मचारिभिः सहिताः पौराः पुरवासिनः समभ्यागताः । अभिषेकदर्शनेन निजाक्षीणि सफलयितुमुपस्थिता इति भावः । नैतावद्भिरुपकरणैरेव सर्वं सम्पाद्यमन्तरेण तत्त्वा-वधानदक्षपुरोहितोपस्थितिमित्याशयमन्तर्निधायाह–सर्वस्येति । अस्य पुरोदीरितस्य सर्वस्य वस्तुसमुदायस्य मङ्गलोपकरणत्वेन प्रसिद्धावपि वसिष्ठसन्निधानेनैव तेषां तत्त्वम् इति भावः । अस्य छत्रादेः सर्वस्य मङ्गलोपकरणस्य मङ्गलं कुशलकारणम् भावप्रधाननिर्देशेन कुशलत्वहेतुरित्यर्थः । वसिष्ठः–तदाख्यया प्रसिद्धः ऋषिः वेद्याम् अनुष्ठानस्थाने स्थितः कर्मोपदेष्टृत्वेन वर्त्तमान इति भावः । अत्र काञ्चुकीयोक्तौ साधनसम्पत्तिसमुपस्थितिसूचनेन कार्यावसरः समर्थ्यते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । तल्लक्षणं यथा—'सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति ॥ ३ ॥

जइ इति—भवदुक्तकार्ये कृते पूरिता आवश्यकतेत्यर्थः ।

ये छत्र और चंवर हैं, ये माङ्गलिक बाजे और सिंहासन हैं, यहाँ कुश, पुष्प और मङ्गलप्रद तीर्थजलों से पूर्ण कलश रखे गये हैं, क्रीडारथ जोता खड़ा है, राज मन्त्रियों के साथ सकल पुरजन आ गये हैं, इस समूची आनन्दमयी सृष्टि के प्रवर्तक वे भगवान् वसिष्ठ भी वेदी पर विराजमान हैं ॥ ३ ॥

प्रतीहारी—यदि ऐसी बात है तो अति उत्तम ।

काञ्चुकीयः--हन्त भोः !

इदानीं भूमिपालेन कृतकृत्याः कृताः प्रजाः ।
रामाभिधानं मेदिन्यां शशाङ्कमभिषिञ्चता ॥ ४ ॥

प्रतीहारी—त्वरतां त्वरतामिदानीमार्यः ।
तुरवदु तुरवदु दाणि अय्यो ।

काञ्चुकीयः—भवति ! इदं त्वर्यते । (निष्क्रान्तः)

प्रतीहारी--(परिक्रम्यावलोक्य) आर्य ! सम्भवक ! सम्भवक ! गच्छ,
आय्य ! संभवअ ! संभवअ ! गच्छ,

त्वमपि महाराजवचनेनार्यपुरोहितं यथोपचारेण त्वरय ।
तुवं पि महाराअवअणेण अय्यपुरोहिदं जहोपआरेण तुवरेहि ।

(अन्यतो गत्वा) सारसिके ! सारसिके ! सङ्गीतशालां गत्वा
सारसिए ! सारसिए ! सङ्गीदसालं गच्छिअ

हन्त भोः इति--निपातसमुदयोऽयमानन्दव्यञ्जक इति ।

इदानीमिति—इदानीमधुना रामाभिधानं रामनामकं शशाङ्कं शीतलशीलता-प्रियदर्शनत्वादिना चन्द्रमसं मेदिन्यां पृथिव्यां धराभारधारणे यौवराज्येऽभिषिञ्चता स्थापयता भूमिपालेन राज्ञा दशरथेन प्रजाः अस्मदादयः प्रकृतयः कृतकृत्याः कृतार्थाः कृता विहिताः । रामयौवराज्याभिषेको हि जनतामनोरथसिद्धिरित्यर्थः । अत्राभिषिञ्चतेत्यत्र-वर्तमानसामीप्ये लट् तत्स्थाने शतृ । तेन चानुपदमेव भवन्नभि-षेकः समर्थितः ॥

'तुवरदु' इति--अतः परं करणीयानामनुष्ठाने क्षिप्रताऽऽदिश्यते ।

यथोपचारेण यथोचितसम्मानपूर्वकम् । त्वरय-आगन्तुमनुरुध्यस्व । नाट-

---

कञ्चुकी—अहो ! बड़े हर्ष की बात है—

पृथिवी पर के चन्द्र श्रीराम का राज्याभिषेक करके अब महाराज दशरथ ने सचमुच प्रजा को कृतकृत्य कर दिया है ॥ ४ ॥

प्रतीहारी—आर्य, शीघ्रता कीजिये, शीघ्रता ।

कञ्चुकी—आर्ये, यह शीघ्रता कर रहा हूँ ।

प्रतीहारी—(घूमकर और देखकर) आर्य सम्भवक, सम्भवक, जाओ, तुम भी महाराज के आदेशानुसार मान्य पुरोहित महोदय को यथोचित आदर के साथ शीघ्र बुला लाओ (दूसरी ओर जाकर) ओ सारसिके, सारसिके, संगीतशाला में जाकर अभिनय करनेवालों से कहो कि वे आज एक सामयिक अभिनय दिखाने को तैयार

नाटकीयेभ्यो विज्ञापय—कालसंवादिना नाटकेन सज्जा भवतेति।
नाडईआणं विण्णवेहि—कालसंवादिणा णाडएण सज्जा होह त्ति।
यावदहमपि सर्वं कृतमिति महाराजाय निवेदयामि।
जाव अहं वि सव्वं किदं त्ति महाराअस्य णिवेदेमि।

(निष्क्रान्ता।)

(ततः प्रविशत्यवदातिका वल्कलं गृहीत्वा)

अवदातिका—अहो अत्याहितम्। परिहासेनापीमं वल्कलमुपनयन्त्या
अहो ! अच्चाहिदं। परिहासेण वि इमं वक्कलं उवणअन्तीए
ममैतावद् भयमासीत्, किं पुनर्लोभेन परधनं हरतः। हसितु-
मम एत्तिअं भअं आसीं, किं पुण लोभेण परघणं हरन्तस्स। हसिदुं
मिवेच्छामि। न खल्वेकाकिन्या हसितव्यम्।
विअ इच्छामि। ण खु एआइणीए हसिदव्वं।

कीयेभ्यो नाटकप्रयोगाधिकृतेभ्यः कुशीलवेभ्य इत्यर्थः। अत्र कर्मणि षष्ठी चिन्त्या। सज्जाः-प्रयोगाय कृतसन्नाहाः। निवेदयामि यावत् निवेदयिष्यामि सूचयिष्यामीत्यर्थः। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यति लट्।

अहो-कष्टम्—अत्याहितम् महद्भयमुपस्थितम्। किन्तदिति विवृणोति—'परिहासेण' इति—अन्यदीयाम्-इतरस्वामिकाम्, अल्पमूल्याम्-अनधिकमूल्याम्, वृक्षत्वचं तरुवल्कलं, परिहासेन विनोदपरिहासार्थम्, उपनयन्त्याः-गृह्णन्त्याः अपि मम एतावत् स्वानुभवैकगोचरप्रमाणं भयं साध्वसं जातं प्रादुर्भूतं चेत्, लोभेन परधनं-परकीयां सम्पदं हरतश्चोरयतः कीदृग् भयं जायेतेत्यर्थः। एतेन कैकेयीकर्तृकरामराज्यापहारकथेङ्गितेन सूचिता। हसितव्यमिति स्निग्धजनसंविभक्तं हि सुखमधिकं स्वदत इति द्वितीयान्वेषणौचित्यम्।

रहे, मैं तब तक 'सब कुछ तैयार है' ऐसी सूचना महाराज को देती हूँ।

(प्रस्थान)

(वल्कल लिए अवदातिका का प्रवेश)

अवदातिका—ओह ! बड़ा बुरा हुआ। विनोद में भी इन वल्कलों को उठा लाने से जब मैं इतना डर गयी हूँ, तो बुरी नीयत से परकीय धन को हरने वालों की क्या दशा होती होगी ? हँसने की इच्छा-सी हो रही है, परन्तु एकाकी हंसना तो भला न लगेगा।

(ततः प्रविशति सीता सपरिवारा)

सीता-हञ्जे ! अवदातिका परिशङ्कितवर्णेव दृश्यते । किन्तु खल्विवैतत् ?
हञ्जे ! ओदादिआ परिसङ्किदवण्णा विअ दिस्सइ । किं णु हु विअ एदं ।

चेटी—भट्टिनि ! सुलभापराधः परिजनो नाम । अपराद्धा भविष्यति ।
भट्टिणि ! सुलहावराहो परिअणो णाम । अवरज्झा भविस्सदि ।

सीता—नहि नहि, हसितुमिवेच्छति ।
णहि णहि, असिदुं विअ इच्छदि ।

अवदातिका—(उपसृत्य) जयतु भट्टिनी । भट्टिनि ! न खल्वहमपराद्धा ।
जेदु भट्टिणी । भट्टिणि ! ण खु अहं अवरज्झा ।

सीता—का त्वां पृच्छति । अवदातिके ! किमेतद् वामहस्तपरिगृहीतम् ।
का तुमं पुच्छदि । ओदादिए ! ओदादिए ! किं एदं वामहत्थपरिगहिदं

हञ्जे इति—पराकारपरिचयचतुरा हि सीता तन्मुखदर्शनमात्रेण तदाशङ्का-मनुमायेत्थमाह-हंजे इति । वयोऽवस्थादिना नीचानां चेटीनां सम्बोधनपदम् । तथा चोक्तम्-'हण्डे हंजे हलाह्वाने नीचां चेटीं सखीं प्रति' इति । परिशङ्कितवर्णेव-परिशङ्किताया: मानसिकशङ्काकुलाया: वर्णो लक्षणमाकार इव वर्णो यस्यास्तथा भूतेव ।

अवरज्झा इति—कृतापराधा भविष्यामीति भाव:, एवञ्च कृतापराधस्य शङ्काकुलत्वमतिसम्भावितमिति त्वदूहः समूल इति तदाशय: ।

ण इति—एवमुक्तवत्याश्चेट्या मुखमीक्षित्वा हासलक्षणं च तत्रावेक्ष्य स्वयं पूर्वोक्तिकारणं भ्रमं मार्जयत्यनेन कथनेन सीतेति बोध्यम् ।

का तुमं इति—त्वदपराधविषये न मया सन्दिग्धं न वा तथा जिज्ञासितमपि

[सपरिवार सीता का प्रवेश]

सीता-अरी सखि, अवदातिका की मुखाकृति कुछ भयाकुल-सी दीख रही है, क्या बात है ?

चेटी—महारानी, अनुचरों से कुछ न कुछ अपराध हो ही जाता है । इससे भी कुछ अपराध हो गया होगा ।

सीता—नहीं, नहीं, वह तो हँसना चाह रही है ।

अवदातिका—(पास आकर) जय हो महारानीजी की । महारानी, मुझसे किसी प्रकार का अपराध नहीं हुआ है ।

सीता—तुमसे पूछती कौन है ? अवदातिका, अरी, यह तुम्हारे बायें हाथ में क्या है ?

अवदातिका—भट्टिनि ! इदं वल्कलम् ।
भट्टिण ! इदं वक्कलं ।

सीता—वल्कलं कस्मादानीतम् ।
वल्कलं किस्स आणीदं ।

अवदातिका—शृणोतु भट्टिनी । नेपथ्यपालिन्यार्यरेवा निर्वृत्तरङ्गप्रयो-
सुणादु भट्टिणी । णेवच्छपालिणी अय्यरेवा णिव्वुत्तरङ्गप्पओ-
जनमशोकवृक्षस्यैकं किसलयमस्माभिर्याचितासीत् । न च तया
अणं असोअरुक्खस्स एक्कं किसलअं अम्हेहि जाइदा आसि । ण अ ताए
दत्तम् । ततोऽर्हत्यपराध इतीदं गृहीतम् ।
दिण्णं । तदो अरिहदि अवराहो त्ति इदं गहिदं ।

सीता—पापकं कृतम् । गच्छ, निर्यातय ।
पावअं किदं । गच्छ, णिय्यादेहि ।

अवदातिका—भट्टिनि ! परिहासनिमित्तं खलु मयैतदानीतम् ।
भट्टिणि ! परिहासणिमित्तं खु मए एदं आणीदं ।

अथापि—त्वमित्थमभिदधासीति त्वयि शङ्कायाः सम्भाव्यते समुदय इति ।

नेपथ्यपालनी—रङ्गालङ्काररक्षाधिकृता सा हि पात्रैरुपयुज्य स्थापितानि तैरु-पयोक्ष्यमाणानि वा वस्त्राभरणादीनि तत्रावहिता पालयितुं नियुज्यते । निर्वृत्तरङ्गप्रयोजनम्—अभिनयावसरे कृतोपयोगम् । किसलम्—पल्लवम् । अत्र याचेर्द्विकर्मकतया द्वितीया, द्वितीयं कर्म 'आर्यरेवा' इति । अत्रैव कर्मत्वस्योक्तेः अर्हति—औचित्यमावहति ।

निर्यातय—परावर्त्तय । परकीयवस्तु हि तदननुज्ञया गृह्यमाणं ग्रहीतारं दोषभाजं करोति ।

परिहासनिमित्तम्—परिहासार्थम् ।

अवदातिका—महारानीजी, यह वल्कल है ।

सीता—तू वल्कल कहाँ से उठा लाई ?

अवदातिका—महारानीजी, सुनिये, नेपथ्यरक्षिका आर्या रेवा है, उससे मैंने कहा कि यह अशोकपत्र जो नाटक में उपयुक्त हो चुका है, हमें दे, किन्तु उसने नहीं दिया । इसलिये उसके स्थान से यह वल्कल ही उठा लाई हूँ ।

सीता—यह तो बुरा किया । जा, लौटा दे ।

अवदातिका—महारानी, मैं तो इसे हँसी में ले आई हूँ ।

सीता—उन्मत्तिके ! एवं दोषो वर्धते । गच्छ, निर्यातय, निर्यातय ।
उन्मत्तिए ! एव्वं दोसो वड्ढइ । गच्छ, णिय्यादेहि, णिय्यादेहि ।

अवदातिका—यद् भट्टिन्याज्ञापयति । (प्रस्थातुमिच्छति)
जं भट्टिणी आणवेदि ।

सीता—हला एहि तावत् ।
हला एहि दाव ।

अवदातिका—भट्टिणि ! इयमस्मि ।
भट्टिणि ! इअम्हि ।

सीता—हला ! किन्नु खलु ममापि तावत् शोभते ।
हला ! किणु हु मम वि दाव सोहदि ।

अवदातिका—भट्टिनि ! सर्वशोभनीयं सुरूपं नाम । अलङ्करोतु भट्टिनी ।
भट्टिणि ! सव्वसोहणीअं सुरूवं णाम । अलङ्करोदु भट्टिणी

उन्मत्तिके—उन्मादिनि, भ्रान्तचित्ते परिहासार्थमन्यदीयवस्त्वादानं न साधु तच्च साधु मत्वाऽनुतिष्ठन्ती भ्रान्तमतित्वमात्मनः सूचयतीति यथा सम्बोधिता । परिहासचौर्यमपि लोभमुपचयन् परमार्थचौर्ये प्रवर्त्तकत्वमुपयातीति भावः, निर्यातय—परावर्त्तय, अत्र द्विरुक्तिः सम्भ्रमसूचनार्था, सम्भ्रमश्च तस्य कार्यस्य त्वरयानुष्ठानं व्यञ्जयितुम् ।

मम वि इति—मया धार्यमाणमिदं वल्कलं श्रियमादधाति न वेति तत्प्रश्नाशयः । सव्व इति—सुरूपं सुभगं स्वभावरमणीयं वपुः शरीरं, सर्वशोभनीयम्—सर्वैः सुन्दरताऽऽधानसमर्थैः अतथाविधैर्वा पदार्थैः शोभनीयं शोभयितुमलङ्कर्त्तुं समर्थम् । सुन्दरी आकृतिः केनापि पदार्थेन भूषयितुं सुशकेति तात्पर्यम् । अनुमोदितश्चायमर्थः कालिदासेनापि—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' इति ।

सीता—पगली, इसी प्रकार बुराई बढ़ती है । जा, लौटा दे, लौटा दे ।

अवदातिका—जो आज्ञा । (जाना चाहती है)

सीता—अरी जरा इधर तो आ ।

अवदातिका—महारानी, आई ।

सीता—अरी, क्या यह वल्कल मुझे भी भला लगेगा ?

अवदातिका—महारानीजी, सुन्दर रूप पर सभी चीजें अच्छी लगती हैं । आप पहन कर देखें ।

सीता—आनय तावत्। (गृहीत्वालङ्कृत्य) हला! पश्य, किमिदानीं
आणेहि दाव। हला! पेक्ख, किं दाणि

शोभते?
सोहदि?

अवदातिका—तव खलु शोभते नाम। सौवर्णिकमिव वल्कलं संवृत्तम्।
तव खु सोहदि णाम। सोवण्णिअं विअ वक्कलं संवुत्तम्।

सीता—हञ्जे! त्वं किञ्चिन्न भणसि।
हंजे! तुवं किञ्चि ण भणासि।

चेटी—नास्ति वाचा प्रयोजनम्। इमानि प्रहर्षितानि तनूरुहाणि
णत्थि वाआए पओअणं। इमे पहरिसिदा तणूरुहा

आणेहि दावेत्यादि–इदानीं वल्कलधारणानन्तरम्, शोभते-भासते मम वपुरित्यर्थः। धृतेनानेन वल्कलेन मदीयशरीरकान्तिरधिकीकृता न वेति तदाशयः। अथवा धारितेनानेन वल्कलेन मदीयशरीरमलङ्क्रियते स्वशोभा वा मत्कायसम्पर्कवशादतिशय्यते इति प्रश्नाशयः। अत्रार्थे सीताया रूपगर्वितत्वं प्रतीयते, तद्वर्णनञ्च तादृश्यां नायिकायां नोपयुज्यत इति प्रथमार्थ एवादरः। तस्मिश्चाश्रीयमाणे 'किन्नु खलु ममापि तावच्छोभते' इति पूर्वोक्तेन सम पुनरुक्तिरित्युभयतः पाशारज्जुरियम्।

सौवर्णिकम् इति—सुवर्णनिर्मितमिव। त्वत्कायसम्पर्कमहिम्ना तरुवल्कलमिदं सुवर्णनिर्मितमिवावभासत इत्यर्थः।

'ण भणसि' इति–त्वं किञ्चिन्न भणसि, अत्र प्रसङ्गे तवाभिप्रायो नाभिव्यज्यते, तत्र हेतुं न विद्म इति सीताऽभिप्रायः।

'णत्थि' इति—वाचा प्रयोजनम्—वचनस्यावश्यकता 'निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्' इत्यनुशासनात् निमित्तार्थकप्रयोजनशब्दयोगे वाचेत्यत्र तृतीया। नन्वेवं वाचोऽप्रयोजनत्वेऽनुमापकप्रमाणाभाव इत्यपेक्षायामाह-इमानीति।

सीता—अच्छा ला। (लेकर तथा पहन कर) अरी, देख तो अब अच्छा लगता है?

अवदातिका-आपको तो अच्छा लगता है। यह वल्कल तो अब सुवर्णनिर्मित सा प्रतीत होता है।

सीता–सखि, तुम कुछ नहीं बोलती।

चेटी—वाणी का प्रयोजन नहीं। ये हमारे रोंगटे सब कहे दे रहे हैं।

मन्त्रयन्ते । (पुलकं दर्शयति)
मन्तेन्ति ।

सीता--हञ्जे ! आदर्शं तावदानय ।
हंजे ! आदंसअं दाव आणेहि ।

चेटी---यद् भट्टिन्याज्ञापयति । (निष्क्रम्य प्रविश्य) भट्टिनि ! अयमादर्शः ।
जं भट्टिणी आणवेदि । भट्टिणि ! अजं आदंसओ ।

सीता--(चेटीमुखं विलोक्य) तिष्ठतु तावदादर्शः । त्वं किमपि वक्तुकामेव ।
चिठ्ठदु दाव आदंसओ । तुवं किं वि वत्तुकामो विअ ।

चेटी--भट्टिनि ! एवं मया श्रुतम् । आर्यबालाकिः कञ्चुकी भणति--
भट्टिणि ! एवं मए सुदं । अय्यबालाई कंचुई भणादि--
अभिषेकोऽभिषेक इति ।
अहिसेओ अहिसेओ त्ति ।

सीता--कोऽपि भर्ता राज्ये भविष्यति ।
को वि भट्टा रज्जे भविस्सदि ।

तनूरुहाणि लोमानि प्रहर्षितानि-उद्गतानि । पुलकितानां रोम्णामेव मदन्तर्गतामन्दानन्दाभिव्यंजकत्वशालित्वे तदभिप्राया वागावश्यकतारहितेति भावः । रोमोद्गमो ह्यानन्दप्रभवः, आनन्दश्चात्र वल्कलाहितत्वत्कायशोभातिशयदर्शनजन्मैवेति मम वचनं भूतार्थव्याहृतिमात्रतामुपगच्छेदिति कृत्वैवाहमवचना स्थितास्मीति चेट्याशयः ।

'चिट्ठदु' इति---आनीतस्य दर्पणस्योपयोगस्तावन्मा कारि, किमपि त्वं विवक्षसि, तदाकर्ण्यैव परतः किमपि तदाधारेण निर्धारणीयमिति सीताया आशयः ।

को वि इति---दशरथस्य जीवनदशायामत्र राज्ये कस्यापि परिवर्त्तनस्यानावश्यकत्वेनाशङ्कनीयतया कुत्रापि राज्ये कोऽपि कुमारः अभिषेक्ष्यते तदस्माकमत्र ना-

---

(रोमान्च दिखाती है)

सीता—सखि, जरा शीशा तो ला ।

चेटी—जो आज्ञा । (जाकर तथा आकर) महारानीजी लीजिये यह दर्पण ।

सीता—(सखी के मुँह पर दृष्टि देकर) दर्पण रहने दे । अच्छा पहले यह तो बता—क्या तू कुछ कहना चाहती है ?

चेटी—महारानी, हमने ऐसा सुना है । आर्य बालाकि कञ्चुकी कह रहे थे-राजतिलक है, राजतिलक है ।

सीता—हाँ, होगा किसी का राजतिलक ।

चेटी--भट्टिनि ! प्रियाख्यानिकं प्रियाख्यानिकम् ।
भाट्टिणि ! पिअक्खाणिअं पिअक्खाणिअं ।

सीता--किं किं प्रतीष्य मन्त्रयसे ।
किं किं पडिच्छिअ मन्तेसि ।

चेटी—भर्तृदारकः किलाभिषिच्यते ।
भट्टिदारओ किल अहिसिञ्चीअदि ।

सीता--अपि तातः कुशली ?
अवि तादो कुसली ।

चेटी—महाराजेनैवाभिषिच्यते ।
महाराएण एव्व अहिसिञ्चीअदि ।

सीता--यद्येवं, द्वितीयं मे प्रियं श्रुतम् । विशालतरमुत्सङ्गं कुरु ।
जइ एव्वं, दुदीअं मे पिअं सुदं । विसालदरं उच्छङ्गं करेहि ।

स्येति सीतया औदासीन्याभिव्यंजिका वाचो भङ्गिः ।

प्रियाख्यानिकम् इति--प्रियाख्यानमस्मिन्नस्तीति प्रियाख्यानिकं कर्म शुभ-संवाद इत्यर्थः ।

किम् इति--प्रतीष्य उपलभ्य, किमाधारीकृत्य त्वदीया शुभसंवादश्रावण-प्रवृत्तिरिति भावः ।

भर्तृदारक इति--भर्तुः स्वामिनः दारकः पुत्रः, राजकुमारि इत्यर्थः, तेन चात्र रामो विवक्षितः ।

अवि तादो इति--रामाभिषेकं, पितरि जीवत्यसम्भवं मत्वा तत्कुशलप्रश्नो रामाभिषेकसंवादश्रवणेन दत्तावसर इति बोध्यम् ।

दुदीअं इति--दशरथेन रामो राज्येऽभिषिच्यत इत्यनेन दशरथः कुशली,

[दूसरी चेटी का प्रवेश]

चेटी—महारानीजी, शुभ संवाद है ! शुभ संवाद है !!

सीता—क्या मन में रख कर बोल रही है ?

चेटी—सुना है राजकुमार का अभिषेक हो रहा है ।

सीता—पिताजी सकुशल तो हैं ?

चेटी—महाराज ही तो अभिषेक करा रहे हैं ।

सीता—यदि ऐसी बात है तो मैंने दुहरी खुशखबरी सुनी । अपना अंचल फैला ।

चेटी—भट्टिनि ! तथा। (तथा करोति)

भट्टिणि। तह।

सीता—(आभरणान्यवमुच्य ददाति)

चेटी—भट्टिनि ! पटहशब्द इव।

भट्टिणि ! पटहसद्दो विअ।

सीता—स एव।

सो एव्व।

चेटी—एकपदे अवघट्टिततूष्णीकः पटहशब्दः संवृत्तः।

एक्कपदे ओघट्टिओ तुह्णीओ पटहसद्दो संवुत्तो।

सीता—को नु खलूद्घातोऽभिषेकस्य। अथवा बहुवृत्तान्तानि राजकुलानि नाम।

को णु खु उग्घादो अहिसेअस्य। अहव बहुवुत्तान्ताणि राअउलाणि णाम।

रामस्य चाभिषेक इति द्वयमति शुभम्। मे प्रियम्, मया श्रुतमिति व्याख्येयम्। उत्सङ्गम्, अञ्चलपटम्, विशालतरम्—परिणाहिनम्, शुभसंवादश्रवणावसरलभ्यपारितोषिकग्रहणायाञ्चलप्रसारणं करणीयं शुभद्वयसंवादश्रावणावसरे तु पारितोषिकद्वैगुण्यमुत्प्रेक्ष्य विशालीकरणायादेशः।

सो एव्व इति—पटहशब्द एवेत्यर्थः। अभिषेकमङ्गलाङ्गभूतः पटहप्रणादः श्रूयत इत्याशयः।

एक्कपदे इति—एकपदे-सद्यः अवघट्टिततूष्णीकः—आरब्ध-विरतः पटहशब्दः श्रूयत इति। बहुवृत्तान्तानि—नानाविधकथानि। राजान्तःपुरं हि कतिपयसद्यः परिवर्तनाकर इति भावः।

चेटी—जो आज्ञा। (अंचल फैलाती है)

सीता—(गहने उतार कर देती है)

चेटी—महारानीजी, बाजे की आवाज-सी सुन रही हूँ।

सीता—हाँ, बाजे ही बज रहे हैं।

चेटी—बाजे बजते ही बन्द किये गये।

सीता—अभिषेक में कौन-सा विघ्न आ पड़ा ? अथवा राजकुल की कथा अनन्त होती है।

चेटी—भट्टिनि ! एवं मया श्रुतं—भर्तृदारकमभिषिच्य महाराजो वनं गमिष्यतीति ।

भट्टिणि ! एवं मए सुदं—भट्टिदारअं अहिसिञ्चिअ महाराओ वणं गमिस्सदि त्ति ।

सीता—यद्येवं, न तदभिषेकोदकं, मुखोदकं नाम !

जइ एव्वं, ण सो अहिसेओदओ, मुहोदअं णाम ।

(ततः प्रविशति रामः)

रामः—हन्त भोः !

आरब्धे पटहे स्थिते गुरुजने भद्रासने लङ्घिते
स्कन्धोच्चारणनम्यमानवदनप्रच्योतितोये घटे ।

भट्टिनि ! एवमिति—एवञ्च रामाभिषेकावसरप्रवृत्तस्य पटहप्रणादस्य झटिति विरतौ दशरथवनगमननिश्चयाकर्णनं कारणं कदाचिदुत्प्रेक्ष्येतेति भावः ।

मुखोदकमिति—राजवनगमनश्रवणप्रवृत्तबाष्पप्रक्षालनार्थमुदकमत्र मुखोदकपदेन विवक्षितमित्यर्थः ।

ततः प्रविशति राम इति—निश्चितप्रतिबद्धराज्याभिषेकस्य वनवासाय राज्ञादिष्टस्य च रामस्य प्रवेशमाहानेन ।

हन्त भोः ! इति—हर्षोऽस्य निपातसमुदायस्यार्थः । स च रामस्य पितृनिर्देशपालनावसरलाभजन्योऽत्र ।

आरब्ध इति । पटहे वाद्यभेदे आरब्धे प्रारब्धवादने, गुरुजने वसिष्ठादिगुरुजने स्थिते अभिषेकमंगलावलोकनोत्सुकतया स्थित इत्यर्थः । भद्रासने सिंहासने लङ्घिते आरूढे मयेति शेषः । घटे तीर्थाहृतजलपूर्णकुम्भे स्कन्धोच्चारणनम्यमानवदनप्रच्योतितोये स्कन्धोच्चारणेन शिरसि आवर्जने सुकरतासम्पादनाय स्कन्धोर्ध्व-

---

चेटी—महारानी जी, मैंने ऐसा सुना है—राजकुमार को अभिषिक्त कराके महाराज वन चले जायेंगे ।

सीता—यदि ऐसी बात हुई तब तो वह अभिषेक-जल आँसू धोने का पानी होगा, अभिषेकजल नहीं ।

(राम का प्रवेश)

राम—ओह !

बाजे बजने लग गये, गुरुवर्ग चले आये, मैं सिंहासन पर बैठा दिया गया, मङ्गलमय तीर्थजलों से पूर्ण घटों को उठा-उठाकर उनके द्वारा मैं नहलाया जाने

राज्ञाहूय विसर्जिते मयि जनो धैर्येण मे विस्मितः
स्वः पुत्रः कुरुते पितुर्यदि वचः कस्तत्र भो ! विस्मयः ? ॥५॥

'विश्रम्यतामिदानीं पुत्रे'ति स्वयं राज्ञा विसर्जितस्यापनीतभारोच्छ्वसितमिव मे मनः। दिष्ट्या स एवास्मि रामः, महाराज एव महाराजः। यावदिदानीं मैथिलीं पश्यामि।

अवदातिका--भट्टिनि ! भर्तृदारकः खल्वागच्छति। नापनीतं वल्कलम् ?
भट्टिणि ! भट्टिदारओ खु आगच्छइ। णावणीदं वक्कलं ?

देशनयनेन नम्यमानं नम्रीक्रियमाणं यद्वदनं मुखं गलविवरः तस्मात् प्रच्योतितोये पातोन्मुखसलिले सतीत्यर्थः, मयि मल्लक्षणे जने राज्ञा महाराजेन आहूय विसर्जिते मद्रासनादवतार्यं गच्छेत्यादिष्टे मे मम (अभिषेकार्थमुपस्थापितस्य विना कमपि दोषमेवाकस्मात्तया विसृष्टस्यापीत्यर्थः) धैर्येण पित्रादेशानुष्ठानप्रावीण्यलक्षणेन गाम्भीर्येण जनो विस्मितः आश्चर्याख्यं भावमावहन्। न चैतदुचितं तत्र विस्मयकारणीभूतालौकिककार्याभावात्, तदेवाह--स्व इति। यदि स्वः औरसः पुत्रः पितुर्वचः वचनं कुरुते प्रतिपालयति तत्र पुत्रकर्तृकपित्राज्ञापालने को विस्मयः? न कोपीत्यर्थः तस्य न्यायप्राप्तत्वेन सततमाशास्यमानत्वादिति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥५॥

विश्रम्यतामिति--विरम्यताम्–अभिषेकादिति भावः। विसर्जितस्य विसृष्टस्य स्वच्छन्दीकृतस्येति भावः। अपनीतभारोच्छ्वसितम्–अपनीतो दूरीकृतो यो भारो राज्य रक्षणावेक्षणादिकृतस्तेन उच्छ्वसितम्–साश्वासमिव जातमिति योजनीयम्। भारापहारकारणमाह--राम इत्यादिना। अहं पूर्ववद्राम एव केवलं राम एव, न तु महाराजपदाभिलप्यः, महाराजः शासनाधिकृतः (पूर्ववत्) महाराज एवेति (स्ववनवासभरताभिषेकयाचनास्वरूपमजानतो रामस्येदृगुक्तिः सम्भाविनी)।

नापनीतमिति--सुन्दरतममसृणक्षौमयोग्याया भवत्या वल्कलपरिधानमालोक्य

लगा, इतना हो जाने पर भी राजा ने मुझे बुलाकर विदा दी। इस स्थिति में मेरी दृढ़ता पर लोग आश्चर्यित रह गये। किन्तु अपना पुत्र यदि पिता की आज्ञा पालता है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? ॥ ५ ॥

'पुत्र ? इस समय राज्याभिषेक रहने दो' इस प्रकार खुद महाराज से विदा प्राप्त कर अपने भार को उतरा समझ कर मेरा मन छुटकारे की सांस ले रहा है। परमात्मा ने बड़ी कृपा की, जो मैं वही राम बना रहा और महाराज महाराज ही बने रहे। अच्छा, तबतक चलकर सीता से भेंट करूँ।

अवदातिका—महारानीजी, राजकुमार आ रहे हैं। आपने अभीतक वल्कल

राम:—मैथिलि ! किमास्यते ?

सीता—हम् आर्यपुत्रः । जयत्वार्यपुत्रः ।
हं अय्यउत्तो जेदु अय्यउत्तो ।

राम:—मैथिलि ! आस्यताम् । (उपविशति)

सीता—यद् आर्यपुत्र आज्ञापयति । (उपविशति)
जं अय्यउत्तो आणवेदि ।

अवदातिका—भट्टिनि ! स एव भर्तृदारकस्य वेषः । अलीकमिवैतद् भवेत् ।
भट्टिणि ! सो एव्व भट्टिदारअस्स वेसो । अलिअं विअ एदं भवे ।

सीता—तादृशो जनोऽलीकं न मन्त्रयते । अथवा बहुवृत्तान्तानि राजकुलानि नाम ।
तादिसो जणो अलिअं ण मन्तेदि । अहव बहुवुत्तन्ताणि राअउलाणि णाम ।

राम: कदाचिन्मानमन्यं वा कञ्चन भावमुत्प्रेक्षेत, ततोऽनुचितं स्यादिति तदाशयः ।

आस्यतामिति—आगतमात्रस्य रामस्य 'मैथिलि किमास्यते' इति प्रश्नः पुनश्चात्र 'आस्यताम्' इत्यादेशं विचारयतः 'सीता रामागमने प्रत्युत्थानाय स्वासनं विहाय स्थिते'ति स्पष्टमवभासते, तदयं सीतायाश्चारित्र्यविशेष उपनिबद्धो वेदितव्यः।

अलीकमिति—अलीकम् अनृतम् रामाभिषेकवृत्तमसत्यम्, रामवेषस्यापरिवर्त्तनात् इति तदाशयः ।

तादृश इति—विश्वासपात्रतया राजकुले समाद्रियमाणः ।

नहीं उतारा ?

राम—मैथिली, बैठी क्या हो ?

सीता—ऐं, आर्यपुत्र हैं ? जय हो आर्यपुत्र की ।

राम—मैथिली, बैठो । (बैठते हैं)

सीता—जो आज्ञा । (बैठती है)

अवदातिका—महारानी, राजकुमार का वेश तो अभी भी वही है । वह बात झूठी-सी मालूम पड़ती है ।

सीता—वैसे आदमी झूठी खबर नहीं फैलाते । अथवा राजकुल में बहुत-सी घटनायें होती रहती हैं ।

रामः—मैथिलि ! किमिदं कथ्यते ।

सीता—न खलु किञ्चित् । इयं दारिका भणति—अभिषेकोऽभिषेक इति ।
ण खु किञ्चि । इयं दारिआ भणादि—अहिसेओ अहिसेओ त्ति ।

रामः—अवगच्छामि ते कौतूहलम् । अस्त्यभिषेकः । श्रूयताम् । अद्यास्मि महाराजेनोपाध्यायामात्यप्रकृतिजनसमक्षमेकप्रकारसङ्क्षिप्तं कोसलराज्यं कृत्वा बाल्याभ्यस्तमङ्कमारोप्य मातृगोत्रं स्निग्धमाभाष्य 'पुत्र ! राम ! प्रतिगृह्यतां राज्यम्' इत्युक्तः ।

सीता—तदानीमार्यपुत्रेण किं भणितम् ?
तदाणिं अय्यउत्तेण किं भणिदं ?

रामः—मैथिलि ! त्वं तावत् किं तर्कयसि ?

सीता—तर्कयाम्यार्यपुत्रेणाभणित्वा किञ्चिद् दीर्घं निःश्वस्य महाराजस्य
तक्केमि अय्यउत्तेण अभणिअ किञ्चि दिग्घं णिस्ससिअ महाराअस्स

अवगच्छामीति—कौतूहलम् अभिषेकवृत्तान्तश्रवणोत्कण्ठाम् । उपाध्यायाः वसिष्ठादयो विद्यायशस्विनः, अमात्याः सुमन्त्रादयो मन्त्रिणः, प्रकृतयः-प्रजामुख्याः पौराश्च, तेषां समक्षं तेषु शृण्वत्सु, एकप्रकारसंक्षिप्तम्—एकेन प्रकारेण संक्षिप्तं मेलितम्, सकलार्थक्रोडीकरणेऽपि शब्दलाघवकृत संक्षिप्तत्वमत्र बोध्यम् । कोसलराज्यम्—स्वाधिकारवर्ति समग्रं राज्यम्, न तु कमपि भागमेकम्, मातृगोत्रम्-जननीनाम, आभाष्य उच्चार्य कौसल्यानन्दनेत्यदीर्येति भावः ।

तर्कयसीति—अनासादितराज्यभारो यथेच्छं पितृचरणपरिचर्यामाचरामि तन्मां

राम—मैथिली, यह क्या कहती है ?

सीता—कुछ नहीं । यह लड़की अभिषेक-अभिषेक कह रही थी ।

राम—तुम्हारी उत्सुकता समझता हूँ । हाँ सचमुच आज अभिषेक था । सुनो। आज पिताजी ने आचार्य, मन्त्री, मित्र, पुरोहित, पुरवासीगण—सभी की उपस्थिति में एक प्रकार से छोटा-सा दरबार बुलाकर मुझे बाल्यकाल से परिचित अपने अङ्क में बैठाकर बड़ी ममता से 'कौसल्यानन्दन' नाम से पुचकारकर कहा—बेटा, यह राज्यभार स्वीकार करो ।

सीता—इस पर आपने क्या उत्तर दिया ?

राम—मैथिली, तुम्हीं बताओ, तुम क्या अनुमान करती हो ?

सीता—मेरा तो यही अनुमान है कि उस समय आर्यपुत्र कुछ भी मुँह से कहे

पादमूलयोः पतितमिति ।

पादमूलेसु पडिअं त्ति ।

रामः—सुष्ठु तर्कितम् । अल्पं तुल्यशीलानि द्वन्द्वानि सृज्यन्ते ।

तत्र हि पादयोरस्मि पतितः ।

समं बाष्पेण पतता तस्योपरि ममाप्यधः ।

पितुर्मे क्लेदितौ पादौ ममापि क्लेदितं शिरः ॥ ६ ॥

सीता—ततस्ततः ।

तदो तदो ।

मा ततोऽपसार्य नानाप्रपञ्चचपले प्रकृतिपालने नियोजयेति भावमन्तर्निधाय मूकीभावेनैव रामस्य पितृपादपतनं सीतयोहितम् ।

सुष्ठु इति त्वया तर्कितं तथैव मयाऽऽचरितमिति त्वत्तर्कस्य स्वविषयाविसंवादः सुष्ठुभावः । ईदृशश्च सीतायास्तर्को रामसमानशीलताकृत इति स्वसमानशीलपत्नीलाभप्रमुदितस्य रामस्य सन्तोषनिर्भरेयमुक्तिः—तुल्यशीलानीत्यादि । सौभाग्यादेव तेष्वहमपीति तदाशयः । तुल्यशीलानि—सदृशस्वभावानि, द्वन्द्वानि स्त्रीपुंसमिथुनानि ।

कथाप्रसङ्गेन रामकर्तृकपादपतनावसरे वृत्तमन्यदपि रामः प्राह—**सममिति ।** समम्–तुल्यकालम् उपरि ऊर्ध्वदेशावच्छेदे पतता प्रवहमानेन तस्य मम पितुर्महाराजस्य बाष्पेण वात्सल्यजाश्रुणा मम पादपतितस्य रामस्य शिरः मस्तकं क्लेदितम् आर्द्रतां गमितम् अधः (नम्रीभूततया नीचैः शिरस्कत्वेन) पतता मे मम बाष्पेण भावनिर्गतेन पितुः महाराजस्य पादौ चरणौ क्लेदितौ प्रक्षालितौ । युगपदेवावां तत्कालप्रवृद्धवात्सल्यभावावेशेन गलद्बाष्पनयनौ सजाताविति भावः ॥ ६ ॥

तदो इति—शेषवृत्तान्तश्रवणोत्कण्ठाद्योतनार्था द्विरुक्तिः ।

बिना ही लम्बी साँस लेकर महाराज के चरणों में झुक गये होंगे ।

राम—ठीक समझा । समान शील वाले जोड़े विरले ही हैं । सचमुच वहाँ मैं महाराज के चरणों पर जा गिरा ।

उस समय हमारे और पिताजी—दोनों के नेत्र साश्रु हो गये, उनके अश्रुजल से हमारा शिर और हमारे अश्रुजल से उनके चरणकमल भींग गये ॥ ६ ॥

सीता—तब फिर ?

रामः—ततोऽप्रतिगृह्यमाणेष्वनुनयेषु आपन्नजरादोषैः स्वैः प्राणैरस्मि शापितः।

सीता—ततस्ततः।
तदो तदो।

रामः—ततस्तदानीं,

शत्रुघ्नलक्ष्मणगृहीतघटेऽभिषेके
छत्रे स्वयं नृपतिना रुदता गृहीते।
सम्भ्रान्तया किमपि मन्थरया च कर्णे
राज्ञः शनैरभिहितं च न चास्मि राजा॥ ७॥

तत इति—ततः बाष्पराबिलनयनयोरावयोर्जातयोरनुनयेषु राज्यं ग्राहयितुं महाराजेन विहितेष्वनुरोधेषु मया अप्रतिगृह्यमाणेषु अनभ्युपगम्यमानेषु सत्सु आपन्नजरादोषैः आसादितवार्द्धक्यैः स्वैः प्राणैः शापितः उपालब्धः अस्मि, महाराजेनेति शेषः। यदि जरसाभ्युपेतस्य पितुर्मम प्राणान् रिरक्षिषसि तर्हि राज्यं गृहाणेत्याग्रहीतोऽहं महाराजेनेति भावः।

तदानीमिति—अप्रतिपत्तिमूढतादशायामेवावयोरित्यर्थः।

शत्रुघ्नेति—शत्रुघ्नो लक्ष्मणकनिष्ठः लक्ष्मणश्च ताभ्यां गृहीतः करधृतः घटः तीर्थाहृतजलकलशो यस्य तस्मिंस्तथाभूते (अभिषेके) छत्रे श्वेतातपत्ररूपे राजचिह्ने रुदता आनन्दाश्रुविमुञ्चता नृपतिना स्वयम् आत्मना गृहीते सति, प्रवृत्तेऽभिषेककर्मणि इति भावः। सम्भ्रान्ततया त्वरया समुपसर्पन्त्या मन्थरया तदाख्यया कैकेयीपरिचारिकया राज्ञो महाराजदशरथस्य कर्णे किमपि जनान्तरेणाश्राव्यं यथा भवति तथा शनैरभिहितं निवेदितं च अहं राजा नास्मि न भवामि च। तदभिधानमात्रप्रतिबद्धराजभावोऽभूवमन्यथा सर्वाऽपि मदभिषेकसामग्री प्रस्तुता प्रवृत्तोपयोगा चासीदिति भावः। चकारद्वयेन मन्थरोक्तिमद्राजभावयोः प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकभावः सम्बन्धो व्यक्तमुक्तः। वसन्ततिलका वृत्तम्—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणम्॥ ७॥

राम—इसके बाद जब मैंने प्रत्येक अनुनय को अस्वीकार कर दिया, तब उन्होंने अपने जीर्ण-शीर्ण प्राणों की शपथ दी।

सीता—तब फिर ?

राम—तब—

शत्रुघ्न और लक्ष्मण ने तीर्थजल के घड़े को थामा, रोते हुए महाराज ने स्वतः छत्र संभाला (और इस प्रकार अभिषेक का कार्यारम्भ हुआ)। इतने में ही हाँफती हुई मंथरा ने आकर राजाके कानोंमें धीरेसे कुछ कहा और मैं राजा नहीं हुआ।

सीता—प्रियं मे। महाराज एव महाराजः, आर्यपुत्र एवार्यपुत्रः।
पिअं मे। महाराओ एव्व महाराओ, अय्यउत्तो एव्व अय्यउत्तो।

रामः—मैथिलि! किमर्थं विमुक्तालङ्कारासि?

सीता—न खलु तावदाबध्नामि।
ण खु दाव आबज्झामि।

रामः—न खलु। प्रत्यग्रावतारितैर्भूषणैर्भवितव्यम्। तथा हि—

कर्णौ त्वरापहृतभूषणभुग्नपाशौ
संस्रंसिताभरणगौरतलौ च हस्तौ।
एतानि चाभरणभारनतानि गात्रे
स्थानानि नैव समतामुपयान्ति तावत्॥ ८॥

पिअं मे इति—महाराज एव महाराजः, न तु महाराजत्वादपेत इति, आर्यपुत्र आर्यपुत्र एव, न तु राजत्वसम्बन्धादन्यादृशत्वेन तस्य कियदंशेनापि स्नेहन्यूनीभावाशङ्केति भावः।

विमुक्तालङ्करणा—अवतारिताभरणा।

आबध्नामि—न विमुञ्चामि, सार्वदिको नायमलङ्कारत्यागो मम, किन्तु कियत्कालव्यापीति तदाशयः।

प्रत्यग्रावतारितैः—अचिरपरित्यक्तैः, द्वित्रिक्षणपूर्वमेव भूषणानां परित्यागस्त्वया विहितोऽतः किमपि कारणमत्र स्यादिति रामस्याशयः।

भूषणानामचिरपरित्यक्तत्वसूचकप्रमाणानि प्रतिपादयति- **कर्णौ त्वरेत्यादिना** कर्णौ त्वरापहृतभूषणभुग्नपाशौ त्वरया शीघ्रतया अपहृतभूषणौ अपसारितालङ्कारावत एव भुग्नो वक्रतां गतः पाशः ग्रन्थिसमानो भूषणधारणाधारभागो ययोस्तादृशौ, शीघ्रमपनीतभूषणे श्रवणे तदपगमकृतं भुग्नत्वमधुनाऽप्युन्नीयत इति तदपगमकार्यस्यानतिचिरनिर्वृत्ततां विभावयामः। हस्तौ बाहू च संस्रंसिताभरणगौरतलौ संस्रंसिताभरणौ

सीता—अच्छा हुआ, महाराज, महाराजही रहे औरआर्यपुत्रआर्यपुत्रही रहे।
राम—सीते, गहने क्यों उतार डाले?
सीता—नहीं, नहीं, पहना करती हूँ।
राम—नहीं तो, पहनती तो हो, गहने अभी के उतारे जान पड़ते हैं, क्योंकि—शीघ्रता में आभूषण उतारने के कारण कानों के छेद अभी भी कुछ नीचे की ओर झुके हुए हैं, हस्ताभरण उतारने के कारण दबाव पड़ने से हथेलियों का वर्ण

सीता—पारयत्यार्यपुत्रोऽलीकमपि सत्यमिव मन्त्रयितुम् ।

पारेदि अय्यउत्तो अलिअं पि सच्चं विअ मन्तेदुं ।

रामः—तेन हि अलङ्क्रियताम् । अहमादर्शं धारयिष्ये । (तथा कृत्वा निर्वर्ण्य) तिष्ठ ।

आदर्शे वल्कलानीव किमेते सूर्यरश्मयः ।
हसितेन परिज्ञातं क्रीडेयं नियमस्पृहा ? ॥ ९ ॥

दूरीकृतालङ्करणौ अत एव गौरतलौ कटकादिभूषणस्रंसनसम्भवं बाहुभागगौरत्वगघुनापि विद्यमानं भूषणापगमस्यानतिचिरनिर्वृत्ततां प्रत्याययति । गात्रे वपुषि आभरणभारनतानि भूषणधारणभारनिम्नीभूतानि स्थानानि समताम् आगन्तुकनतत्वपरिहारेण स्वभावावस्थितिं भूषणावतारणोत्तरकालशीघ्रलभ्यां नैव उपयान्ति नैव प्राप्नुवन्ति, त्वं भूषणानि नातिपूर्वमपसारितवत्यसि यतस्तव भूषणभारनम्रीभूततत्स्थानसमताप्राप्तिपर्याप्तोऽपि कालो न व्यतीत इति स्वभावोक्तिः । पूर्वोक्तमेव । वृत्तम् ॥ ८ ॥

पारेदि इति—आर्यपुत्रोऽसत्यमपि वस्तु सत्यमिव वर्णयितुं शक्तः, सत्यभूतस्य वस्तुनो यथावद् वर्णनं तु तवातीव सुखेन साध्यमिति सीताया आशयः ।

तिष्ठ—आदर्शाभिमुखी सती निश्चला तिष्ठेति भावः ।

आदर्शे इति । आदर्शे दर्पणे वल्कलानीव वल्कलानि त्वया धृतानीव प्रतिभावन्त इत्यर्थः, प्रतिभानसाम्यादाशङ्कते—एते सूर्यरश्मयः भास्करकिरणानि किम् ? विशेषदर्शनेन निर्णयमधिगम्याह—तव हसितेन हासेन परिज्ञातम् अवगतम्, सूर्यरश्मितया सन्दिह्यमानं वस्तु वल्कलत्वेन निश्चितमित्यर्थः । वल्कलनिर्णयेनैव पृच्छति—क्रीडेयं नियमस्पृहेति । इयं प्रत्यक्षदृश्या तव नियमस्पृहा नियमिजनधार्यवल्कलधारणाभिलाषः तव क्रीडा अथवा वास्तविकनियमस्पृहेति प्रश्नकाकुः ॥ ९ ॥

अभी भी पूर्वानुरूप नहीं हो पाया है और आभूषण के भार से अवनत तुम्हारे अवयव अभी तक स्वाभाविक दशा को नहीं प्राप्त कर सके हैं ॥ ८ ॥

सीता—आप असत्य को सत्य साबित कर सकते हैं ।

राम—जाने दो, तुम गहने पहनो, मैं दर्पण दिखाता हूँ (दर्पण हाथ में लेकर) ठहरो ।

दर्पण में यह कुछ वल्कल-सा मालूम पड़ता है । कहीं ये सूर्य की किरणें तो नहीं हैं । अच्छा, तुम्हारी हँसी ने सारा रहस्य बता दिया । ठीक-ठीक कहो, तपस्विजनोचित यह वल्कल क्या तुमने केवल हँसी-खेल में पहने हैं, अथवा साधना करने का ही विचार है ? ॥ ९ ॥

अवदातिके ! किमेतत् ?

अवदातिका—भर्तः ! 'किन्नु खलु शोभते न शोभते' इति कौतूहलेना-

भट्टा ! किण्णु हु सोहदि ण सोहदि त्ति कोदहलेण

वद्धानि ।

आवज्झा ।

रामः—मैथिलि ! किमिदम् ? इक्ष्वाकूणां वृद्धालङ्कारस्त्वया धार्यते ।

अस्त्यस्माकं प्रीतिः । आनय ।

सीता—मा खलु मा खल्वार्यपुत्रोऽमङ्गलं भणतु ।

मा खु मा खु अय्यउत्तो अमङ्गलं भणादु ।

सीतामुदासीनवदासीनमनुत्तरयन्तीमालोक्य तत्सखीमवदातिकामनुयुङ्क्ते—किमेतदिति । एतत्सीताकर्तृकवल्कलधारणं किम् किंहेतुकमिति प्रश्नः ।

भर्त्तः इति—नेयं सीताया नियमस्पृहा, किन्तु शोभते न वा शोभते इति परीक्षामात्रप्रयोजनेयं वल्कलधारणेति तदाशयः ।

किमिदमिति त्वया क्रियमाणमिदं वल्कलधारणमयुक्तमित्यर्थः । अयुक्तत्वे कारणमाह—इक्ष्वाकूणामिति । इक्ष्वाकूणामिक्ष्वाकुवंश्यानां वृद्धालङ्कारो वार्धक्यधार्योऽलङ्कारो वल्कलं त्वया धार्यते, इक्ष्वाकवो हि वृद्धाः सन्तः पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीका वानप्रस्थे कृतमतयो वल्कलं परिणह्यन्ति । इक्ष्वाकुपदं रामवंशे पुरा प्रादुर्भूतस्य राज्ञो वाचकम्, तत्संबन्धादेव तद्वंशवाचि, तथा च प्रयुक्तं कालिदासेन—'इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वाम्' इति, अन्यत्रापि—'पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैर्यद्वृद्धेक्ष्वाकुभिः कृतम्' इति । प्रीतिः वल्कलधारणाभिलाषः, आनय वल्कलं मह्यं देहीत्यर्थः ।

'मा खलु' इति—भवत्कृतो वल्कलनयनानुरोधो नितरामयुक्तः अमङ्गलापहतत्वादिति सीताऽऽशयः ।

अवदातिके, क्या बात है ?

अवदातिका—'भले लगते हैं या नहीं ?' यही देखने के लिये केवल विनोद में यह वल्कल पहना गया है ।

राम—मैथिलि, क्या बात है ? तुम इक्ष्वाकुओं के वृद्धावस्था के अलङ्कार वल्कल इसी उम्र में पहने हुई हो । मैं भी पहनना चाहता हूँ । लाओ तो ।

सीता—नहीं, आप ऐसा अमङ्गल मुँह से न निकालें ।

रामः--मैथिलि ! किमर्थं वारयसि ?

सीता—उज्झिताभिषेकस्यार्यपुत्रस्यामङ्गलमिव मे प्रतिभाति !

उज्झिदाहिसेअस्स अय्यउत्तस्स अमङ्गलं विअ मे पडिहादि ।

रामः--मा स्वयं मन्युमुत्पाद्य परिहासे विशेषतः ।
शरीरार्धेन मे पूर्वमाबद्धा हि यदा त्वया ॥ १० ॥

(नेपथ्ये)

हा हा महाराजः ।

वारयसि वल्कलानयनप्रार्थनां प्रतिषेधसि ।

उज्झितराज्याभिषेकस्य—परित्यक्त राज्याभिषेकस्य। अयमाशयः—आरब्धाभिषेकपरित्याग एव तावदेकममङ्गलं, वनवासिजनोपयुक्तं वल्कलयाचनमिदं क्रियमाणं 'वनवासपरिक्लेशोऽपि ते भावी'ति सूचयदिव मे द्वितीयामङ्गलभावेन भासत इत्यर्थः।

मा स्वयमिति--मम परिहासे त्वदुपभुक्तवल्कलयाचनात्मके विशेषतो विशेषेण स्वयम् आत्मनैव मन्युं दुःखं मा उत्पाद्य अलं विधाय। विनोदवचसि मया भवत्या परिहितस्य वल्कलस्य याचने विधीययाने ततो भाविनोऽमङ्गलस्याशङ्कया मा व्यथिष्ठा इत्यर्थः। खेदाभावे कारणमुपन्यस्यति--शरीरार्द्धेनेति। यदा त्वया मे मम रामस्य शरीरार्धेन देहार्धभागभूतेन जायालक्षणेन अर्धाङ्गेनेत्यर्थः, पूर्वं मद्याचनावसरतः प्रागेवं वल्कला आबद्धाः शरीरशोभार्थमुपयुक्ताः। 'अर्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नी' इति हि श्रूयते। त्वं च वल्कलं वसाना सती ममापि वल्कलवसनत्वं विहितवत्येवासि, तदधुना मया धृतेऽपि वल्कले न किमपि हीयते इति वृथैव ते खेद इति भावः। अत्र 'मा उत्पाद्ये'ति क्त्वा चिन्त्यः॥ १० ॥

हा हा इति--हा इति खेदे। सम्भ्रमे द्विरुक्तिः। हा महाराजः खेदविषयो दशरथः, शोच्यां दशामनुप्रपन्न इति यावत्।

राम—मैथिलि, किस लिये रोक रही हो ?

सीता—अभी-अभी आपका अभिषेक होते-होते रुक गया है। इससे आपका वल्कलधारण मुझे अमङ्गल-सा लगता है।

राम—खुद अमङ्गलकीआशङ्का मतकरो, विशेषतः विनोदमें। जब मेरी अर्धाङ्गिनी होकरतुमने पहलेही वल्कलपहनलिये, तो समझो मैंनेभी पहन लिये॥१०॥

(नेपथ्य में)

हाय ! हाय ! महाराज !!!

सीता—आर्यपुत्र ! किमेतत् ?
अय्यउत ! किं एदं ?

रामः—(आकर्ण्य)

नारीणां पुरुषाणां च निर्मर्यादो यदा ध्वनिः ।
सुव्यक्तं प्रभवामीति मूले दैवेन ताडितम् ॥ ११ ॥

तूर्णं ज्ञायतां शब्दः ।

(प्रविश्य)

काञ्चुकीयः—परित्रायतां परित्रायतां कुमारः ।

रामः—आर्य ! कः परित्रातव्यः ?

काञ्चुकीयः—महाराजः ।

किमेतदिति—किमिदं महाराजशोकसूचकसमये समापतितमिति सीतायाः व्याकुलोक्तिः ।

नारीणामिति—यदा नारीणां वनितानां पुरुषाणां च निर्मर्यादः सीमानमतिक्रान्तः ध्वनिः खेदप्रकाशकः समयः शब्दः, (तदा) सुव्यक्तं सुखानुमेयं कारणमस्य कलकलस्येति भावः । सुखानुमेयं कारणमेवोपन्यसितुमाह—प्रभवामीति । दैवेन भागधेयेन प्रभवामीति—'सर्वसामर्थ्यशाली मत्प्रभावः' इति द्योतयितुं मूले प्रधानस्थाने महाराजरूपे ताडितं प्रहृतम्, न तु शाखायां स्कन्धे वा कृतः प्रहार इति । दैवी ह्यपुरुषिकामात्रकृता प्रधानभूतमहाराजविपत्तिरियं न कारणान्तरजनितेति तदाशयः । एतेन महाराजविपत्तिसम्भावनया रामस्य खेदः प्रकटीकृतः ॥ ११ ॥

महाराजः दशरथः परित्रातव्य इति शेषः ।

सीता—आर्यपुत्र, यह क्या हुआ ?

राम—(सुनकर) जो यह नर नारियों का जोरों से कोलाहल सुनाई पड़ रहा है, इससे ज्ञात होता है कि काल ने अपनी सर्वसामर्थ्यशालिता के बल पर मूल में प्रहार किया है ॥ ११ ॥

शीघ्र कोलाहल के कारण का पता लगाओ ।

(प्रवेश कर)

कञ्चुकी—कुमार, रक्षा करें ।

राम—किसकी रक्षा ?

कञ्चुकी—महाराज की ।

रामः---महाराज इति । आर्य ! ननु वक्तव्यम् एकशरीरसंक्षिप्ता पृथिवी रक्षितव्येति । अथ कुत उत्पन्नोऽयं दोषः ।

काञ्चुकीयः---स्वजनात् ।

रामः---स्वजनादिति । हन्त ! नास्ति प्रतिकारः ।

शरीरेऽरिः प्रहरति हृदये स्वजनस्तथा ।
कस्य स्वजनशब्दो मे लज्जामुत्पादयिष्यति ? ॥ १२ ॥

नन्विति---महाराजः परित्रातव्य इत्यभिधानेन महाराजस्य विपद्ग्रस्ततानुमीयते, तथा च सकलाया धरण्या रक्षणाय क्षममाणस्य महाराजस्य विपद्ग्रस्तत्वे तत्परिपालितायाः पृथिव्या अपि विपदुपनिपातकृताऽव्यवस्थाग्रासत्वे तत्पालनायापि प्रयत्नः करणीय इति रामस्याशयः । एकशरीरसंक्षिप्ता-एकस्मिन् शरीरे महाराजरूपे संक्षिप्ता तत्पाल्यतया तदन्तर्भूतत्वेन स्थिता पृथिवी धरणी भूमिः रक्षितव्येति । अयं दोषः महाराजस्य विपत्प्राप्तिरूपो दोषः ।

स्वजनात्---आत्मीयात् , परिजनात् इत्यर्थः । आत्मीयजनेनैव जनितोऽयं दोष इत्यर्थः ।

स्वजनादितीति---आत्मीयजनाचरिते दोषे कोऽपि प्रतिकारो नास्ति, परेणापकृते तन्मारणेन तद्वारणेन वा प्रतिक्रियते, स्वजने तु न तेऽभ्युपायाः तेषां दमने आत्मीयदमनेन पुनः खेदावसरोपनिपातात् ।

शरीरे इति---अरिः शत्रुः शरीरे काये प्रहरति ताडयति, स्वजनः हृदये अन्तर्मर्मणि प्रहरति इति । शरीरप्रहाराच्च हृदयप्रहारो दुःसहतर इति हार्दिकमात्मीयकृतमाघातं सोढुमक्षमस्य महाराजदशरथस्य विपत्प्राप्तिरतीव सम्भाविनीति भावः। येन महाराजस्येयं विपत्प्राप्तिरुपपादिता, कतमोऽसौ परिजनः ? तं परिजनेषु गणयितुं बाध्यस्य मम लज्जावनतं शिरो भवेत् , जघन्यकार्यविधानदुर्ललितस्य सम्पर्को हि साधुजनं ह्रपयतीति भावनयेत्यमुक्तिः । स्वजनशब्दाभिधेयेषु बहुषु कतमोऽसौ यस्य

राम—महाराज की ? तब यही न कहिये कि एक शरीर में संक्षेप में वर्त्तमान समूची पृथ्वी का पालन करना है । अच्छा, यह विपत्ति कहाँ से फट पड़ी ?

कञ्चुकी—आत्मीय जन से ही ।

राम—क्या आत्मीय जन से? तब तो इसका प्रतीकार भी नहीं किया जासकता। बाहरी शत्रु केवल देह पर आघात करता है, किन्तु स्वजन मर्मस्थान पर ही आघात करते हैं । न जाने इस विपत्तिमें कौन स्वजन निमित्त हुए हैं? जिनकी याद

काञ्चुकीयः--तत्रभवत्याः कैकेय्याः ।

रामः--किमम्बायाः ? तेन हि उदर्केण गुणेनात्र भवितव्यम् ।

काञ्चुकीयः--कथमिव ?

रामः--श्रूयताम्,

यस्याः शक्रसमो भर्ता मया पुत्रवती च या ।
फले कस्मिन् स्पृहा तस्या येनाकार्यं करिष्यति ॥१३॥

'स्वजनः' इत्ययं शब्दो मम लज्जां ह्रियम् उत्पादयिष्यति ॥ १२ ॥

किमम्बाया इति--किमत्र स्वजनशब्दः अम्बां मातरं कैकेयीं विषयीकरोति ? इति प्रश्नाशयः । यद्येवं तर्हि नासौ दोषः तस्याः, एतादृशाचरणप्रवृत्तेरलीकत्वात् । केनापि कारणविशेषेण तथाऽनुष्ठानेऽपि संप्रति दोषत्वेन प्रतीयमानस्यास्य विपदुपनिपातस्य परिणामसुखप्रदत्वादिति तात्पर्यम् । उदर्केण उत्तरफलेन, गुणेन हितकरेण ।

कथमिति--सम्प्रति स्वतत्वेन, प्रतीतस्य कालान्तरेऽपि यथा बिना कमपि यत्नं तथा भावेनैवोपलब्धेराशा, तथाऽम्बया विहितस्य दोषस्यापि सदा दोषत्वमेव लभ्यं न गुणत्वमिति त्वयोच्यमानमुदर्के गुणत्वं केन प्रकारेण शक्योपपादनमिति पृच्छति 'कथमिति' ।

पूर्वोक्तां शङ्कां परिहरति--श्रूयतामिति । यथोक्तौ कारणमाकर्ण्यतामिति भावः । यस्या इति--यस्याः कैकेय्या भर्त्ता स्वामी शक्रसमः इन्द्रतुल्यः, परमैश्वर्यशालित्वेन मानुषसामर्थ्यासाध्यमपि साधयितुमलमित्यर्थः न केवलमेतावदेव, किन्तु सा सुपुत्रापि, तदाह--या च मया पुत्रवती सेत्यर्थः । मया पुत्रवतीत्यत्र 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति वार्त्तिकेनाभेदे तृतीया धान्येन धनवानित्यत्र यथा । तस्याः इन्द्रसमस्वामिना सनाथायाः मया च पुत्रवत्याः कस्मिन् फले स्पृहा अभिलाषः, येन लब्धुमिष्यमाणेन फलेन हेतुभूतेन अकार्यम्--दशरथव्यसनापादनरूपम्

मेरे लिये लज्जाकर होगी ॥ १२ ॥

कञ्चुकी—महारानी कैकेयी की ।

राम—क्या क्या ? मेरी माताजी की । तब तो अवश्य ही इसका परिणाम भला होगा ।

राम—सुनिये—

जिसके पतिदेव इन्द्र के समान हों और मैं जिसका पुत्र होऊँ, भला उसे क्या

काञ्चुकीयः—कुमार ! अलमुपहतासु स्त्रीबुद्धिषु स्वमार्जवमुपनिक्षेप्तुम् । तस्या एव खलु वचनाद् भवदभिषेको निवृत्तः ।

रामः—आर्य ! गुणाः खल्वत्र ।

काञ्चुकीयः—कथमिव ?

रामः—श्रूयताम् ,

वनगमननिवृत्तिः पार्थिवस्यैवताव-
न्मम पितृपरवत्ता बालभावः स एव ।

अकर्त्तव्यं करिष्यति विधास्यति । तदेव तु फलं न विभावयामि, यद्राजाऽहं वा तदनुरोधेन साधयितुं न क्षमेय, चात्र केनापि महता कारणेन भवितव्यमिति भावः । तथा चास्य दोषस्य परिणामे गुणत्वं पूर्वोक्तं पुष्यति ॥ १३ ॥

उपेति—उपहतासु नष्टासु स्वभावकुटिलासु इत्यर्थः, स्त्रीबुद्धिषु वनिताजनमतिषु स्वबुद्धिगतं निजमतिसम्बन्धि, उपनिक्षेप्तुम् आरोपयितुम्, अलं नोपयुज्यत इत्यर्थः । यथा तव मतिरतिसरला तथा स्त्रीबुद्धिरपि मा मंस्था इत्याशयः । कैकेयीबुद्धेः कुटिलत्वं निर्धारयितुमाह—तस्या एवेति । एतेन च स्त्रीसामान्यबुद्धेरसरलता प्रतिज्ञा स्थापिता । अत्रोपनिक्षेप्तुमलम्, इत्यत्र तुमुन्प्रत्ययोपपत्तिरपाणिनीया, एतादृशस्थले क्त्वाप्रत्ययस्यौचित्यात् 'अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इत्यनुशासनादिति ।

गुणान् गणयति—वनगमनेति । तावत् प्रथमं पार्थिवस्य महाराजस्य एव वनगमनात् मद्राज्याभिषेकात् परतः कर्त्तव्यत्वेनापतितात् अध्यवसितादित्यर्थः, निवृत्तिरित्येको गुणः, मम रामस्य पितृपरवत्ता पितृपारतन्त्र्यलक्षणमस्वास्थ्यं सर्वथाऽभिलषितमिति स एव चरानुवृत्तः बालभावः शिशुभाव इति चेति द्वितीयतृतीयौ द्वौ गुणौ । प्रजानां नवनृपतिविमर्शे नूतनराजकर्तृके राज्यभारनिर्वहणे विषये शङ्काविचिकित्सा नास्तीति च चतुर्थो गुणः । अथ च किञ्च मे मम भ्रातरो भरतादयः

कामना हो सकती है ? जिसके लिये वे ऐसा बुरा कार्य करेंगी ॥ १३ ॥

कञ्चुकी—कुमार, स्वभावतः मारी गई नारीबुद्धि पर अपने सीधेपन का आरोप न करें । उसीके रोकने से तो आपका अभिषेक होते-होते रुक गया ।

राम—आर्य, इसमें अवश्य बहुत-सी भलाइयाँ हैं ।

कञ्चुकी—सो कैसे ?

महाराजका बन आना रुक गया, मैं पिता की छत्र-छाया में बाल की तरह र

नवनृपतिविमर्शे नास्ति शङ्का प्रजाना-
मथ च न परिभोगैर्वञ्चिता भ्रातरो मे ॥ १४ ॥

काञ्चुकीयः—अथ च तयाऽनाहूतोपसृतया भरतोऽभिषिच्यतां राज्य इत्युक्तम्। अत्राप्यलोभः?

रामः—आर्य ! भवान् खल्वस्मत्पक्षपातादेव नार्थमवेक्षते । कुतः,

परिभोगैः राजकुमारतादशालभ्यैर्भोग्यानुभवैः वञ्चिता रहिता न भवन्तीति पञ्चमो गुणः । अयमाशयः—राज्याभिषेके प्रतिबध्यमाने आपाततोऽध्यवसितविधातलक्षणो दोषोऽवसीयते, परं यद्यहं राजा न क्रियेय, महाराज एव यथापूर्वं राज्यधुरां दधीत, अस्यामवस्थायां पञ्च गुणाः–राजा वनगमनक्लेशान्निवारितो भवति इत्येकः, मम पितृपादकल्पतरुच्छायावाससुखसौलभ्यमिति द्वितीयः, राज्यभारानधिगत्या यथासुखस्थितिस्वास्थ्यावाप्तिश्च ममेति तृतीयः, प्रजानां नवनिर्वाचितोऽयं राजाऽसाधु साधु वा स्वं कर्त्तव्यं पालयेदिति कातरभावेन चिन्तनान्मुक्तिरिति चतुर्थः, पितृपादेषु शासनाधिकृतेषु तत्पुत्रतया समेऽपि राजकुमारा असाधारणसुखभाजः, भ्रातरि मयि तथाभूतं तु स्वभागमात्राधिकारशालिनस्ते स्युरिति पञ्चमो गुणः । तदेवं मध्यमाम्बाऽध्यवसायो गुणगुम्फित इति । गणपतिशास्त्रिणस्तु चरमचरणस्य 'भ्रातरो भरतादयः परिभागैर्महाजभावमात्रलभ्यैर्भोग्यानुभवैः वञ्चिता अकृतसंविभागा न भवन्तीति । मे मया तृतीयार्थेऽव्ययमिदम्' इत्यर्थमाहुः । मालिनीवृत्तम्–'ननमयययुत्तेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणम् ॥ १४ ॥

न केवलमेतावदेव तयोपद्रुतं, यत्त्वं राज्यान्निवर्त्तितः, इत्थं हि सति कदाचित्त्वदुक्तदिशा तदलोभताऽपि समर्थिता सति चेतसि पदमादध्यात्, किन्तु लोभाकृष्टचेतस्कतया भरताभिषेकमपि याचितो महाराज इत्याह—अथ चेति ।

अस्मत्पक्षपातात् अस्मासु स्नेहातिशयात् । अर्थं वस्तुतत्त्वं, नावेक्षते न गणयति स्वोक्तार्थेऽश्रद्दधानस्य काञ्चुकीयस्य रामपक्षपातादेव वस्तुतत्त्वानवबोधो रामाशयः।

गया, प्रजाओंका 'नया राजा कैसा होगा ? इस आशङ्का से पिण्ड छूटा और मेरे भाई भी राज्यसुखोपभोग से वञ्चित नहीं हुए ॥ १४ ॥

कञ्चुकी—इस पर भी उसने विना बुलाए ही महाराज के पास जाकर 'भरत को राजतिलक हो, ऐसा कहा, क्या इसमें भी उसका लोभ नहीं झलकता ?

राम—आर्य, हमारी ओर अधिक झुकाव होने के कारण आप वास्तविकता की ओर नहीं देखते । क्योंकि,

शुल्के विपणितं राज्यं पुत्रार्थे यदि याच्यते।
तस्य लोभोऽत्र नास्माकं भ्रातृराज्यापहारिणाम् ॥ १५ ॥

काञ्चुकीयः—अथ।

रामः—अतः परं न मातुः परिवादं श्रोतुमिच्छामि। महाराजस्य वृत्तान्तस्तावदभिधीयताम्।

काञ्चुकीयः—ततस्तदानीम्,

शोकादवचनाद् राज्ञा हस्तेनैव विसर्जितः।

कैकेय्या अलोभतामेव समर्थयति—शुल्के इति। शुल्के विवाहसमये कन्यादेये विपणितं विशेषेण पणीकृत सम्भावितं राज्यं पुत्रार्थे यस्याः पाणिग्रहणावसर एव 'योऽस्याः पुत्रो भवेत् स एव राज्यमधिकुर्यादि' ति पणः कृतस्तदौरसपुत्रकृते यदि राज्यं याच्यते प्रार्थ्यते, अत्र पूर्वपणीकृतराज्ययाचने तस्या मध्यमाम्बाया लोभः अविवेककारित्वम्, भ्रातृराज्यापहारिणां भ्रातुर्भरतस्य राज्यं पित्रा पणीकृत्य दातुं प्रतिज्ञात ततश्चैव स्वभूतं हर्त्तुं स्वायत्तीकर्त्तुं शीलं येषां तेषां परराज्यगृध्नूनां नः अस्माकं लोभो न समर्थ्यते प्रतिपाद्यत इति आर्यस्य पक्षपातमेवास्मासु विजृम्भमाणमुत्प्रेक्षामहे कारणमिति भावः ॥ १५ ॥

कैकेय्या दोषान्तरमभिधातुमुपक्रमते—अथेति।

अतः परमिति—दोषान्तराभिधानाय यतमानं काञ्चुकीयं निवारयितुमिच्छामि न श्रोतुमिच्छामीति। गुरुजनपरिवादश्रवणस्याधर्मजनकत्वस्य स्मृत्युक्तत्वादिति।

तत इति—ततो भरताभिषेकप्रार्थनानन्तरम्, तदानीम् इत्युत्तरान्वयि।

शोकादिति—राज्ञा महाराजदशरथेन शोकात् कैकेयीयाचनजनिताद् विषादात् अवचनात् वचनं विनैव किमप्यनुक्त्वैवेत्यर्थः। तत्र कारणं च शोकाभिभूतत्वम्।

विवाहावसर में प्रतिज्ञात राज्य यदि पुत्र के लिये माँगा जाता है तो इसमें उसका लोभ है, और भाई के राज्याधिकार के हरण करने वाले हम लोगों की निर्लोभता ही रही ॥ १५ ॥

कन्चुकी—और—

राम—इससे अधिक और माँ की निन्दा नहीं सुनना चाहता हूँ। पहले महाराज का समाचार बताइए।

कन्चुकी—तब उसी समय—

शोक के कारण महाराज ने मौन हो हाथ के इशारे से ही मुझे कैकेयीके विचार

किमप्यभिमतं मन्ये मोहं च नृपतिर्गतः ।। १६ ।।

रामः—कथं मोहमुपगतः ?

(नेपथ्ये)

कथं कथं मोहमुपगत इति ?

यदि न सहसे राज्ञो मोहं धनुः स्पृश मा दया

रामः—(आकर्ण्य पुरतो विलोक्य)

अक्षोभ्यः क्षोभितः केन लक्ष्मणो धैर्यसागरः ।

हस्तेन गद्गदकण्ठतया विसंज्ञप्रायतया च करचेष्टयैव (अहम्) विसर्जितः, गच्छ कैकेयीचरितं रामभद्राय आख्याहीति गन्तुमनुज्ञातः । न केवलं वाक्शक्तिविरह एव राज्ञः, किन्तु सर्वेन्द्रियलोपप्रभुर्मोहोऽपीत्याह— **किमपीति** । नृपतिः महाराजः किमप्यभिमतम् अमोहदशाया अपेक्षया किञ्चिदिष्टत्वेन मन्यमानं मोहं सर्वेन्द्रियसंज्ञालोपं च गतः । अयमर्थः—एतादृशाप्रियोपनिपाते ससंज्ञस्य हृदयं शतधा दीर्येत, विसंज्ञभावेन स्थितस्य तु न तदवसर इति ज्ञानावस्थापेक्षया मोहावस्थाया मनागिष्टत्वमवसेयम्, तथा च प्रयुक्तं कालिदासेन—'सा मुक्तसंज्ञा न विवेद दुःखं प्रत्यागतासुः समतप्यतान्तः । तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धो मोहादभूत् कष्टतरः प्रबोधः' इति ।।

कथमिति—कथं मोहमुपगतः केन कारणेन विसंज्ञोऽभवत् । मदभिषेकप्रतिघातस्य तं मोहयितुमसामर्थ्यात्, 'न हि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया' इति न्यायात् । अतिधीरत्वाभिमानकृतेत्थमुक्तिः ।

अक्षोभ्य इति—धैर्यसागरः गाम्भीर्यपयोनिधिः (कोपयितुमशक्यः) लक्ष्मणः सौमित्रिः केन कारणीभूतेन वस्तुना जनेन वा क्षोभितः रोषमुपगमितः । येन लक्ष्मणेन रुष्टेन कुपितेन तिष्ठता अग्रतः पुरःप्रदेशम्, शताकीर्णम्; जनशतपरीतमिव

से आपको अवगत कराने के लिये भेजा और स्वयं मूर्छित हो गये । इस दारुण दुःख की अवस्था में होश से रहने की अपेक्षा मूर्छित हो जाना ही उन्होंने भला समझा।।

सीता—क्यों मूर्छित हो गये ?

(नेपथ्य में)

यह क्यों—क्यों मूर्छित हो गये ?

यदि राजा की मूर्छितावस्था असह्य है तो धनुष धारण कीजिये, दया का समय नहीं है ।

राम—(सुनकर और सामने देखकर) अतिप्रशान्त धैर्यसागर इस लक्ष्मण को

येन रुष्टेन पश्यामि शताकीर्णमिवाग्रतः ॥ १७ ॥

(ततः प्रविशति धनुर्बाणपाणिर्लक्ष्मणः)

लक्ष्मणः—(सक्रोधम्) **कथं कथं मोहमुपगत इति ।**

यदि न सहसे राज्ञो मोहं धनुः स्पृश मा दया
स्वजननिभृतः सर्वोऽप्येवं मृदुः परिभूयते ।
अथ न रुचितं मुञ्च त्वं मामहं कृतनिश्चयो
युवतिरहितं लोकं कर्तुं यतश्छलिता वयम् ॥ १८ ॥

पश्यामि एकोऽपि क्षुभितो लक्ष्मणः कोपकुटिलभ्रुकुटिः शतजनसम्बाधमिवाग्रतः प्रदेशं करोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

यदि न सहसे इति—यदि राज्ञः तातस्य महाराजस्य मोहं विसंज्ञभावेनावस्थानम्, न सहसे न मर्षयसि, प्रतिचिकिर्षसि चेत्, धनुः स्पृश चापमास्फालय, मोहहेतुजने चापं व्यापारयेत्यर्थः । दया, तितिक्षा मा न कर्त्तव्येत्यर्थः । तत्र कारणमाह—स्वजनेति। स्वजने (अपकारपरायणेऽपि) निजे परिजने निभृतः क्षमाशीलः मृदुः शीतलस्वभावः सर्वोऽपि (भवद्विधोऽखिलोऽपि जनः) परिभूयते सर्वेषां तिरस्कारस्य पात्रत्वमुपयातीति भावः । अथ न रुचितं स्वजनविषये स्वयं धनुरादानं नेच्छसि चेत् (अलं तथा कृत्वा, त्वयि धनुरास्फालयति साध्यस्य कार्यस्य मयापि साध्यत्वादिति मनसिकृत्याह) माम् लक्ष्मणं मुञ्च स्वविचारमनुसृत्य व्यवहर्तुं स्वतन्त्रं कुरुष्वेत्यर्थः । अनुज्ञातस्य स्वस्य कर्त्तव्यमाह—अहमिति । अहं लोकं संसारम्, युवतिरहितं युवतिजात्या विरहितं कर्तुं कृतनिश्चयः निष्ठापितमतिः कृतप्रतिज्ञ इत्यर्थः। युवतिविषयकस्य स्वप्रद्वेषस्य कारणमभिधातुमाह—यत इति । यतः यस्मात् कारणात् वयं छलिताः वञ्चिताः राज्याद् भ्रंशिता इत्यर्थः । युवत्या हि कैकेय्या स्वयौवनेन राजानं प्रलोभ्य स्वहावभावादिभिराकृष्य च वयं राज्याद् भ्रंशिताः,अतोयुवति-

---

किसने उभाड़ दिया ? इस अकेले लक्ष्मण के क्रोधित होने से मैं अपने आगे जनसमूह-सा देख रहा हूँ ॥ १७ ॥

(हाथ में धनुष बाण लिये लक्ष्मण का प्रवेश)

लक्ष्मण—(क्रोध से) यह 'क्यों क्यों मूर्छित हो गये' ।

यदि महाराज की मूर्च्छितावस्था सह्य न हो धनुष बाण संभालो । यह दया का अवसर नहीं है । स्वजन के लिये शान्तिप्रवीण जनों का इसी भाँति अनादर हुआ करता है । यदि स्वजनों के ऊपर धनुष उठाने का आपका विचार न हो तो मुझे तो

सीता--आर्यपुत्र ! रोदितव्ये काले सौमित्रिणा धनुर्गृहीतम् । अपूर्वः
अय्यउत्त ! रोदिदव्वे काले सोमित्तिणा धणू गहीदं । अपूव्वो
खल्वस्यायासः ।
क्खु से आआसो ।

रामः--सुमित्रामातः ! किमिदम् ?

लक्ष्मणः--कथं कथं किमिदम् ?

क्रमप्राप्ते हृते राज्ये भुवि शोच्यासने नृपे ।

जातिरेवास्मास्वपराधिनीति तद्विध्वंसोपाये प्रवर्तितुमिच्छामि, केवलं त्वदादेशमात्रं प्रतीक्ष इति तदाशयः। कृतापकारे दण्डविधया क्रियमाणस्यापकारस्यानिषिद्धत्वादियमनुज्ञायाचना । हरिणीवृत्तम्, तल्लक्षणं यथा–'नसमरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता' इति ॥ १८ ॥

अय्यउत्त इति--रोदितव्ये रोदनायोपस्थिते । 'रुदन्त्यस्मिन्निति रोदितव्यः' इत्यधिकरणे तव्यद् बाहुलकात् । अस्य लक्ष्मणस्य, आयासः खेदः, अपूर्वः अदृष्टपूर्वप्रकारकः, शोकप्रकाशनावसरे कोपाविष्कारस्यायुक्तत्वेनेत्थमुक्तिः ।

सुमित्रामातरिति--सुमित्रा माता यस्य तत्सम्बुद्धौ तथा । मातृगुणवत्तया गुणवत्त्वमाशंसमानाया इदं सम्बोधनम् । यद्यप्यत्र 'नद्यृतश्चे'ति कप् प्राप्नोति, तथापि 'मातच्मातृकमातृषु' इत्यत्र मातृशब्दे परतो बहुव्रीहौ ष्यङः सम्प्रसारणविकल्पविधायके मातृशब्ददर्शनात् कपो वैकल्पिकत्वं कल्पयित्वेदं निर्वाह्यम् । किमिदम् अकाण्डे संरम्भस्य किमुपस्थितं कारणमिति ।

कथं कथमिति अधुनाऽपि किमिदमिति प्रश्नस्यावसरमसहमानः लक्ष्मणस्तथाह ।

क्रमप्राप्ते इति–क्रमप्राप्ते न्यायतस्त्वदासाद्यभावेनोपस्थिते राज्ये हृते बला-

---

छोड़ दें, (यह सहने के योग्य बात नहीं है कि) एक युवती—स्वामी को मुट्ठी में करके हम सभी को छल से परास्त कर दे, अतः मैंने सम्पूर्ण विश्व को युवति शून्य कर देने का निश्चय कर लिया है ॥ १८ ॥

सीता—आर्यपुत्र, लक्ष्मण ने रोने के अवसर पर धनुष उठाया है। इनका इतना क्षोभ तो कभी नहीं देखा गया।

राम—सुमित्रानन्दन, यह क्या ?

लक्ष्मण—क्यों, क्या अब भी पूछ रहे हैं कि यह क्या ?

वंशपरम्परा से प्राप्त राज्य छिन गया, महाराज मूर्च्छित दशा में भूमि पर लोटते

इदानीमपि सन्देहः किं क्षमा निर्मनस्विता ? ॥ १९ ॥

राम:--सुमित्रामातः ! अस्मद्राज्यभ्रंशो भवत उद्योगं जनयति ।
आः, अपण्डितः खलु भवान् ।

भरतो वा भवेद् राजा वयं वा ननु तत् समम् ।
यदि तेऽस्ति धनुःश्लाघा स राजा परिपाल्यताम् ॥ २० ॥

लक्ष्मण:--न शक्नोमि रोषं धारयितुम् । भवतु भवतु । गच्छामस्तावत् । (प्रस्थितः)

दपहृते सति नृपे महाराजदशरथे च भुवि धरित्र्याम् । (न तु पर्यङ्के) शोच्यासने दुःखासिकायाम् (न तु सुखशयनीये) सति इदानीमपि अस्यामपि स्थितौ तदपकारितायां प्रकटं प्रतीतायामपीत्यर्थः, सन्देहः--प्रतिक्रियाविधाननिश्चयाभावः (किमिदमित्यादिवचनेनोह्यमानः) तव किं क्षमा सहनशीलता, निर्मनस्विता मनस्विताविरहो वेति (न जाने इति भावः) एतादृश्यमपि तस्या अपकारितायां प्रकटं प्रतीतायामपि तव कर्त्तव्यानवधारणस्वरूपः सन्देहः क्षमाया गौरवभावनाशून्यतया वा प्रसूत इति न निर्णेतुं शक्नोमीति तात्पर्यम् ॥ १९ ॥

उद्योगम्--युद्धसन्नाहम्, अपण्डितः विवेकविधुरः, मयि राज्यासनात् पातिते त्वं युद्धाय सन्नद्ध इति तवाविवेक एवेत्यर्थः ।

भरतो वेति--भरतो वा राजा भवेत् वयं वा राजानो भवेम, तदन्यतराभिषेचनं ननु समं तव विषये तुल्यम् औदासीन्येनावस्थानस्यैव प्रवर्त्तकमिति भावः । यदि ते धनुःश्लाघा धनुर्धरत्वगर्वः (अस्ति) तदा सः नवाभिषिक्तः राजा भरतः परिपाल्यतां सहायकत्वमासाद्यान्तरेभ्यो बाह्येभ्यश्च विघ्नेभ्यो रक्ष्यताम् । अत्र मद्विषये दोषे त्वया चिन्ता मा कारीत्युक्त्वा रामस्यात्मनिर्भरता व्यक्ता । अन्यत्स्पष्टम् ॥ २० ॥

रोषमिति--रोषं कोपवेगं धारयितुं नियन्तुं न शक्नोमि न क्षमे, तदत्रस्थित्वा-

---

हैं, क्यों, अब भी आपको संदेह है ? क्षमा आत्मगौरवशून्यता को तो नहीं कहते॥

राम--सुमित्रानन्दन, हमारी राज्यच्युति तुम्हें इतना उत्तेजित कर रही है, खेद ! तुम इतने अधीर हो ।

चाहे भरत को राज्य मिले या राम को तुम्हारे लिए तो दोनों बातें एक सी हैं। हाँ, यदि तुम्हें अपने धनुषपर अभिमान है तो जाओ, राजा भरतकी सहायताकरो॥

लक्ष्मण--मैं रोष को रोक नहीं सकता, अच्छा जाता हूँ । (प्रस्थान)

रामः—त्रैलोक्यं दग्धुकामेव ललाटपुटसंस्थिता।
भ्रुकुटिर्लक्ष्मणस्यैषा वियतीव व्यवस्थिता ॥ २१ ॥
सुमित्रामातः! इतस्तावत्।

लक्ष्मणः—आर्य! अयमस्मि।

रामः—भवतः स्थैर्यमुत्पादयता। मयैवमभिहितम्।
ताते धनुर्न मयि सत्यमवेक्षमाणे
मुञ्चानि मातरि शरं स्वधनं हरन्त्याम्।

ऽलम्, अन्यथा तदावेशवशात् कदाचिदवाच्यमुच्येत अकार्यं वा क्रियेत, वरमत इतः स्थानादन्यत्र गन्तुमिति प्रकरणार्थः।

त्रैलोक्यमिति—त्रयो लोका एव त्रैलोक्यम् चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्। तत् भुवनत्रयम् दग्धुं कामो यस्याः सा दग्धुकामा दिधक्षन्तीव ललाटपुटसंस्थिता कपालदेशेऽवस्थापिता एषा प्रत्यक्षदृश्या लक्ष्मणस्य भ्रुकुटिः वक्रीभूता कोपव्यञ्जिका भ्रूलता वियति व्योमनि इव व्यवस्थिता। कोपातिरेकेण लक्ष्मणस्योर्ध्वबद्धवक्रभ्रुकुटितया दृग्भङ्गेराकाशावस्थितमुत्प्रेक्षते। 'नियतीव' इति पाठे नियतिः भाग्यरेखेवेत्यर्थः। अतः पाठेऽर्थसामञ्जस्येऽपि ङीप्सिद्धये क्तिजन्तत्वादिकमनुसरणीयम्। तच्चागतिकगतिभूतमिति सुधियो विभावयन्तु ॥ २१ ॥

स्थैर्यम्—चित्तविक्रियोपरमम् उत्पादयता जनयता त्वां शान्तयतेत्यर्थः। उच्यताम् इदानीं शान्तचित्तेन भवता मत्प्रश्नोत्तरमभिधीयताम्।

तात इति। मयि स्वविधेये मल्लक्षणे जने मामवलम्ब्येत्यर्थः। सत्यं स्वप्रतिश्रुतभरताभिषेकान्यथाभावम् अवेक्षमाणे प्रतीक्षमाणे ताते धनुर्न चापावसर एव नास्ति। किञ्च स्वधनं विवाहावसरप्रतिश्रुतं लभ्यतया निश्चितं स्वधनं राज्यरूपं

राम—त्रिभुवन को भस्म करने के लिए उद्यत लक्ष्मण की भ्रुकुटि विधाता की इच्छा की तरह अटल मालूम पड़ रही है ॥ २१ ॥

सुमित्रानन्दन जरा इधर तो आना।

लक्ष्मण—आर्य, यह आया।

राम—तुम्हें शान्त करने के उद्देश्य से ही मैंने वैसा कहा है, अब तुम्हीं बताओ-क्यों पिता पर धनुष उठाया जाय जो अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर रहे हैं, या माता पर प्रहार किया जाय जो पूर्व-प्रतिज्ञात अपना विवाह-शुल्क माँग रही है,

दोषेषु बाह्यमनुजं भरतं हनानि
किं रोषणाय रुचिरं त्रिषु पातकेषु ॥ २२ ॥

लक्ष्मणः—(सबाष्पम्) हा धिक् ! अस्मान् अविज्ञायोपालभसे ।

यत्कृते महति क्लेशे राज्ये मे न मनोरथः ।
वर्षाणि किल वस्तव्यं चतुर्दश वने त्वया ॥ २३ ॥

हरन्त्यां मातरि कैकेय्यां शरं मुञ्चानि चालयानि ? नैतदप्युपयुज्यते । दोषेषु एषु मद्राज्यप्राप्तिप्रतिबन्धकीभूतव्यापारकलापेषु बाह्यं पृथग्भूतं हनानि मारयाणि, नैतदपि युक्तं, तस्य सर्वथा दोषरहितत्वात् । अस्यां स्थितौ एषु त्रिषु पातकेषु पितृमातृभ्रातृवधाख्येषु महापापेषु रोषणाय कोपकलुषाय तुभ्यं किं कतमत् पातकं रुचिरं रुचिप्रदं रोचत इत्यर्थः । स्वजनोऽप्यपकुर्वन् हन्तव्य इति हि त्वदभिप्रायः । न चात्र गर्हितकर्मणि कस्यापि स्वजनस्यापराधं निर्णेतुमीशे, तातस्य स्ववचोरक्षाव्रतपरायणत्वात्, मातुर्मध्यमायाः स्वधनप्राप्तिप्रवृत्तत्वात्, मम भ्रातुर्भरतस्यैभिर्व्यापारकलुषपङ्कैरलिप्तत्वादतोऽत्र निरपराधप्रियपरिजनत्रयमध्ये कस्य वधो मया क्रियमाणस्त्वयाऽभिप्रेयत इति रामाशयः । वसन्ततिलकं वृत्तम्, लक्षणं पूर्वमुक्तम् ॥

हा धिगिति—कष्टमित्यर्थः, अविज्ञाय ज्ञातव्यमर्थमविज्ञाय । उपालभसे तिरस्करोषि । ज्ञाते वृत्तान्ते तथापि ममेव व्यग्रा चित्तवृत्तिर्भवेदित्यर्थः ।

तद्वस्तुतत्त्वमेवाह—**यत्कृत इति** । यत्कृते येनार्येण जनिते महति दुरन्ते क्लेशे खेदे, मनसाऽध्यायमान इति शेषः । मे मम राज्ये राजपदे मनोरथः अभिलाषो न । तमेव क्लेशमविज्ञाय त्वं मामुपालभस इत्यर्थः । क्लेशमाह—**वर्षाणीति** । त्वया रामेण चतुर्दशवर्षाणि वने वस्तव्यं स्थातव्यम्, इति । चतुर्दशवर्षाणीत्यत्रात्यन्तसंयोगे द्वितीया । न हि केवलं दुराशयया कैकेय्या भरताभिषेकमात्रेण तृप्तं, किन्तु तव वनवासोऽपि तया वृत इति भावः । चरमश्चायं वरो मर्मवेधी येनाहं पूर्वप्रकारेण वक्तुं बाधित इति सरलार्थः ॥ २३ ॥

अथवा अत्यन्त निर्दोष भरत को मारा जाय ? पितृवध, मातृवध और बन्धुवध; इन तीनों पातकों में कौन-सा पातक तुम्हारे रोष को अभिमत है ? ॥ २२ ॥

लक्ष्मण—(रोकर) खेद है, आप बिना जाने हमें उलाहना दे रहे हैं ।

मुझे राज्य की अभिलाषा नहीं है, किन्तु जिस बात पर मुझे इतना खेद हुआ वह यह है कि—आपको चौदह वर्ष तक वन में रहना होगा ॥ २३ ॥

रामः--अत्र मोहमुपगतस्तत्रभवान् ? हन्त ! निवेदितमप्रभुत्वम् ।
मैथिलि !

मङ्गलार्थेऽनया दत्तान् वल्कलांस्तावदानय ।
करोम्यन्यैर्नृपैर्धर्मं नैवाप्तं नोपपादितम् ॥ २४ ॥

सीता--गृह्णात्वार्यपुत्रः ।
गह्लादु अय्यउत्तो ।

रामः--मैथिलि ! किं व्यवसितम् ?

सीता--ननु सहधर्मचारिणी खल्वहम् ।
णं सहधम्मआरिणी क्खु अहं ।

तत्र भवान् पूज्यस्तातः । अत्र मद्वनवासलक्षणे विषये । हन्त खेदे, अप्रभुत्वम् विपदुपनिपातसहनासामर्थ्यम् । निवेदितं प्रकटीकृतम् । मया सुखं साधयितुं योग्ये कार्ये तातस्य तादृशी दशा तत्पक्षे नितरामयुक्तेति भावः ।

अवसरप्राप्तं कर्त्तव्यमादिशति-**मङ्गलार्थे इति** । अनया अवदातिकाभिधानया तव चेटया दत्तान् वल्कलान् तरुत्वक्कल्पितानि वसनानि मङ्गलार्थे मङ्गलमयपित्राज्ञापालनात्मकवनवासोपयोगिवस्त्रार्थम् आनय मह्यमर्पय । वनवासस्य मङ्गलमयतामेवोपपादयति परार्द्धेन-**करोमीति** । अन्यैः मद्भिन्नैः नृपैः राजभिः नैव आप्तं बाल्यभावे कर्त्तव्यत्वेनाधिगतं नोपपादितम् नानुष्ठितं च । राजानो हि वार्द्धके पुत्रसमर्पितराज्यभाराः सन्त एव वनवासावसरमलभन्त तथाऽऽचरंश्च, प्रथमोऽयमवसरो यदहं बाल एव वनवासाय लब्धावसरस्तथा कर्तुं यत इति मङ्गलमयभावोऽस्य कर्मणस्तदाशूपनय मम वल्कलानीति रामस्याशयः ॥ २४ ॥

व्यवसितम्---इष्टं मयि वनाय चलिते त्वया किं चिकीर्षितमिति भावः ।
सहधर्मचारिणी-सहधर्मानुष्ठानशीला । एतेन मयापि गन्तव्यमिति व्यञ्जितम् ।

राम—क्या इसी बात पर महाराज मूर्च्छित हो गये ? अफसोस ! उन्होंने अपनी अधीरता व्यक्त की । मैथिलि,

इस समय उपस्थित इस मङ्गलमय कार्य के लिए मुझे अवदातिका द्वारा लाये गये वल्कल दो । उन्हें पहन कर मुझे ऐसा धर्म-कार्य करना है, जिसे किन्हीं राजाओं ने नहीं किया ॥ २४ ॥

सीता—लीजिये आर्यपुत्र !

राम—मैथिलि, तुम्हारी क्या राय है ?

सीता—मैं तो आपकी सहधर्मचारिणी ठहरी ।

रामः—मयैकाकिना किल गन्तव्यम् ।

सीता—अतो न खल्वनुगच्छामि ?

अदो णु क्खु अणुगच्छामि ।

रामः—वने खलु वस्तव्यम् ।

सीता—तत् खलु मे प्रासादः ।

तं क्खु मे पासादो ।

रामः—श्वश्रूश्वशुरशुश्रूषापि च ते निर्वर्तयितव्या ?

सीता—एनामुद्दिश्य देवतानां प्रणामः क्रियते ।

णं उद्दिसअ देवदानं पणामो करीअदि ।

रामः—लक्ष्मण ! वार्यतामियम् ।

लक्ष्मणः—आर्य ! नोत्सहे श्लाघनीये काले वारयितुमत्रभवतीम् ।

कुतः—

एकाकिना सहायान्तररहितेन गुर्वाज्ञाया अक्षरशोऽर्थतोऽनुवृत्तौ मम सहायकान्तररक्षणं धर्मच्युतिरतस्त्वया तथाऽऽग्रहो न कर्त्तव्य इति रामाभिसन्धिः ।

अतो नु खल्विति । असहायेन भवता गम्यतेऽत एव तु मया विशिष्य गन्तुं काम्यते, त्वत्सहायतायाः मद्धर्मत्वादिति ।

एनां गुरुशुश्रूषाम्, गुरुशुश्रूषास्थाने वनदेवताः प्रणम्य चेतः सान्त्वयिष्यामि । अथवा मया पतिसहानुवृत्तिपरतन्त्रतया गृहेऽवस्थाय गुरुशुश्रूषा विधातुं नाशकीति विवशायाः स्वस्याः अपराधमिमं मर्षयितुं देवताः प्रणंस्यामीति तदाशयः ।

काले सीतायास्त्वदनुगमनाऽध्यवसायसमये ।

राम—मुझे तो अकेले बन जाना है ।

सीता—इसी से तो आपके साथ जाना है ।

राम—वहाँ तो वन में रहना होगा ।

सीता—वह वन मेरे लिये प्रासाद होगा ।

राम—सास-ससुर की सेवा भी तो तेरा कर्त्तव्य है ।

सीता—इसके लिये मैं (सर्वसाक्षी) देवों को प्रणाम करती हूँ (कि वे हमारी लाचारी देखें) ।

राम—लक्ष्मण, इसे वन जाने से रोको ।

लक्ष्मण—आर्य, ऐसे प्रशंसनीय अवसर में आर्या को रोकने का साहस नहीं हो रहा है, क्योंकि—

अनुचरति शशाङ्कं राहुदोषेऽपि तारा
पतति च वनवृक्षे याति भूमिं लता च।
त्यजति न च करेणुः पङ्कलग्नं गजेन्द्रं
व्रजतु चरतु धर्मं भर्तृनाथा हि नार्यः ॥२५॥

(प्रविश्य)

चेटी—जयतु भट्टिनी। नेपथ्यपालिन्यार्यरेवा प्रणम्य विज्ञापयति—
जेदु भट्टिणी। णेवच्छपालिणी अय्यरेवा पणमिअ विण्णवेदि—
अवदातिकया सङ्गीतशाला आच्छिद्य वल्कला आनीता।
ओदादिआये सङ्गीयसालादो आच्छिन्दिअ वक्कला आणीदा।

अनुचरतीति। तारा चन्द्रमसो भार्या शशाङ्कं चन्द्रं राहुकृतोपरागेऽपि राहुग्रसनदशायामपीत्यर्थः, अनुचरति अनुगच्छति न तु स्वामिनं विपदुपनिपतितं त्यजति। किञ्च वनवृक्षे वन्ये तरौ पतति (सति) लता वल्लरी च भूमिं याति-अधोदेशसंयोगवती भवतीत्यर्थः। किञ्च करेणुः हस्तिनी पङ्कलग्नं कर्दममग्नम्, गजेन्द्रं न त्यजति अनुयात्येव। एवं देवभावमारभ्य तर्वादिभावपर्यन्तं स्त्रीणां स्वनाथानुसरणस्य लक्ष्येषु भूयिष्ठ दृश्यमानत्वेन सीताया अपि त्वदनुवर्त्तनाध्यत्र-सायान्निवर्त्तनं न योग्यमित्यर्थः। सीतायाः कर्त्तव्यनिर्णयमेव समर्थयति–व्रजतु त्वामनुवर्त्तताम् धर्मं पत्यनुवृत्तिलक्षणं सतीसमुदाचारं चरतु अनुतिष्ठतु। तमिममर्थमर्थान्तरन्यासेन पोषयति–भर्तृनाथा हि नार्य इति। नार्यः स्त्रियो भर्तृनाथाः स्वामिपरतन्त्राः, अतस्तासां तदनुवृत्तिस्तत्समसुखदुःखता च सदोचितेति भावः। अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासभेदः। हिशब्दोऽस्यार्थस्य प्रसिद्धतां द्योतयति, शेषं सुगमम् ॥ २५ ॥

विज्ञापयति सूचयति। आच्छिद्य बलादपहृत्य। अननुभूताः अभिनवाः अनुप-

---

राहुग्रहण के अवसर पर भी रोहिणी चन्द्रमा का साथ देती है, वृक्ष के धराशायी होने पर भी उसकी लतायें उससे लिपटी ही रहती हैं, गजराज के पङ्कपतित होने पर भी हथिनियाँ साथ नहीं छोड़तीं (इसलिए) उन्हें भी वन जाने दो, अपना धर्म निभाने दो। स्त्रियों के तो पति ही अवलम्ब होते हैं ॥२५॥

(चेटी का प्रवेश)

चेटी—जय हो महारानीजी की। नेपथ्यपालिका आर्या रेवा प्रणामपूर्वक निवेदन करती है कि अवदातिका सङ्गीतशाला से कुछ वल्कल स्वयं ही ले आयी

इमेऽपरा अननुभूता वल्कलाः। निर्वर्त्यतां तावत् किल
इमा अवरा अणणुहूदा वक्कला। णिव्वत्तीअदु दाव किल
प्रयोजनमिति।
पओअणं त्ति।

रामः—भद्रे! आनय, सन्तुष्टैषा। वयमर्थिनः।

चेटी—गृह्णातु भर्ता। (तथा कृत्वा निष्क्रान्ता)
गह्लादु भट्टा।

(रामो गृहीत्वा परिवत्ते)

लक्ष्मणः—प्रसीदत्वार्यः।

निर्योगाद् भूषणान्माल्यात् सर्वेभ्योऽर्धं प्रदाय मे।
चिरमेकाकिना बद्धं चीरे खल्वसि मत्सरी॥ २६॥

मुक्ताः। प्रयोजनम् उपयोगः। अनुष्ठीयतां सम्पाद्यताम्, यथेच्छमुपयुज्यतामित्यर्थः।

सन्तुष्टा पूर्वत एव वल्कलपरिधानेन तृप्ता। एषा सीता। अर्थिनः वल्कलस्य कृते याचकाः, तथा मह्यं पात्रायार्पयेति रामाशयः।

रामेण वल्कले धार्यमाणे लक्ष्मणः स्वस्य रामानुगमनाभिलाषं व्यञ्जयन्नाह-प्रसीदत्वार्य इति।

निर्योगादिति। निर्योगात् वस्त्रकञ्चुकादेराच्छादनोपयोगिवसनात्, भूषणात् कटककुण्डलादेरलङ्कारात्, माल्यात् पुष्पादिस्रजः सर्वेभ्यो मे मह्यम् अर्धम् समांशं प्रदाय दत्वा चीरं बल्कलम् (त्वया) एकाकिना मह्यमप्रदायैव बद्धं परिहितम्। बहुमूल्यवसनाभरणस्रगादीनां संविभागकरणे गतस्वार्थता दृष्टपूर्वा, चीरस्य तु अतिहीनमूल्यस्य संविभागे तव स्वार्थवृद्धिरुदितेत्याश्चर्यम्, इत्याह-**चीरे खल्वसि मत्सरीति**। इदमपि मह्यं प्रदाय मामपि सह नयेति तदाशयः॥२६

है। (हो सकता है वे अच्छे नहीं हों) ये नये वल्कल हैं, इनसे अपना प्रयोजन पूरा कीजिये।

राम—भद्रे, इधर लाना, इनका तो काम चल गया है, मुझको जरूरत है।

चेटी—स्वामी ग्रहण करें। (वल्कल देकर प्रस्थान)

(राम लेकर पहनते हैं)

लक्ष्मण-आर्य, प्रसन्न हों। आज तक सभी तरह के वस्त्र, भूषण, माल्य-सभी प्रकार की भोग्य वस्तुओं में आप मुझे आधा देते आये हैं, फिर इस वल्कल में इतना लोभ क्यों है कि इसे अकेले पहन रहे हैं?॥ २६॥

राम:—मैथिलि ! वार्यतामयम् ।

सीता—सौमित्रे ! निवर्त्यतां किल ।

सौमित्रे ! णिवत्तीअदु किल ।

लक्ष्मण:—आर्ये !

गुरोर्मे पादशुश्रूषां त्वमेका कर्तुमिच्छसि ? ।
तवैव दक्षिणः पादो मम सव्यो भविष्यति ॥ २७ ॥

सीता—दयतां खल्वार्यपुत्रः । संतप्यते सौमित्रिः ।

दीअदु क्खु अय्यउत्तो । सन्तप्पदि सौमित्ती ।

राम:—सौमित्रे ! श्रूयताम् । वल्कलानि नाम—

तपः सङ्ग्रामकवचं नियमद्विरदाङ्कुशः ।

निवर्त्यतां वनगमनाध्यवसायादिति शेषः ।

गुरोर्मे इति । मे मम गुरोः पूजनीयस्य ज्येष्ठभ्रातुः पादशुश्रूषाम् चरण-संवाहनादिपरिचर्याम् त्वम् एका सहायान्तरनिरपेक्षा कर्तुं विधातुम् इच्छसि ? स्वयमेकाकिनी मम पूज्यस्य चरणौ सेवितुकामा त्वं माम् उक्तकार्यावसरलाभतो वञ्चयसीति तव नोचितमित्यर्थः । अथ तव महानत्राग्रहस्तर्हि तदीयं दक्षिणं पादं परिचार, मम कृते सव्यमेव तदीयं पादं विसृज । एवमपि मया तत्पादपरिचर्या-वसरो गौणभावेनापि लब्धो भवेदित्यर्थः ॥ २७ ॥

तपःसङ्ग्रामेति । वल्कलानि नाम तप एव संग्रामः युद्धम् तत्र कवचं वर्म युद्धे धर्त्तव्यतया प्रसिद्धम् । (तान्येव वल्कलानि) नियमो व्रतमेव द्विरदो गजः तस्य

राम—मैथिलि, इसे मना करो ।

सीता—लक्ष्मण, रहने दो ।

लक्ष्मण—आर्ये,

मेरे पूज्य राम की चरणशुश्रूषा तुम अकेले करना चाहती हो ? । अच्छा दक्षिण चरण पर तुम्हारा ही एकाधिपत्य रहेगा मैं बाम चरण की ही सेवा करके अपना जीवन सार्थक समझ लूंगा ॥ २७ ॥

सीता—आर्य— आप दया करें, लक्ष्मण को (रोकने से) कष्ट होता है ।

राम—लक्ष्मण, यह वल्कल—

तपस्यारूप संग्राम में कवच, संयमरूप हाथी के वशीकरण में अंकुश, इन्द्रिय-

खलीनमिन्द्रियाश्वानां गृह्यतां धर्मसारथिः ॥ २८ ॥

लक्ष्मणः—अनुगृहीतोऽस्मि । (गृहीत्वा परिधत्ते)

रामः—श्रुतवृत्तान्तैः पौरैः सन्निरुद्धो राजमार्गः । उत्सार्यतामुत्सार्यतां तावत् ।

लक्ष्मणः—आर्य ! अहमग्रतो यास्यामि । उत्सार्यतामुत्सार्यताम् ।

रामः—मैथिलि ! अपनीयतामवगुण्ठनम् ।

सीता—यदार्यपुत्र आज्ञापयति । (अपनयति)
जं अय्यउत्तो आणवेति ।

रामः—भो भोः पौराः ! शृण्वन्तु शृण्वन्तु भवन्तः—
स्वैरं हि पश्यन्तु कलत्रमेतद् बाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः ।

अङ्कुशः वशीकरणसाधनम् । इन्द्रियाणि अश्वा इव तेषां खलीनं नियन्त्रणप्रग्रहः, धर्मसारथिः धर्मस्य रथस्य सारथिः चारकः । एवं महिमा वल्कलपट इति रामस्याशयः । अत्र तपसः सङ्ग्रामत्वाभिधानेन युद्धवन्निरन्तरसावधानताऽपेक्षितेति, नियमानां द्विरदत्वरूपणेन तेषां नितान्तस्वाच्छन्द्यकृता दुरुपास्यतेति, इन्द्रियाणामश्वत्वाभिधानेन नितान्तचञ्चलता, वल्कलानां तत्खलीनत्वोक्त्या च तन्नियमनसमर्थतेति धर्मस्य रथत्वोक्त्या परलोकप्रापकतेति चावेद्यते ॥ २८ ॥

अवेति-अवगुण्ठनं परदर्शनपरिहारार्थं शिरोमुखाच्छादकवस्त्रम् ।

स्वैरं हीति । भवन्तः पुरवासिनः मम रामस्य भार्यां सीतां स्वैरं यथेच्छं निःशङ्कं बाष्पाकुलाक्षैः बाष्पपरिप्लुतनयनैः वदनैः मुखैरुपलक्षिता भवन्त इति पौरेष्वन्वेतव्यम्, पश्यन्तु विलोकयन्तु । असूर्यम्पश्यानामपि राजवनितानां जन-

---

रूप अश्वों के निग्रह में लगाम का काम करते हैं, अतः इन्हें ग्रहण करो ॥ २८ ॥

लक्ष्मण—मैं अनुगृहीत हुआ । (लेकर धारण करता है)

राम—यह समाचार सुनकर नागरिकों से राजमार्ग बिलकुल घिर गया है, इन्हें (समझा कर) हटा दीजिये ।

लक्ष्मण—आर्य मैं आगे चलता हूँ । हट जाइये । हट जाइये ।

राम—मैथिलि, घूँघट हटा लो ।

सीता—जो आज्ञा (घूँघट हटाती है) ।

राम—हे नगरवासिजन, आप लोग सुनिये सुनिये—

आपलोग निःशङ्क होकर साश्रुनयन से सीता को देख लें । यज्ञ, विवाह, संकट

निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च ॥२९॥

(प्रविश्य)

कञ्चुकीयः—कुमार ! न खलु गन्तव्यम् । एष हि महाराजः,

श्रुत्वा ते वनगमनं वधूसहायं
सौभ्रात्रव्यवसितलक्ष्मणानुयात्रम् ।
उत्थाय क्षितितलरेणुरूषिताङ्गः
कान्तारद्विरद इवोपयाति जीर्णः ॥ ३० ॥

लक्ष्मणः—आर्य !

सामान्यदर्शनविषयत्वस्यौचित्यमुपपादयति—**निर्दोषेति** । नार्यो वनिता हि यज्ञेऽश्वमेधादौ विवाहे पाणिग्रहणावसरे व्यसने विपदि श्मशानाद्युपगमावसरे वने च निर्दोषदृश्याः, निर्दोषाः दृश्याश्चेति विग्रहः, दृश्यत्वेऽपि दर्शननिमित्तकदोषरहिता इत्यर्थः । अत्र वनप्रस्थानोन्मुखानां दर्शनं वने दर्शनमित्यभिमानः ॥ २९ ॥

श्रुत्वा त इति—वधूः सीता सहाया द्वितीया यस्मिन् कर्मणि तत्तथा, सौभ्रात्रेण भ्रातृस्नेहमहिम्ना अध्यवसिता सङ्कल्पिता लक्ष्मणानुयात्रा लक्ष्मणानुगमनं यत्र कर्मणि तथाभूतम्, ते तव रामस्य वनगमनं वनाय प्रस्थानं श्रुत्वा निशम्य उत्थाय स्थण्डिलशयनं परित्यज्य क्षितितलरेणुभिः धरातलधूलिभिः रूषिताङ्गः धूसरशरीरावयवः जीर्णः जरसा ग्रस्तः कान्तारद्विरद इव वन्यकरीव राजा उपयाति इव आगच्छति अतस्तमुपेक्ष्य गमनमनुचितमिति तदाशयः । सौभ्रात्रव्यवसितेति लक्ष्मणस्यामायता, वधूसहायमिति रामवनगमनस्यात्यन्तदुःसहता, निशम्य उत्थायेति क्रिययोरव्यवहितपौर्वापर्येण तद्वृत्तान्तश्रवणानन्तरमेव राज्ञो भृशास्थिरता, रेणुरूषिताङ्गतोक्त्या राज्ञो दीनावस्थता, कान्तारद्विरदोपमया च तस्य नितान्तकष्टमयजीवनता चावेद्यते ॥३०॥

और वन में स्त्रियों का देखना निर्दोष है ॥ २९ ॥

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—कुमार, मत जाइए । मत जाइए । यह देखिये, वृद्ध महाराज—

सीतासहित आपका वनगमन तथा लक्ष्मण का अनुगमन सुनकर सहसा उठकर पृथ्वी की धूलि से धूसराङ्ग बने राजा वन्य गजराज की भाँति कांपती चाल से आप लोगों को देखने के लिये इधर ही आ रहे हैं ॥ ३० ॥

लक्ष्मण—आर्य,

चीरमात्रोत्तरीयाणां किं दृश्यं वनवासिनाम् ?

राम:—

गतेष्वस्मासु राजा नः शिरःस्थानानि पश्यतु ॥ ३१ ॥

(इति निष्कान्ताः सर्वे)

॥ **इति प्रथमोऽङ्कः** ॥

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति कञ्चुकीयः)

कञ्चुकीयः—**भो भोः प्रतिहारव्यापृताः ! स्वेषु स्वेषु स्थानेष्वप्रमत्ता भवन्तु भवन्तः ।**

(प्रविश्य)

चीरमात्रेति—चीरमात्रमुत्तरीयं येषान्ते चीरमात्रोत्तरीया वल्कलमात्रोत्तरीयवसनाः (न तु पीताम्बरपरिधाना) तेषां वनवासिनां किं दृश्यं न किमपीत्यर्थः । तेन च राज्ञः आगमनस्य तत्प्रतीक्षार्थमवस्थानस्य चानावश्यकत्वमुक्तम् । अस्मासु गतेषु अप्रतीक्ष्यैव राजानं वनं प्रस्थितेषु राजा दशरथः नोऽस्माकं शिरःस्थानानि प्रधानवासस्थानानि विलोकयतु । अस्मदभ्युषितानि स्थानानि विलोक्यात्मानं सान्त्वयत्वित्यर्थः ॥ ३१ ॥

इति मैथिलपण्डित-श्रीरामचन्द्रमिश्रकृते प्रतिमानाटक-प्रकाशे प्रथमोऽङ्कः ।

प्रतीति—प्रतीहारव्यापृताः प्रतीहारे द्वारदेशे व्यापृताः नियुक्ताः, अप्रमत्ताः सावधानाः ।

चीरमात्रपरिधान हम वनवासियों को देख कर क्या करेंगे ? ।

राम—हमारे चले जाने पर महाराज हमारे प्रधान निवासस्थानों को देखा करेंगे ॥ ३१ ॥

(सब का प्रस्थान)

प्रथम अङ्क समाप्त ।

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—ऐ द्वारपालों, आप अपने स्थानों पर सावधान रहें ।

(प्रतिहारी का प्रवेश)

प्रतीहारी—आर्य ! किमेतत् ?
अय्य ! किं एदं ?

कञ्चुकीयः—एष हि महाराजः सत्यवचनरक्षणपरो राममरण्यं गच्छन्तमुपावर्तयितुमशक्तः पुत्रविरहशोकाग्निना दग्धहृदय उन्मत्त इव बहु प्रलपन् समुद्रगृहके शयानः—

मेरुश्चलन्निव युगक्षयसन्निकर्षे
शोषं व्रजन्निव महोदधिरप्रमेयः ।
सूर्यः पतन्निव च मण्डलमात्रलक्ष्यः
शोकाद् भृशं शिथिलदेहमतिर्नरेन्द्रः ॥ १ ॥

किं एदं इति—अवधानोपदेशने प्रयोजनं किमिति प्रश्नाशयः ।

सत्यवचनरक्षणपरः सत्यवाक्पालनतत्परः, उपावर्त्तयितुं स्वाध्यवसायान्निवर्तयितुम् । शोकाग्निना खेदवह्निना तस्य च वह्नित्वमत्यन्तसन्तापकत्वेनोपचरितम् । प्रलपन् निरर्थकं भाषणं कुर्वन् । समुद्रगृहके कृतकस्य समुद्रस्य समीपवर्तिनि गृहे तद्वति वा गृहे । कृतकसमुद्रनिर्माणं हि क्रीडाशैलादिनिर्माणवद् भोगार्थम् ।

मेरुरिति—युगस्य क्षयो युगान्तस्तस्य सन्निकर्षे सामीप्योपसृतौ, मेरुः सुमेरुश्चलन्निव कम्पायमान इव, अप्रमेयः परिच्छेत्तुमशक्यः, महोदधिः सागरः शोषं व्रजन् शुष्यन् इव । मण्डलमात्रलक्ष्यम् उपसंहृतप्रभाजालतया मण्डलमात्रेण लक्ष्यः प्रशान्तदीधितिरित्यर्थः । सूर्यो रविः पतन्निव स्रंसमान इव शोकाद् अतिप्रियपुत्रविरहकृतात् खेदात् शिथिलदेहमतिः अवसन्नकायबुद्धिः अस्तीति शेषः । युगक्षये हि विनाशस्यासत्तौ प्रलयपवनेन मेरुश्चलति, प्रशान्तः सागरः शुष्यति, आसन्नपतनश्च रविर्निष्प्रभतया मण्डलमात्रेणोपलक्षितो भवति; तद्वदधुना राजापि शिथिलकायः शिथिलबुद्धिश्च दृश्यत इति भावः । अत्र त्रिभिरप्युपमानभूतैर्मेरुमहोदधिभास्करै राज्ञो मरणस्यासन्नत्वमुक्तम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १ ॥

प्रतीहारी—आर्य, यह क्या ?

कञ्चुकी—क्या कहूँ, प्रतिज्ञापालक महाराज राम को वन जाने से लौटा नहीं सके, और अब पुत्रवियोग की ज्वाला से सन्तप्त हृदय हो पागल की भाँति प्रलाप करते समुद्रगृह में लेटे हुए—

महाराज युगान्त समीप आने पर डगमगाते हुए सुमेरु के समान अथवा सूखते हुए सागर के समान अथवा मण्डलमात्रलक्ष्य सूर्य के समान अपार शोकसागर में निमग्न दुर्बलकाय तथा हीनचेतन होते जा रहे हैं ॥ १ ॥

प्रतीहारी--हा हा एवंगतो महाराजः ?

हा हा एव्वंगओ महाराओ ?

कञ्चुकीयः—भवति ! गच्छ ।

प्रतीहारी--आर्य ! तथा ।

अय्य ! तहा । (निष्क्रान्ता)

कञ्चुकीयः--(सर्वतो विलोक्य) अहो नु खलु रामनिर्गमनदिनादारभ्य शून्यैवेयमयोध्या संलक्ष्यते कुतः—

नागेन्द्रा यवसाभिलाषविमुखाः सास्रेक्षणा वाजिनो
हेषाशून्यमुखाः सवृद्धवनिताबालाश्च पौरा जनाः ।
त्यक्ताहारकथाः सुदीनवदनाः क्रन्दन्त उच्चैर्दिशा
रामो याति यया सदारसहजस्तामेव पश्यन्त्यमी ॥ २ ॥

एवमिति एवंगतः ईदृग्दशत्वमुपगतः ।

अहो इति—'अहो नु खलु' पदसमुदायोऽयं खेदमाह ।

शून्यत्वमेवोपपादयति-नागेन्द्रा इति । नागेन्द्राः गजमुख्याः यवसाभिलाषविमुखाः घासग्रासग्रहणपराङ्मुखाः, वाजिनः अश्वाः सास्रेक्षणाः सास्रे सबाष्पे ईक्षणे येषां ते तथोक्ताः, वाजिनः न केवलं सास्रेक्षणाः किन्तु हेषाशून्यमुखाः मूकाः हेषा अश्वशब्दस्तद्रहिता इत्यर्थः । सवृद्धवनिताबालाः वृद्धैर्वनिताभिर्बालैश्च सहिता पौरा जनाः पुरवासिनः त्यक्तहारकथाः विसृष्टभोजनवार्ताः सुदीनवदनाः अतिदीनमुखाः क्रन्दन्तश्च । सर्वेऽपीमे गजेन्द्रवाजिपौरजना अमी तामेव दिशं पश्यन्ति यया दिशा सदारसहजः सीतालक्ष्मणाभ्यामनुयातो रामो याति एतेन तेषां तं प्रति गाढानुराग-

---

प्रतीहारी—हाय, महाराज की ऐसी दशा ?

कञ्चुकी—श्रीमती जी, आप जायँ ।

प्रतीहारी—जाता हूँ ।

कञ्चुकी—(चारों ओर देखकर) जब से राम गये, तब से यह समूची अयोध्या सूनी दीख रही है ? क्योंकि--

गजराजों ने चारा खाना छोड़ दिया है, साश्रुनयन घोड़ों ने हिनहिनाना बन्द कर दिया है, नगरवासी बूढ़े, स्त्रियाँ, बच्चे, जवान--सबने भोजन की बात भुला दी है और जोर से रोने से उनका चेहरा उतर गया है । राम, सीता और लक्ष्मण जिधर गये हैं; सबकी आँखें टकटक उसी ओर लगी हैं ॥ २ ॥

यावदहमपि महाराजस्य समीपवर्ती भविष्यामि। (परिक्रम्यावलोक्य) अये! अयं महाराजो महादेव्या सुमित्रया च सुदुःसहमपि पुत्रविरह-समुद्भवं शोकं निगृह्यात्मानमेव संस्थापयन्तीभ्यामन्वास्यमानस्तिष्ठति। कष्टा खल्ववस्था वर्तते। एष एष महाराजः—

पतत्युत्थाय चोत्थाय हा हेत्युच्चैर्लपन् मुहुः।
दिशं पश्यति तामेव यया यातो रघूद्वहः॥ ३॥

(निष्क्रान्तः)

मिश्रविष्कम्भकः।

वत्ताऽभिहिता। आहारकथात्यागाभिधानेन पौराणां विमनायमानतोक्ता। स्पष्ट-मन्यत्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्, पूर्वमुक्तञ्च तल्लक्षणम्॥ २॥

महादेव्येति—महादेव्या कौसल्यया। सुदुःसहम् अत्यन्तासह्यम्। संस्थापय-न्तीभ्याम् आश्वासनादिना धारयन्तीभ्याम्।

पततीति—हा हा इति मुहुः उच्चैर्लपन् उच्चारयन् उत्थायोत्थाय पतति उत्तिष्ठति पुनश्च भूमौ पततीत्यर्थः। तामेव दिशं च पश्यति, यया दिशा रघूद्वहः रघुवंशश्रेष्ठो यात इत्यर्थः॥ ३॥

मिश्रविष्कम्भक इति—तल्लक्षणमुक्तं यथा—

'वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः॥

अच्छा अब मैं भी महाराज के पास चलूं, (घूमकर और देखकर) ऐं ये ही तो महाराज हैं, कौशल्या और सुमित्रा अत्यन्त असहनीय पुत्रशोक को भी किसी भाँति सहकर महाराज को आश्वासन देती हुई उनकी सेवा में लगी हैं। कैसी दर्दनाक दशा है। यह महाराज—

उठते हैं, गिरते हैं, फिर उठते हैं, हाय हाय की रट लगाये हुये हैं, फिर लड़खड़ाते हैं और उसी ओर एकटक निहार रहे हैं, जिधर से राम लक्ष्मण वन को गये हैं॥ ३॥

(प्रस्थान)

(मिश्रविष्कम्भक)

(वर्णित रूप में राजा और देवियों का प्रवेश)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा देव्यौ च)

राजा—**हा वत्स ! राम ! जगतां नयनाभिराम !**
हा वत्स ! लक्ष्मण ! सलक्षणसर्वगात्र ! ।
हा साध्वि ! मैथिलि ! पतिस्थितचित्तवृत्ते !
हा हा गताः किल वनं बत मे तनूजाः ॥ ४ ॥

चित्रमिदं भोः, यद् भ्रातृस्नेहात् पितरि विमुक्तस्नेहमपि तावल्लक्ष्मणं द्रष्टुमिच्छामि । वधु ! वैदेहि !

रामेणापि परित्यक्तो लक्ष्मणेन च गर्हितः ।
अयशोभाजनं लोके परित्यक्तस्त्वयाप्यहम् ॥ ५ ॥

हा वत्सेति । जगतां लोकानां नयनाभिराम लोचनरोचन, सलक्षणानि सामुद्रिकोक्तशुभलक्षणशालीनि सर्वाणि अशेषाणि गात्राणि अवयवा यस्य सः, सामुद्रिकोक्तशुभलक्षणोपेतसकलावयवस्तत्संबुद्धौ रूपम् । पत्यौ स्वामिनि स्थिता अविचलभावेन वर्त्तमाना (स्थितिप्रतिपादनं निष्ठाद्योतनार्थम्) चित्तवृत्तिर्यस्यास्तत्संबोधनम् । बतेति कष्टद्योतकम् । मे मम हतभाग्यस्य तनूजाः पुत्रा एते रामलक्ष्मणसीताः गता एव ममोपेक्षां कृत्वा वनं प्रस्थिता इति भावः । एतेन दशरथस्य वनगतान् तान् प्रति वात्सल्यातिशयः उक्तः । स्पष्टमन्यत् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥४॥

द्रष्टुमिच्छामि इति—आश्चर्यमिदं यत् पितुरपेक्षया भ्रातर्येवाधिकं स्निह्यतोऽपि लक्ष्मणस्य दर्शनाय मम हृदयं सोत्कण्ठमिति । औचित्यं तु न तथा तादृशस्याप्रीतिपात्रत्वादिति ।

रामेणापीति—रामेण तदभिधानेन, अपिशब्दात् पुत्रान्तरातिशायिनिरुपमपितृभक्तिशालितयाऽसम्भावितपितृपरित्यागव्यसनित्वं द्योत्यते । गर्हितः निन्दितः तिरस्कृत इति यावत् । तिरस्कारश्च आसन्नमरणं पितरमुपेक्ष्य भ्रातुरनुवृत्त्या सूचितः। अयशोभाजनम् अकीर्त्तिपात्रम् तत्त्वञ्चात्र रामोपमपुत्रविषये तादृशव्यवहारपरायणत्वरूपम् । त्वया वैदेह्या, अपिशब्देन वैदेह्याः श्वसुरेऽसाधारणभक्तियुक्तत्वेन तत्कर्तृक-

---

राजा—हा जननयनाभिराम राम, हा सर्वसुलक्षण लक्ष्मण, हा, स्वामिभक्ते सुविमलचरित्रे मैथिलि, शोक ! मेरे प्रिय बच्चे सचमुच बन को चले गये ॥ ४ ॥

ओह! यह कैसा आश्चर्य है कि लक्ष्मण ने भ्रातृस्नेहके आगे पितृस्नेह की तिलाञ्जलि देदी, फिरभी उसेदेखनेके लिए मेरा हृदय लालायित हो रहाहै । हेवैदेहि!

राम ने मुझे तज दिया, लक्ष्मण ने भी तिरस्कृत कर दिया, संसार में मैं अयशोभागी बना तो क्या तुमने भी मेरा त्याग ही कर दिया ? ॥ ५ ॥

पुत्र राम ! वत्स लक्ष्मण ! वधु वैदेहि ! प्रयच्छत मे प्रतिवचनं पुत्रकाः ! शून्यमिदं भोः ! न मे कश्चित् प्रतिवचनं प्रयच्छति । कौसल्यामातः ! क्वासि ?

सत्यसन्ध ! जितक्रोध ! विमत्सर ! जगत्प्रिय ! ।
गुरुशुश्रूषणे युक्त ! प्रतिवाक्यं प्रयच्छ मे ॥ ३ ॥

हा क्वासौ सर्वजनहृदयनयनाभिरामो रामः ? क्वासौ मयि गुर्वनुवृत्तिः ? क्वासौ शोकार्तेष्वनुकम्पा ? क्वासौ तृणवदगणितराज्यैश्वर्यः ? पुत्र ! राम ! वृद्धं पितरं मां परित्यज्य किमसम्बद्धेन धर्मेण ते कृत्यम् ? हा धिक् । कष्टं भोः ?

परित्यागस्य खेदावहत्वमुच्यते ॥ ५ ॥

पुत्रेति—पुत्रकाः रामसीतालक्ष्मणाः, पुत्री च पुत्रौ चेति विग्रहे पुमेकशेषः । अनुकम्पायां कन् । तेन चानुकम्पा चात्र पुत्रपुत्रवधूविरहस्यासह्यतोक्ता ।

सत्यसन्धेति—ध्यानसन्निधापितरामसम्बोधनानि सत्यसन्धेत्यादिना । सत्या अर्थादनपेता सन्धा प्रतिज्ञा यस्य तत्सम्बुद्धौ । जितक्रोध आत्मवशीकृतकोपवेग, वनवासहेतुभूतायां कैकेय्यामुचितस्यापि कोपस्य परित्यागसमभिधानान्माहात्म्यं रामस्य प्रकाश्यते । विगतो मत्सरोऽन्यशुभद्वेषो यस्य तत्सम्बोधने तथा । (अत एव) जगतां प्रिय प्रेमास्पद, गुरूणां पूजनीयानां पित्रादीनां शुश्रूषणे सेवायां युक्त तत्पर, मे मह्यम्, प्रतिवाक्यं प्रतिवचनम् प्रयच्छ देहि । अत्र जितक्रोध-विमत्सर-जगत्प्रियत्वादिप्रतिपादनेन प्रतिवचनस्यावश्यप्रदेयतोक्ता, गुरुशुश्रूषणे युक्तस्य गुर्वनुरोधानुध्यानस्यावश्यसम्पाद्यत्वं च ध्वनितम् । विशेषणसाभिप्रायत्वकृतः परिकरालंकारः । अनुष्टुबेव वृत्तम् ॥ ६ ॥

बेटा राम, वत्स लक्ष्मण, बहू वैदेहि, मेरे प्यारे लाडलो, वचनों का उत्तर तो दो । उफ, यहाँ तो सुनसान है, मेरे वचनों का कोई उत्तर ही नहीं देता । कौसल्यानन्दन, तुम कहाँ हो ।

हे सत्यप्रतिज्ञ, ऐ जितक्रोध, ऐ मात्सर्यशून्य, ऐ जगत्प्रिय, ऐ गुरुभक्त, मुझे प्रतिवचन तो दो ॥ ६ ॥

हाय, कहाँ है वह सर्वप्रिय राम ?, जो सबकी आँखों का सितारा था, कहाँ है वह मुझमें भक्ति ? कहाँ है वह शोकपीड़ितों पर दया दिखाने वाला ? कहाँ है वह राज्याधिकार को तिनका समझनेवाला ? बेटा राम, मुझ वृद्ध पिता को छोड़कर इस धर्मनिष्ठा को तुमने क्यों अपनाया ? हा धिक् , कैसा दारुण दुःख है ।

सूर्य इव गतो रामः सूर्यं दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः ।
सूर्यदिवसावसाने छायेव न दृश्यते सीता ॥ ७ ॥

(ऊर्ध्वमवलोक्य) भोः कृतान्तहतक !

अनपत्या वयं रामः पुत्रोऽन्यस्य महीपतेः ।

सूर्य इवेति—रामः सूर्य इव गतः दृष्टिवर्त्मबहिर्भूतः एतेन यस्य सूर्यस्येव पुनरुदयसम्भावनोक्ता (तादृशमस्तगतम्) सूर्यमिव रामं दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः, यथास्तमितं भास्वन्तं दिवसोऽनुगच्छति तथा वनं गतं रामं लक्ष्मणोऽनुसृतवानिति विवक्षितोऽर्थः । सूर्यश्च दिवसश्चेति सूर्यदिवसौ तयोरवसानेऽन्तर्धाने छायेव सीता न दृश्यते । अयमाशयः—यथा सूर्येऽस्तमिते दिवसोऽपसरति, तत्र चापसृते छायाऽनुविनश्यति, तथैव रामे प्रस्थिते लक्ष्मणस्तमनुगतः, तयोश्च प्रस्थाने छायेव सीता पृथक्पथमतीत्य स्थिताऽभूदिति । अत्रोपमात्रयम्, सूर्य इव राम इति प्रथमा, दिवस इव लक्ष्मण इति द्वितीया, छायेव सीतेति तृतीया । तत्र रामस्य सूर्योपमया प्रकाशातिशयेन प्रतापवत्ताऽऽधिक्यम्, तददर्शनस्य मोहसमयत्वम्, सकलकार्यविरामश्चेत्यादयोऽर्था व्यक्ताः । लक्ष्मणस्य च दिवसोपमया रामेण समं प्रयाणस्य स्वभावसिद्धत्वमावेदितम्, सीतायाश्छायोपमया च तस्या अतिशयितपत्यनुवृत्तिलक्षणं चारित्रं प्रकटीकृतम् । किञ्च सूर्यस्यास्तमितस्यापि यथा पुनरुदयस्तत्सम्बन्धेन च दिवसश्रियो यथा पुनरनुवृत्तिश्छायायाश्च पुनर्यथा गृहाङ्गणालङ्करणभावस्तथा तेषामपि पुनरावृत्तिरिति च सर्वत्र प्रतिपाद्यमिति ॥ ७ ॥

कृतेति—कृतान्तहतक कालहतक, हतकपदं निन्दाद्योतनार्थम् ।

कृतान्तहतक इत्युक्तं तत्र तस्य हतकत्वमकार्यकारित्वादिति, तदाह—**अनपत्या इति** । त्वया एतत् त्रयं किं कुतो न कृतम्, अवश्यकरणीयमिदं त्रयं कुतः परित्यक्तं यतश्च परित्यक्तं ततस्त्वं निन्द्य इति । तदेव त्रयं विवरीतुमाह—अनपत्या इति । वयमहमित्यर्थः, अनपत्याः सन्तानरहिताः रामस्तदाख्यः, अन्यस्य परस्य महीपतेः

सूर्य की भाँति राम चला गया, सूर्य के पीछे दिन की तरह लक्ष्मण भी चला गया । सूर्य और दिन के चले जाने पर छाया की तरह सीता भी नहीं दीख पड़ती ॥ ७ ॥

(ऊपर की ओर देखकर) अरे दुर्दैव—

(इससे अच्छा तो यही होता कि) तुम मुझे निस्सन्तान, राम को किसी दूसरे

वने व्याघ्री च कैकेयी त्वया किं न कृतं त्रयम् ? ॥ ८ ॥

कौसल्या—(सरुदितम्) अलमिदानीं महाराजोऽतिमात्रं सन्तप्य पर-
अलं दाणिं महाराओ अदिमत्तं सन्तप्पिअ पर-
वशमात्मानं कर्तुम्। ननु सा तौ च कुमारौ महाराजस्य
वसं अत्ताणं कादुं । णं सा ते अ कुमारा महाराअस्स
समयावसाने प्रेक्षितव्या भविष्यन्ति।
समआवसाणे पेक्खिदव्वा भविस्सन्ति।

राजा—का त्वं भो ?

कौसल्या—अस्निग्धपुत्रप्रसविनी खल्वहम्।
असिणिद्धपुत्तप्पसविणी खु अहं।

राज्ञः पुत्रः सुत इति, तथा कैकेयी तदाख्या मम मध्यमा भार्या, वने अरण्ये व्याघ्री व्याघ्रयोनिजाता; इति त्रयं कुतो न कृतमिति पूर्वेणान्वयः। अयमाशयः-यदि वयमनपत्याः कृता अभविष्याम तर्हि गुणवत्तमपुत्रपरित्यागावसरलाभेन नातप्स्यामेति, रामस्य चान्यनृपतिकुमारत्वे पुत्रोचितलालनस्थाने वनवासकष्टं नापतिष्यत् कैकेय्याश्चेदृशक्रूरसत्वायाः काननव्याघ्रीभाव एवोचित इति त्रयमप्याशंसनमुपपन्नमेव। स्पष्टमन्यत् ॥ ८ ॥

समयावसाने समयस्य चतुर्दशवर्षात्मकस्य वनवासावधेरवसाने समाप्तौ, प्रेक्षितव्याः आलोकनीयाः।

का त्वमिति—जरसोपहतदृष्टितया रामादिविरहजनिताश्रुपूर्णलोचनतया वा राज्ञः समीपस्थेऽपि जने तथा प्रश्नः।

अस्निग्धेति—अस्निग्धः स्नेहशून्यः,तत्त्वञ्च वृद्धौ जननीजनकौ परित्यज्य वनगमनादुपपद्यते। अथवा राज्ञा वनवासाज्ञाप्रदानात्तदप्रीतिपात्रत्वेनास्निग्धत्वमभिप्रेतम्।

राजा का पुत्र और कैकेयी को वनव्याघ्री बनाते। फिर तुमने ये तीनों कार्य क्यों न किये ? ॥ ८ ॥

कौसल्या—(रोती हुई) महाराज, अब अधिक खेद न करें, बहुत विलाप करके अपना धीरज न खोवें। चौदह वर्षों के बीत जाने पर तो आप सीता और राम-लक्ष्मण को देखेंगे ही।

राजा—तुम कौन हो ?

कौसल्या—मैं उसी अप्रिय पुत्र की जननी हूँ।

राजा—किं किं सर्वजनहृदयनयनाभिरामस्य रामस्य जननी त्वमसि कौसल्या ?

कौसल्या—महाराज ! सैव मन्दभागिनी खल्वहम् ।

महाराअ ! सा एव मन्दभाइणी खु अहं ।

राजा—कौसल्ये ! सारवती खल्वसि । त्वया हि खलु रामो गर्भे धृतः ।

अहं हि दुःखमत्यन्तमसह्यं ज्वलनोपमम् ।
नैव सोढुं न संहर्तुं शक्नोमि मुषितेन्द्रियः ॥ ९ ॥

(सुमित्रां विलोक्य) इयमपरा का ?

कौसल्या—महाराज ! वत्सलक्ष्मण—(इत्यर्धोक्ते)

महाराअ ! वच्छलक्खण—

राजा—(सहसोत्थाय) क्वासौ क्वासौ लक्ष्मणः ? न दृश्यते । भोः कष्टम् ।

(देव्यौ ससंभ्रममुत्थाय राजानमवलम्बेते)

मन्दभागिनीति-मन्दभागिनी हतभाग्या, तत्त्वं च पुत्रप्रवासक्लेशोपनिपातात् ।

सारवतीति—सारवती सारं प्रशस्तं वस्तु रामनामकं तद्वती मतुबर्थः सम्बन्धः, स चात्र जन्यजनकभावलक्षणो वेदितव्यः ।

अहमिति—अहं नितान्तमसह्यं सोढुमशक्यम्, ज्वलनोपमम् अग्नितुल्यं तत्तुलना च सन्तापप्रदानात् । दुःखं प्रियतमपुत्रप्रवासात् समुत्पन्नं क्लेशम् **नैव सोढुं** मर्षयितुम् शक्नोमि; न संहर्तुं प्रतिक्रिययाऽपनेतुं शक्नोमि, तत्र कारणमाह-मुषितेन्द्रिय इति । मुषितानि; उपहतसामर्थ्यानि इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियाणि यस्य तथाभूतः । इन्द्रियोपहतौ परिच्छेदाभावेन सहनप्रतिकारयोरुभयोरशक्यसम्पादनत्वादिति भावः ॥ ९ ॥

राजा—क्या कहा ? तुम सर्वनयनाभिराम राम की माता कौसल्या हो ?

कौसल्या—हाँ महाराज, मैं वही अभागिन हूँ ।

राजा—कौसल्या, नहीं तुम धन्य हो । तुमने तो राम को गर्भ में धारण किया । अभागा तो मैं हूँ, जो अग्नि के समान अत्यसह्य इस दुःख को न सह सकता हूँ और न दूर कर सकता हूँ । मेरे इन्द्रियगण शून्य हो गये हैं ॥ ९ ॥

(सुमित्रा की ओर देखकर) यह दूसरी कौन है ?

कौसल्या—महाराज, वत्स लक्ष्मण—

राजा—(सहसा उठकर) कहाँ है ? कहाँ है वह लक्ष्मण ? नहीं दीखता है । बड़ी तकलीफ है ।

(दोनों रानियाँ हड़बड़ाकर उठती और राजा को संभालती हैं)

कौसल्या—महाराज ! वत्सलक्ष्मणस्य जननी सुमित्रेति वक्तुं मयो-

महाराअ ! वच्छलक्खणस्स जणणी सुमित्तत्ति वत्तुं मए

प्रक्रान्तम् ।

उवक्कन्दं ।

राजा—अयि सुमित्रे !

तथैव पुत्रः सत्पुत्रो येन नक्तन्दिवं वने ।
रामो रघुकुलश्रेष्ठश्छाययेवानुगम्यते ॥ १० ॥

(प्रविश्य)

काञ्चुकीय:—जयतु महाराजः । एष खलु तत्रभवान् सुमन्त्रः प्राप्तः ।

राजा—(सहसोत्थाय सहर्षम्) अपि रामेण ?

तवैवेति—तव सुमित्रायाः पुत्रो लक्ष्मण एव सत्पुत्रः प्रशंसाभाजनं तनयः । तस्य प्रशंसायां कारणमाह—येनेति । येन लक्ष्मणेन वने रघुकुलश्रेष्ठः रघुवंशावतंसो रामः नक्तंदिवं दिवानिशम्, छाययेवानुगम्यते । अत्र लक्ष्मणस्य छायोपमायां लिङ्ग-भेदेन 'सुधेव विमलश्चन्द्रः' इत्यत्रेवालङ्कारदोषो नोद्भाव्यः, तत्र सामान्यधर्मस्य पुंल्लिङ्गविमलपदप्रतिपाद्यत्वेन तेन रूपेणोपमानोपमेययोरुभयोरन्वेतुमयोग्यतया दोष-स्वीकारेऽपि पक्षेऽस्मिन्ननुगम्यत इति क्रियायाः सामान्यधर्मत्वेनोभयत्रान्वययोग्यत्वात् तया दोषानुपनिपातात् । उक्तञ्च—'न लिङ्गवचने भिन्ने न न्यूनाधिकते तथा । उप-मादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥' इति । दृश्यते लिङ्गभेदेऽपि सादृश्येनोपनिबन्धो बाणेन कृतः, तद्यथा—'आयतनयननदीसीमान्तसेतुबन्धेन'······इति ॥ १० ॥

अपि रामेणेति—अत्र रामेण सह प्राप्त इति विवक्षा, सहार्थशब्दयोगाभावेऽपि तृतीया 'वृद्धो यूने'त्यादाविव तदध्याहारसाध्या ।

कौसल्या—महाराज, मैं तो यह कह रही थी कि यह वत्स लक्ष्मण की माता सुमित्रा है ।

राजा—सुमित्रे,

तेरा ही पुत्र सत्पुत्र है, जो छाया की भाँति रात-दिन वन में रघुकुलश्रेष्ठ राम के पीछे-पीछे चलता है ॥ १० ॥

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—जय हो महाराज की । यह आर्य सुमन्त्र आ गये ।

राजा—(झट उठकर हर्ष से) क्या राम के साथ ?

काञ्चुकीयः—न खलु, रथेन।

राजा—कथं कथं रथेन केवलेन ? (इति मूर्च्छितः पतति)

देव्यौ—महाराज ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि। (गात्राणि परामृशतः)

महाराअ ! समस्ससिहि समस्ससिहि।

काञ्चुकीयः—भोः ! कष्टम्। ईदृग्विधाः पुरुषविशेषा ईदृशीमापदं प्राप्नुवन्तीति विधिरनतिक्रमणीयः महाराज ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि !

राजा—(किञ्चित् समाश्वस्य) बालाके ! सुमन्त्र एक एव ननु प्राप्तः ?

काञ्चुकीयः—महाराज ! अथ किम्।

राजा—कष्टं भो !

शून्यः प्राप्तो यदि रथो भग्नो मम मनोरथः।
नूनं दशरथं नेतुं कालेन प्रेषितो रथः॥ ११॥

मूर्च्छितः असंज्ञः, तथाभावश्च रामशून्यरथागमनश्रवणेन रामपरावृत्याशातन्तुच्छेदाद् बोध्यः।

ईदृग्विधाः ईदृशाः, लोकोत्तरत्वं मनसिकृत्येत्यमुक्तम्। विधिः भवितव्यता, अनतिक्रमणीयः अनुलङ्घनीयः।

शून्य इति-शून्यः जनानधिष्ठितः, रथः यदि प्राप्त आयातस्तर्हि मम मनोरथो रामपरावृत्तिलक्षणो भग्नस्त्रुटितः। एतन्मनोरथभङ्गस्य च मन्मृत्युनिदानत्वमित्याह-नूनमिति। दशरथं नेतुं कालेन यमेन रथः प्रेषितो नूनम्। नूनं पदमुत्प्रेक्षायाम्।

कञ्चुकी—नहीं, खाली रथ लेकर ?

राजा—क्या कहा ? खाली रथ लेकर ? (मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है)

दोनों रानियाँ—महाराज, धीरज धरें, धीरज धरें। (महाराजकी देह सहलाती हैं)

कञ्चुकी—हाय, कैसा दारुण दुःख है ? ऐसे महापुरुष को भी इस प्रकार की आपत्ति सहनी पड़ती है। सचमुच, भवितव्यता किसी से नहीं टाली जा सकती।

राजा—(कुछ सँभलकर) बालाकि, क्या सुमन्त्र अकेले ही आये हैं ?

कञ्चुकी—जी हाँ।

राजा—हा शोक !

रथ का खाली लौटना मेरे मनोरथ का टूटना है। जान पड़ता है कि—काल ने दशरथ को बुला लाने के लिये ही यह रथ भेजा है॥ ११॥

तेन हि शीघ्रं प्रवेश्यताम् ।

काञ्चुकीयः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रान्तः)

राजा—धन्याः खलु वने वातास्तटाकपरिवर्तिनः ।
विचरन्तं वने रामं ये स्पृशन्ति यथासुखम् ॥ १२ ॥

(ततः प्रविशति सुमन्त्रः)

सुमन्त्रः—(सर्वतो विलोक्य सशोकम्)

एते भृत्याः स्वानि कर्माणि हित्वा स्नेहाद् रामे जातबाष्पाकुलाक्षाः।
चिन्तादीनाः शोकसन्दग्धदेहा विक्रोशन्तं पार्थिवं गर्हयन्ति ॥१३॥

ततश्च शून्यरथप्रेषणस्यानयनार्थितया यमकृतं शून्यरथप्रेषणं दशरथानयनार्थमेवेति गम्यते ॥ ११ ॥

धन्या इति-तटाकपरिवर्तिनः पद्माकरपरिवर्त्तनशीलाः वने वाताः कानन-मारुताः धन्याः खलु । धन्यत्वमेव समर्थयितुमुपन्यस्यति—विचरन्तमिति । ये वाताः वने विचरन्तं विहरन्तं रामं यथासुखं यथेच्छं स्पृशन्ति आलिंगन्ति, रामदेह-स्पर्श एव वातान् धन्यान् करोतीत्युक्त्या तद्विरहितस्य स्वस्याधन्यत्वमुक्तम्। स्मरामि चात्र पद्ये दृष्टे—'धन्याः खलु वने वाताः कह्लारस्पर्शशीतलाः । राममिन्दीवर-श्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः ॥' इति ॥ १२ ॥

एते भृत्या इति—एते भृत्याः स्वानि कर्माणि स्वनियोगान् हित्वा परित्यज्य रामे विषये स्नेहात् भावबन्धात् जातबाष्पाकुलाक्षाः सञ्जातबाष्पकलुषनेत्राः, चिन्तादीनाः चिन्तया मलिनाः, शोकसन्दग्धदेहाः रामविरहजनितखेदाग्निज्वलित-वपुषः विक्रोशन्तं बहु विलपन्तं पार्थिवं गर्हयन्ति निन्दन्ति ॥ १३ ॥

अच्छा तो शीघ्र ही अन्दर बुलाओ।

कन्चुकी—जो महाराज की आज्ञा। (प्रस्थान)

राजा—सरोवरों से होकर गुजरनेवाली वन की हवायें ही धन्य हैं, जो वन में विचरते हुए राम को स्वेच्छा से आलिङ्गन करती हैं ॥ १२ ॥

(सुमन्त्र का प्रवेश)

सुमन्त्र—(चारों ओर देखकर शोक से)

राम के स्नेह से उदश्रु, चिन्ता से म्लानमुख, शोक के मारे दग्धहृदय ये नौकर चाकर भी अपने-अपने कार्यों को छोड़ 'राम राम' की रट लगाते हुए महाराज को धिक्कार रहे हैं ॥ १३ ॥

(उपेत्य) जयतु महाराजः ।

राजा—भ्रातः ! सुमन्त्र !

क मे ज्येष्ठो रामः—

न हि न हि युक्तमभिहितं मया ।

क ते ज्येष्ठो रामः प्रियसुत ! सुनः सा क दुहिता
विदेहानां भर्तुर्निरतिशयभक्तिर्गुरुजने ।
क वा सौमित्रिर्मां हतपितृकमासन्नमरणं
किमप्याहुः किं ते सकलजनशोकार्णवकरम् ॥ १४ ॥

क मे ज्येष्ठ इति—हे प्रियसुत, सुमन्त्र मे ज्येष्ठः सुतः रामः क ? इति प्रष्टुमुपक्रान्तम्, मध्ये मन्दभाग्यस्य स्वस्य रामेण सह सम्बन्धं परिजिहीर्षन्निवाह—**क ते ज्येष्ठ इति** । ते तव (वनगमनकालेऽनुवृत्त्या प्रियसुतत्वं व्यञ्जितवतस्तव, न तु वनवासाज्ञाप्रदानेन निर्घृणस्य मम) ज्येष्ठः प्रथमः पुत्रो रामः क ? कुत्रोद्देशे वर्त्तत इति जिज्ञासा । गुरुजने श्वशुरादौ निरतिशयभक्तिः सर्वातिशायिभक्तिसंवलिता विदेहानां मिथिलामहीमहेन्द्राणां शासने स्थितानां देशविशेषाणां भर्त्तुर्जनकस्य दुहिता सुता सीता च क ? सुमित्राया अपत्यं पुमान् सौमित्रिः लक्ष्मणः वा क ? किं ते रामलक्ष्मणसीताख्यास्त्रयोऽपि जनाः सकलजनशोकार्णवकरम् अखिललोकखेदसमुद्रोत्पादकम् (तत्त्वं च रामवनवासाज्ञाप्रदानात्खेदावसरसमर्पणाद्युज्यते) आसन्नं सन्निहितं मरणं यस्य तं मुमूर्षुमित्यर्थः । हतपितृकम् अभाग्यभाजनं निजं जनकं मां ते किमप्याहुः किमपि सन्दिदिशुः ? अथ तथा त्वरितमभिधीयतामिति तदाऽऽशयः । शिखरिणीवृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति ॥ १४ ॥

(पास आकर) जय हो महाराज की ।

राजा—भाई सुमन्त्र,

कहाँ है मेरा बेटा राम ?

नहीं नहीं, मैंने ठीक नहीं कहा,

कहाँ है तुम्हारा बेटा राम ? ऐ राम को प्यार करनेवाले, कहाँ है वह गुरुजनों पर निरतिशय श्रद्धा रखनेवाली सीता ? कहाँ है वह सुमित्रा की आँखों का तारा ? क्या उन्होंने सबके लिए शोकप्रद, आसन्नमृत्यु मुझ अभागे पिता को कुछ संवाद कहा ? ॥ १४ ॥

सुमन्त्रः—महाराज ! मा मैवममङ्गलवचनानि भाषिष्ठाः । अचिरादेव तान् द्रक्ष्यसि ।

राजा—सत्यमयुक्तमभिहितं मया । नायं तपस्विनामुचितः प्रश्नः । तत् कथ्यताम् । अपि तपस्विनां तपो वर्धते ? अप्यरण्यानि स्वाधीनानि विचरन्ती वैदेही न परिखिद्यते ?

सुमित्रा—सुमन्त्र ! बहुवल्कलालङ्कृतशरीरा बालाऽप्यबालचारित्रा
सुमन्त ! बहुवक्कलालङ्किदसरीरा वालादि अवालचरित्ता
भर्तुः सहधर्मचारिणी अस्मान् महाराजं च किञ्चिन्नालपति ?
भत्तुणो सहधम्मआरिणी अम्हे महाराअं च किञ्चि णालवादि ।

सुमन्त्रः—सर्वा एव महाराजम्—

राजा—न न । श्रोत्ररसायनैर्मम हृदयातुरौषधैस्तेषां नामधेयैरेव श्रावय ।

अमङ्गलवचनानि अशुभसूचकवाक्यानि । तत्त्वञ्च राजोक्तौ आसन्नमरणत्वाद्यभिधानेन बोध्यम् ।

तपस्विनां नागरभोगजिहासया तापसत्व परिगृहीतवतां रामादीनां त्रयाणाम् । तपो बर्द्धते नियमादिकं निर्विघ्नमनुष्ठीयते । स्वाधीनानि स्वभर्तृभुजवीर्यगुप्तिवशाद् आत्मवशे स्थितानि, अकुतोभयसञ्चाराणीति यावत् ।

बहुवल्कलालङ्कृतशरीरा अधिकसङ्ख्यकवल्कलवासिनी, एतेन सीतायाः शरीरवन्धनव्यञ्जकेन कार्यतत्परतोक्तिमुखेन प्रौढिरुक्ता । बाला अल्पवयस्का, अबालचारित्रा प्रौढव्यवहारा ।

न नेति निषेधश्चैष संवादप्रेषकपुत्रप्रेमपराधीनस्य राज्ञः तेषां सर्वनाम्ना निर्देशश्या-

---

सुमन्त्र—महाराज, आप ऐसे अमङ्गल वचन अपने मुख से न निकालें । आप उन्हें शीघ्र देखेंगे ।

राजा—सचमुच मैंने ठीक नहीं कहा । तपस्वियों के विषय में ऐसे प्रश्न ठीक नहीं । अच्छा बताओ—तपस्वियों का तप तो निर्विघ्न है ? वन में निश्शङ्क विचरती हुई वैदेही थकती तो नहीं ?

सुमित्रा—सुमन्त्र, बहुत वल्कलों से भूषितशरीरा बाला होकर भी आदर्शचरित्रा, पतिसहचारिणी वह पतिव्रता सीता हमलोगों तथा महाराज को कुछ कह तो न रही थी ?

सुमन्त्र—सबने महाराज को········

राजा—नहीं नहीं, कर्णरसायन तथा आतुर हृदय के लिये जीवनौषधिस्वरूप

सुमन्त्रः—यदाज्ञापयति महाराजः। आयुष्मान् रामः।

राजा—राम इति। अयं रामः। तन्नामश्रवणात् स्पष्ट इव मे प्रतिभाति। ततस्ततः।

सुमन्त्रः—आयुष्मान् लक्ष्मणः।

राजा—अयं लक्ष्मणः। ततस्ततः।

सुमन्त्रः—आयुष्मती सीता जनकराजपुत्री।

राजा—इयं वैदेही। रामो लक्ष्मणो वैदेहीत्ययमक्रमः।

सुमन्त्रः—अथ कः क्रमः?

राजा—रामो, वैदेही लक्ष्मण इत्यभिधीयताम्।

रामलक्ष्मणयोर्मध्ये तिष्ठत्वत्रापि मैथिली।

सह्यताव्यञ्जकतयाव्यग्रताव्यञ्जकः। श्रोत्ररसायनैः,श्रुतिप्रियैः हृदयातुरौषधैःमानसिक। व्यथाप्रशमनपटुभिः। एष चार्थ आतुरपदस्य भावप्रधानस्याश्रयणेन लभ्य इति बोध्यम्

अक्रमः अनुपयुक्तः क्रमः, सीताया मध्यनिर्देशस्येष्यमाणत्वेनैवमुक्तम्।

रामलक्ष्मणयोरिति—'रामो लक्ष्मणः सीता' इत्यस्याभिधानस्याक्रमत्वं ब्रुवाणेन राज्ञा 'रामः सीता लक्ष्मणः' इत्ययं क्रमो निजाभिलषितो व्यक्तीकृतः, तदुपपत्तिमत्राह—अत्रापीति। मैथिली सीता अत्र नामधेयनिर्देशावसरेऽपि रामलक्ष्मणयोर्मध्ये तिष्ठतु, एकतो रामस्य नामान्यतश्च लक्ष्मणस्य नामाभिधीयमानं सीताया मध्येऽभिधीयमानं नामावृणोत्वित्यर्थः। अत्रापीत्यपिना नामधेयनिर्देशेऽपि मध्यगत्वेनाभिप्रेतायाः सीताया वनवासावस्थायां सर्वदैव रामलक्ष्मणान्तरालवर्त्तित्वमभिप्रेत-

---

प्रत्येक का नाम लेकर उनके संवाद सुनाओ।

सुमन्त्र—चिरंजीवी राम।

राजा—अच्छा राम, यह राम, राम का नाम सुन लेने से ऐसा जान पड़ता है मानो हमने उसे छाती से लगा लिया हो। हाँ फिर?

सुमन्त्र—चिरञ्जीवी लक्ष्मण।

राजा—चिरंजीवी लक्ष्मण अच्छा आगे।

सुमन्त्र—आयुष्मती जनकनन्दिनी सीता।

राजा—यह सीता! 'राम, लक्ष्मण, सीता' यह क्रम तो ठीक नहीं।

सुमन्त्र—तो फिर कौन-सा क्रम ठीक होगा?

राजा—राम, सीता, लक्ष्मण ऐसा कहिये।

यहाँ नामोच्चारण में भी मैथिली राम और लक्ष्मण दोनों के बीच में ही रहे,

बहुदोषाण्यरण्यानि सनाथैषा भविष्यति ॥ १५ ॥

सुमन्त्रः—यदाज्ञापयति महाराजः । आयुष्मान् रामः ।

राजा—अयं रामः ।

सुमन्त्रः—आयुष्मतो जनकराजपुत्री ।

राजा—इयं वैदेही ।

सुमन्त्रः—आयुष्मान् लक्ष्मणः ।

राजा—अयं लक्ष्मणः । राम ! वैदेही ! लक्ष्मण ! परिष्वजध्वं मां पुत्रकाः ।

सकृत् स्पृशामि वा रामं, सकृत् पश्यामि वा पुनः ।
गतायुरमृतेनेव जीवामीति मतिर्मम ॥ १६ ॥

मभिव्यज्यते । तत्र कारणमाह—बहुदोषाणीति । अरण्यानि वनानि बहुदोषाणि नानाविधभयानि, अत एव पालकसापेक्षनिवासानीति एवं स्थिता, चैषा सनाथा उभयदिगवस्थितरामलक्ष्मणरूपपतिदेवरपालितत्वेन निर्भयावस्थाना । एतत्सर्वं दशरथस्य मनोदशां विवृण्वत् वात्सल्यातिशयं पोषयति ॥ ५ ॥

परिष्वजध्वम् आलिङ्गत ।

स्वोक्तेरावश्यकत्वं व्यञ्जयितुमाह—**सकृदिति** । सकृत् एकवारं रामं स्पृशामि वा पुनः सकृत् तं पश्यामि; (रामदर्शनस्पर्शनयोरभिप्रेयमाणताप्रतिपादनेन वात्सल्यपोषः) तत्फलमाह—गतायुरिति । गतायुः मुमूर्षुः यथा अमृतेनास्वादितेन जीवति तथा रामस्य दर्शनेन स्पर्शनेन वा मया जीवितव्यम् । इति मम मे मतिः निश्चयात्मिका बुद्धिः उपमया स्वस्यावश्यम्भाविमरणमुच्यते स्पष्टमन्यत् ॥ १३ ॥

क्योंकि वन में बहुत से भय हुआ करते हैं, दोनों के बीच में रहने से वह निरापद रहेगी ॥ १५ ॥

सुमन्त्र—जो महाराज की आज्ञा । चिरंजीवी राम ।

राजा—यह राम ।

सुमन्त्र—आयुष्मती जनकनन्दिनी सीता ।

राजा—यह सीता ।

सुमन्त्र—चिरंजीवी लक्ष्मण ?

राजा—यह लक्ष्मण । राम, सीता, लक्ष्मण, आओ मुझसे लिपट जाओ, मेरे प्यारे बच्चों ।

मैं फिर कभी न कभी रामसे मिलूंगा, उसे देखकर आँखें शीतल करूँगा, इस सम्भावनासे मैं उसी प्रकार जी रहा हूँ, जैसे आसन्नमरण जीव अमृत की बूंदोंसे॥

सुमन्त्रः--शृङ्गवेरपुरे रथादवतीर्यायोध्याभिमुखाः स्थित्वा सर्व एव महाराजं शिरसा प्रणम्य विज्ञापयितुमारब्धाः ।

कमप्यर्थं चिरं ध्यात्वा वक्तुं प्रस्फुरिताधराः ।
बाष्पस्तम्भितकण्ठत्वादनुक्त्वैव वनं गताः ॥ १७ ॥

राजा--कथमनुक्त्वैव वनं गताः ? (इति द्विगुणं मोहमुपगतः)

सुमन्त्रः--(ससम्भ्रमम्) बालाके ! उच्यताममात्येभ्यः--अप्रतीकारायां दशायां वर्तते महाराज इति ।

विज्ञापयितुम्--सन्देष्टुम्, आरब्धाः आरब्धवन्तः अत्र कर्त्तरि क्तस्य मूलं मृग्यम् । **कमपीति** । कमपि पितरि श्रद्धां धारयद्भिः पुत्रैस्तथाविधायां स्थितौ पितुराश्वासनायोपयुज्यमानं संदेशनीयम् अर्थं (वनवासस्य तातवचनपालनावसरप्रदायित्वेन नानानदनदीकाननसुखविहारावसरसमर्पकत्वेन चास्माकं कृते प्रमोदावहत्वमेवेत्थं रूपः, अयोध्यावासावस्थायां भवच्चरणशुश्रूषणावसरोऽस्माभिरनुदिनं लभ्यते स्म, इदानीं स विच्छिद्यमानोऽपि पुनर्नालभ्य इति कियन्ति हायनानि भवता स्वीयो वृद्धो देहो न विषद्य विषादनीयः इत्येवंविधो वान्यादृशो वात्र सन्देशार्थः) चिरं बहुकालं ध्यात्वा वक्तुं प्रस्फुरिताधराः प्रचलितोष्ठपुटाः अधरस्फुरणानुमितवचनप्रयत्ना अपीति यावत्, बाष्पस्तम्भितकण्ठत्वात् सद्यः प्रियपितृपरिजनादिवियोगप्रभवेन स्तम्भितो निरुद्धव्यापारः कण्ठो यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् अनुक्त्वा चिन्तितमपि असन्दिश्यैव वनं गताः । एतेन तेषामवचनस्य शोकवेगपराहतचित्तताप्रसूतत्वेन कारणान्तरजन्यता निरस्ता, दशरथादीन् प्रति तेषां भावातिशयश्च व्यञ्जितः॥१७॥

अनुक्त्वैवेति--मया जनितस्य वनवासात्मकखेदस्यातिभूमिप्राप्तिरेव वचनप्रतिबन्धकरीति कथमहमेव तथा भावे निदानमिति राज्ञो भावः, अत एव च द्विगुणमोहोपगतिसङ्गतिः ।

सुमन्त्र--शृङ्गवेरपुर में रथ से उतर कर अयोध्या की ओर मुख करके सब ने महाराज को सन्देश कहने का उपक्रम किया ।

न जाने कौन-सी बात बड़ी देर तक सोचते रहे, कुछ कहने के लिये उनके ओठ फड़के, किन्तु अश्रुवेग से कण्ठावरोध हो जाने के कारण बिना कुछ कहे ही वे वन चले गये ॥ १७ ॥

राजा--क्या, बिना कुछ कहे वन चले गये ? (यह कहकर घोर मूर्च्छा में पड़ जाता है)

सुमन्त्र--(हड़बड़ाहट के साथ) बालाकि, मन्त्रियों से जाकर कहो कि

काञ्चुकीयः—तथा । (निष्क्रान्तः)

देव्यौ—महाराज ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

महाराअ ! समस्ससिहि समस्ससिहि ।

राजा—(किञ्चित् समाश्वस्य)

अङ्गं मे स्पृश कौसल्ये ! न त्वां पश्यामि चक्षुषा ।
रामं प्रति गता बुद्धिरद्यापि न निवर्तते ॥ १८ ॥

पुत्र ! राम ! यत् खलु मया सन्ततं चिन्तितम्—

राज्ये त्वामभिषिच्य सन्नरपतेर्लाभात् कृतार्थाः प्रजाः
कृत्वा, त्वत्सहजान् समानविभवान् कुर्वात्मनः सन्ततम् ।
इत्यादिश्य च ते, तपोवनमितो गन्तव्यमित्येतया

अंगमिति । कौसल्ये, मे मम अंगं शरीरं स्पृश (येन त्वां सन्निहितां प्रतीत्य किंचिदाश्वासितहृदयत्वेन युज्येय) त्वां चक्षुषा उपहतदर्शनसामर्थ्येन नेत्रेण न पश्यामि (अथानेन विपदुपनिपातेन यदि मदीया दर्शनशक्तिर्नालोप्स्यत तदा तु दर्शनेनैव तव सान्निध्यं ज्ञात्वाङ्गस्पर्शनेन त्वां स्वसान्निध्यसूचनाय नाक्लेशयिष्य-मिति भावः) रामं प्रति तद्विषये गता (न तु प्रेषिता, एतेन राज्ञो विवशत्वमुक्तम्) अद्यापि अधुनाऽपि न निवर्त्तते न परावर्त्तते । एवञ्च बुद्धिविरहितस्य ममाकार्य-कारित्वव्यावृत्तयेऽपि तवात्रावस्थानं प्राप्तावस्थानमिति भावः ॥

राज्ये त्वामिति । त्वां राज्ये नृपाधिकारेऽभिषिच्य व्यवस्थाप्य सन्नरपतेः प्रशंसास्पदस्य त्वद्रूपस्य राज्ञो लाभात् प्रजाः प्रकृतिजनान् कृतार्थाः कृतकृत्याः कृत्वा विधाय त्वत्सहजान् तव सहजनुषो भरतादीन् भ्रातॄन् समानविभवान् स्वतुल्यभोग्या-र्थसम्पदधिकारिणः कुर्विति च ते तुभ्यमादिश्य व्याहृत्य इतोऽयोध्यायाः तपोवनं

महाराज की दशा असाध्य हो चुकी है ।

कन्चुकी—जो आज्ञा । (जाता है)

दोनों रानियाँ—महाराज, धीरज धरें, धीरज धरें ।

राजा—(कुछ सँभलकर)

कौसल्या, मेरे अङ्गों पर हाथ फेरो, मुझे तुम नहीं दीखती हो । राम की ओर गया हुआ मेरा हृदय अभी नहीं लौट रहा है ॥ १८ ॥

बेटा राम, मैं सदा सोचता आ रहा था कि—

तुम्हें राजगद्दी पर बैठाकर, प्रजावर्ग को उत्तमराजा के लाभ से कृतार्थ कर और तुम्हें यह कहकर कि 'अपने भाइयों को सदा स्वसदृश ऐश्वर्यशाली बनाये रखना'

कैकेय्या हि तदन्यथा कृतमहो निःशेषमेकक्षणे ॥ १९ ॥

सुमन्त्र ! उच्यतां कैकेय्याः—

गतो रामः, प्रियं तऽस्तु, त्यक्तोऽहमपि जीवितैः ।

क्षिप्रमानीयतां पुत्रः, पापं सफलमस्त्विति ॥ २० ॥

सुमन्त्रः—यदाज्ञापयति महाराजः ।

राजा—(ऊर्ध्वमवलोक्य) अये ! रामकथाश्रवणसन्दग्धहृदयं मामाश्वासयितुमागताः पितरः । कोऽत्र ?

(प्रविश्य)

तपसे समुपयुज्यमानं किमपि काननं गन्तव्यमिति (यन्मया सन्ततं चिन्तितम्) तत् चिन्तितं वस्तु निश्शेषम् अखिलम् कैकेय्या अहो एकक्षणे क्षणमात्रेण अन्यथाकृतम् विपरीततां गमितम् । अहो कष्टम् ! पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकस्य स्वस्य वनगमने चिन्त्यमाने पुत्रस्यैव वनगमनं विपरीत सद्व्ययकमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

गत इति । रामः गतः, वनमिति योजनीयम् । ते प्रियमस्तु त्वं तद्वनगमनश्रवणेन प्रीता भव । पुत्रः भरतः क्षिप्रमानीयताम् अविलम्बमाकार्यताम्, पापं रामनिर्वासनस्वरूपम्, सफलं भरताभिषेकेण फलेन सहितं यथा तथा अस्तु जायताम्, रामो वनं गतो भरताय राज्यं देहीति राज्ञः सोल्लुण्ठवचनम् ॥ २० ॥

श्रवणसन्दग्धेति—श्रवणस्य न रामस्मरणद्वारा सन्नायकत्वादित्यमुक्तिः । पितरः पितृभूताः, पितृपितामहादयः पूर्वजाः, तद्दर्शनस्य सन्निहितमरणसूचकत्वम् । एतच्च नियतमरणख्यापकं लिंगमरिष्टम् । तदुक्तम्—

'श्वकाककङ्कगृध्राणां प्रेतानां यक्षरक्षसाम् । पिशाचोरगनागानां भूतानां विकृतामपि ॥
यो वा मयूरकण्ठाभं विधूमं वह्निमीक्षते ।
आतुरस्य भवेन्मृत्युः स्वस्थो व्याधिमवाप्नुयात् ॥' (सु. सू. अ. ३०)

मैं छुटकारा प्राप्त कर, इस वृद्धावस्था को तपोवन में व्यतीत करूँगा। परन्तु हाय, इन बातों को कैकेयी ने क्षणभर में पलट डाला ॥ १९ ॥

सुमन्त्र, जाओ, कैकेयी से कह दो—

राम वन चले गये, तुम अपना मनोरथ पूर्ण कर लो, मुझे भी मेरे प्राण छोड़ चले । अब तुम अपने बेटे को बुलवा लो, तुम्हारा पापाध्याय पूरा हो जावे ॥२०॥

सुमन्त्र—जो आज्ञा ।

राजा—(ऊपर की ओर देखकर) ओ, राम की इस विपद्गाथा से दग्ध हृदय मुझको सान्त्वना देने के लिए पितृगण आ गये हैं । कोई है यहाँ ?

(कञ्चुकी का प्रवेश)

काञ्चुकीयः—जयतु महाराजः ।

राजा—आपस्तावत् ।

काञ्चुकीयः—यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रम्य) जयतु महाराजः । इमा आपः ।

राजा—(आचम्यावलोक्य) ।

अयममरपतेः सखा दिलीपो, रघुरयमत्रभवानजः पिता मे ।
किमभिगमनकारणं, भवद्भिः सह वसने समयो ममापि तत्र ॥२१॥

राम ! वैदेहि ! लक्ष्मण ! अहमितः पितॄणां सकाशं गच्छामि ।

हे पितरः ! अयमहमागच्छामि । (मूर्च्छया परामृष्टः)

(काञ्चुकीयो यवनिकाम्तरणं करोति)

अयमिति—अयम् अमराणां देवानां पत्युरिन्द्रस्य सखा दिलीपः तदाख्यया प्रथितः अस्मत्प्रपितामहः, अयम् रघुः दिलीपपुत्रः अस्मत्पितामहः, अयम् अत्रभवान् पूज्यः अजः नाम मे मम दशरथस्य पिता जनकः अभिगमनकारणं भवतामत्र मर्त्यभुवि समागमनस्य प्रयोजनम् किम् ? न कोऽपि हेतुरत्र भवतामागमनस्येत्यर्थः, भवता सह सहवास एवात्र पितॄणामस्माकमत्रागमनकारणमिति चेत्तथापि माऽऽगमि, स्वयं ममैव भवदीयलोकोपसरणसमयस्य समुपस्थितस्यानुपेक्ष्यत्वात् । तदाह–सहेति । ममापि तत्र भवदध्युषिते लोके सह वसने भवद्भिः सह निवासे समयः आगत इति । अहमचिरेणैव शरीरमिदं जहामीत्याशयः । पुष्पिताग्रावृत्तम्, लक्षणं

कञ्चुकी—जय हो महाराज की ।

राजा—जल लाओ ।

कञ्चुकी—जो आज्ञा (बाहर से जल ले आकर) जय हो महाराज की । यह जल है ।

राजा—(आचमन करके और देखकर)

ये हैं देवराज इन्द्र के सखा महाराज दिलीप, ये हैं महाराज रघु, ये हैं माननीय मेरे पूज्य पिताजी अज, आप लोगों के यहाँ आने का क्या कारण हो गया। अब तो मेरे लिए भी आप के साथ रहने का समय आ पहुँचा ॥ २१ ॥

राम, जानकी, लक्ष्मण, अब मैं पितृलोक चला । पितरों, मैं यह आया ? (मूर्च्छित होते हैं)

(कञ्चुकी पर्दा गिराता है)

सर्वे—हा हा महाराजः हा हा महाराजः ।
हा हा महाराओ । हा हा महाराओ ।
(निष्क्रान्ताः सर्वे)
द्वितीयोऽङ्कः ।

अथ तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति सुधाकारः)

सुधाकारः—(सम्मार्जनादीनि कृत्वा) भवतु, इदानीं कृतमत्र कार्यमार्य-
भोदु, दाणि किदं एत्थ कय्यं अय्य-
सम्भवकस्याज्ञप्तम् । यावन्मुहूर्तं स्वप्स्यामि । (स्वपिति)
सम्भवअस्स आणत्तं । जाव मुहुत्तं सुविस्सं ।

(प्रविश्य)

भटः—(चेटमुपगम्य ताडयित्वा) अङ्घो दास्याःपुत्र ! किमिदानीं कर्म
अङ्घो दासोएपुत्त ! किं दाणि कम्मं

यथा—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति ॥२१॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रकृते प्रतिमानटक–प्रकाशे द्वितीयोऽङ्कः ।

सुधाकार इति–सुधा चूर्णम्, तां करोतीति विग्रहेण भवनभित्तिधवलीकरणाय सुधालेपनाधिकृतः सुधाकार इत्युच्यते । स चात्र दशरथप्रतिमागृहपरिमार्जनेऽधिकृतो वेदितव्यः ।

आर्येति—आर्यसंभवकस्य पूज्यस्य संभवकाख्यस्य काञ्चुकीयस्य, आज्ञप्तम् आदेशः । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी ।

अङ्घो इति—निपातोऽयं सकोपामन्त्रणार्थः । दास्याःपुत्रेति निन्दार्थम्, अदासी-

---

सर्वे—हा महाराज, हा महाराज ! (सबका प्रस्थान)
द्वितीय अङ्क समाप्त ॥ २ ॥

(सुधाकार का प्रवेश)

सुधाकार—(झाड़ू लगाकर) अच्छा, आर्य संभवक द्वारा आदिष्ट सब कार्य तो कर लिए, अब थोड़ी देर सो लूँ । (सोता है)

(भट का प्रवेश)

भट—(चेट के पास आकर तथा उसे पीट कर) अरे दासीपुत्र, अब काम क्यों

न करोषि ? (ताडयति)

ण करेसि ?

सुधाकारः—(बुद्ध्वा) ताडय मां ताडय माम् !

तालेहि मं तालेहि मं ।

भटः—ताडिते त्वं किं करिष्यसि ?

ताडिदे तुवं किं करिस्ससि ?

सुधाकारः—अधन्यस्य मम कार्तवीर्यस्येव बाहुसहस्रं नास्ति ।

अनण्णस्स मम कत्तवीअस्स विअ बाहुसहस्सं णत्थि ।

भटः—बाहुसहस्रेण किं कार्यम् ?

बाहुसहस्सेण किं कय्यं ?

सुधाकारः—त्वां हनिष्यामि ।

तुवं हणिस्सं ।

पुत्रस्यैव तथा सम्बोध्यमानत्वात् । 'षष्ठ्या आक्रोशे' इति षष्ठ्या अलुक् । कर्म स्वनियोगम्, कर्त्तव्यत्वेनादिष्टं व्यापारम् ।

ताडयेति—स्वकर्त्तव्यस्य समापितत्वेन गर्वितस्य तस्येत्थमुक्तिर्निरपराधताडनस्य बलवदनर्थानुबन्धित्वमावेदयति ।

ताडिते इति—'त्वयि' इति विशेष्यमध्याहार्यम्, अथवा भावे क्तः, तथा च सति ताडने कृतेऽपि त्वं किं करिष्यसीति स्वाभिमानः ।

कार्त्तवीर्यस्य तदाख्यस्य, तथा हि स्मर्यते—'कार्त्तवीर्यार्जुनो नाम राजा बाहुसहस्रभृत् । योऽस्य सङ्कीर्त्तयेन्नाम कल्यमुत्थाय मानवः ॥ न तस्य वित्तनाशः स्यान्नष्टं च लभते ध्रुवम् ॥' इति ।

नहीं करता ? (पीटता ही है)

सुधाकार—(जागकर) मार लो, मुझे मार लो ।

भट—मारूँगा ही तो तुम क्या करोगे ?

सुधाकार—मैं अभागा सहस्रबाहु की तरह हजार हाथ नहीं पाया ।

भट—हजार हाथ होने पर क्या करते ?

सुधाकार—तुमको मार सकते ।

भटः--एहि दास्याःपुत्र ! मृते मोक्ष्यामि । (पुनरपि ताडयति)
एहि दासिएपुत्त ! मुदे मुञ्चिस्सं ।

सुधाकारः--(रुदित्वा) शक्यमिदानीं भर्त ! मेऽपराधं ज्ञातुम् ।
शक्कं दाणि भट्टा ? मे अवराहं जाणिदुम् ।

भटः—नास्ति किलापराधो नास्ति । ननु मया सन्दिष्टो भर्तृदारकस्य
णत्थि किल अवराहो णत्थि । ण मए सन्दिट्ठो भट्टिदारअस्स
रामस्य राज्यविभ्रष्टकृतसन्तापेन स्वर्गं गतस्य भर्तुर्दशरथस्य
रामस्य रज्जविब्भट्ठकिदसन्दावेण सग्गं गदस्स भट्टिणो दसरहस्स
प्रतिमागेहं द्रष्टुमद्य कौसल्यापुरोगैः सर्वैरन्तःपुरैरिहागन्त-
पडिमागेहं देट्ठुं अज्ज कौसल्लापुरोएहि सव्वेहि अन्तेउरेहि इह आअन्त-
व्यमिति । अत्रेदानीं त्वया किं कृतम् ?
व्वं त्ति । एत्थ दाणिं तुए किं किदं ?

सुधाकारः--पश्यतु भर्ता अपनीतकपोतसन्दानकं तावद् गर्भगृहम् ।
पेक्खदु भट्टा अवणीदकवोदसन्दाणअं दाव गब्भगिहं ।

मृत इति—त्वयि मृत एव त्वां त्यक्ष्यामीति भावः । जीवन्तं त्वां न परित्यजामीति हृदयम् ।

अपराधमिति--जानातेरिदं कर्म, शक्यमित्यत्र भावे प्रत्ययः, जानातेः कर्त्तरि तुमुन्, तेन कर्मणि द्वितीया । एतादृशस्थले एवमेव व्यवस्थापनीयम् ।

नास्तीति--काकार्यविपर्ययः अस्त्येव तवापराध इति भावः विभ्रष्टं विभ्रंशः। सन्दिष्टः आज्ञप्तः, त्वमिति शेषः । प्रतिमागेहं मृतानां राज्ञां स्मृतिचिह्नभूताः प्रतिमा यत्र स्थाप्यन्ते तद् गृहम् ।

अपनीतेति--सुधाकारस्य स्वकृतकार्यताप्रदर्शनार्थेयमुक्तिः । अपनीतं दूरीकृतं

भट—आः, अरे दासीपुत्र, अब तो खतम करके ही छोड़ूंगा । (फिर पीटता है)

सुधाकार—(रोते हुए) तो क्या इस समय आप हमारा अपराध बता सकते हैं;

भट—कुछ अपराध नहीं, सचमुच कुछ अपराध नहीं । भला मैंने जो तुमको आज्ञा दी थी कि—राजकुमार राम राज्यच्युत होकर वन चले गये उनके शोक में महाराज ने प्राण दे दिये, उनकी प्रतिमा का दर्शन करने के लिये उनका समस्त अन्तःपुर प्रतिमागृह जाने वाला है । बता, तूने यहाँ क्या काम किया है ?

सुधाकार—देख लीजिये, प्रतिमागृह के अपरिमार्जन से पक्षियों ने घोसले बना

सौधवर्णकदत्तचन्दनपञ्चाङ्गुला भित्तयः। अवसक्तमाल्य-
सोहवण्णअदत्तचन्दणपञ्चाङ्गुला भित्तीओ। ओसत्तमल्ल-
दामशोभीनि द्वाराणि। प्रकीर्णा बालुकाः। अत्रेदानीं
दामसोहीणि दुवाराणि। पइण्णा बालुआ। एत्थ दाणि
मया किं न कृतम्?
मए किं ण किदं?

भटः—यद्येवं विश्वस्तो गच्छ। यावदहमपि सर्वं कृतमित्यमात्याय
जइ एवं विस्सत्थो गच्छ। जाव अहं वि सव्वं किदं त्ति अमच्चस्स
निवेदयामि।
णिवेदेमि।

(निष्क्रान्तौ)
(प्रवेशकः)
(ततः प्रविशति भरतो रथेन सूतश्च)

कपोतसन्दानकं कपोतनीडं यस्मात् तत्। चिरापरिमार्जितेषु हि गृहेषु कपोतादयो नीडानावध्नन्ति। सौधे सुधामये वर्णके आलेपे दत्तं निवेशितं चन्दनपञ्चाङ्गुलं चन्द-नमयपञ्चाङ्गुलन्यासो यासु ताः। अवसक्तैः संयोजितैः माल्यदामभिः पुष्पस्रग्गुणैः शोभितुं शीलमेषामिति तथाभूतानि। बालुकाः सूक्ष्मसिकताः पादस्पर्शसुखार्थं ता न्यस्यन्ते। विश्वस्तः कृतस्वकर्त्तव्यतया ताडनभयरहित इत्यर्थः।

प्रवेशक इति—प्रवेश एव प्रवेशकः। तल्लक्षणं यथा—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः। संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः।
एकानेकगतः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्ययोः। तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः॥

'क्षिप्रमानीयतां पुत्रः' इति मुमूर्षु राजोक्तौ भरतस्यागमनं सूचितम्. सम्प्रति

लिये थे, वे हटा दिये गये हैं, दीवारें पुतवा दी गयी हैं, उन पर पञ्चाङ्गुलि का आकार बना दिया गया है, दरवाजे पुष्पमालाओं से सजा दिये गये हैं, सजावट के लिये चारों ओर रेत बिछा दी गई है। आप ही कहिये—यहाँ मैंने क्या नहीं किया!

भट—यदि ऐसी बात है तो इतमीनान से जाओ, मैं भी मन्त्रीजी को तैयारी की सूचना देता हूँ।

(दोनों का प्रस्थान)
(प्रवेशक)
(रथ में बैठे भरत और सारथि का प्रवेश)

भरतः—(सावेगम्) सूत ! चिरं मातुलपरिचयादविज्ञातवृत्तान्तोऽस्मि । श्रुतं मया दृढमकल्यशरीरो महाराज इति । तदुच्यताम्—

पितुर्मे को व्याधिः

सूतः— हृदयपरितापः खलु महान्

भरतः—किमाहुस्तं वैद्याः

सूतः— न खलु भिषजस्तत्र निपुणाः ।

भरतः—किमाहारं भुङ्क्ते शयनमपि

सूतः— भूमौ निरशनः

भरतः—किमाशा स्याद्

सूतः— दैवं

भरतः— स्फुरति हृदयं वाहय रथम् ॥ १ ॥

तत्प्रवेशमाह—तत इति ।

मातुलेति—मातुलपरिचयात् मातुलस्य युधाजितः परिचयात् , तद्गृहे-भृशनिवासात् । अविज्ञातवृत्तान्तः अविदितराजसमाचारः । दृढं नितान्तम् । अकल्यशरीरः अस्वस्थदेहः । उच्यतां राज्ञोऽस्वस्थतायाः सामान्यतो ज्ञातत्वेनोदिताया विशेषजिज्ञासायाः शान्तये विविच्य प्रतिपाद्यतामित्यर्थः ।

भरतस्य प्रश्नान् सूतेन दत्तान्युत्तराणि चैकपद्येनैवाह—**पितुरिति** । निपुणाः दक्षाः, हृदयपरितापस्य निदानापगममात्रसाध्यतायाः सर्वविदितत्वेन वैद्यानां तत्राप्रसरादिति ।

दैवं भाग्यम्, तदेवात्र राजजीवने आशामुज्जीवयितुमीश इतिभावः । स्फुरतिहृदयं

भरत—(चिन्तापूर्वक) सारथि, चिरकाल तक मामाजी के यहाँ रहने से मुझे घर की कुछ खबर नहीं मिली, मैंने सुना था महाराज अधिक रुग्ण हैं, तुम तो कहो—मेरे पिता को कौन व्याधि है ?

सूत—दारुण मानसिक सन्ताप ।

भरत—वैद्यों ने क्या कहा ?

सूत—उन्हें कुछ पता नहीं चला ।

भरत—खाने और सोने की क्या व्यवस्था है ?

सूत—भूमि पर निराहार पड़े रहते हैं ।

भरत—क्या उनके जीने की आशा है ?

सूत—दैव जाने ।

भरत—मेरा हृदय धड़क रहा है, रथ चलाओ ॥ १ ॥

सूतः— यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (रथं वाहयति)

भरतः—(रथवेगं निरूप्य) अहो नु खलु रथवेगः । एते ते,

द्रुमा धावन्तीव द्रुतरथगतिक्षीणविषया
नदीवोद्वृत्ताम्बुर्निपतति मही नेमिविवरे ।
अरव्यक्तिर्नष्टा स्थितमिव जवाच्चक्रवलयं
रजश्चाश्वोद्धूतं पतति पुरतो नानुपतति ॥ २ ॥

सोत्कण्ठतया त्वरया स्पन्दत इत्यर्थः । जीवत्पितृचरणदिदृक्षादुःस्थस्य मम शान्तये रथमाश्वाशु चालयेति भावः । संवादपद्यमिति न विशिष्य व्याख्यामर्हति ॥ १ ॥

अहो न खल्विति—आश्चर्यकरस्तव रथस्य वेग इत्यर्थः ।

द्रुमा इति—द्रुतया शीघ्रया रथगत्या रथचलनेन क्षीणविषयाः अल्पीभूतदृष्टिविषयपातिद्रुमभागाः द्रुमा वृक्षाः धावन्तीव धावन्त इव प्रतीयन्ते । रथवेगमहिम्ना त्वरया दृश्यमाना अपि द्रुमावयवा दूरमुपसर्पन्तो दृग्गोचरतां जहतीति तेषां धावनमुत्प्रेक्षते । उद्वृत्ताम्बुः उद्भ्रान्तजला मही भूमिः नदीव नेमिविवरे प्रधिरन्ध्रे निपतति निपतन्तीव ज्ञायते । भूभागविशेषे विद्यमाना जलाशया रथवेगेन रथस्थानां दृष्टौ चलज्जला इति तत्सहिताया भुवो नदीभावेन नेमिप्रवेश उत्प्रेक्ष्यते । अराणां नेमिनाभिमध्यवर्त्तिदण्डाकारावयवानां व्यक्तिः स्फुटावभासता पार्थक्येन प्रतीयमानता नष्टा तिरोहिता, जवात् रथवेगात् चक्रवलयं चक्रमण्डलं स्थितमिव गतिरहितमिव अतित्वरितगामिनो रथचक्रस्य त्वरितभ्रमणं नोपलक्ष्यत इति स्थितत्वप्रतिभासः । अश्वोद्धूतं वाजिखुराघातोत्थापितं रजश्च पुरतः अग्रे पतति उद्गच्छति, न अनुपतति न रथमनुगच्छति, निमेषमात्रेण रजोऽनुपतनगोचरदेशातिक्रमणादित्यर्थः उत्प्रेक्षासहकृता स्वभावोक्तिरलङ्कारः । शिखरिणीवृत्तम् ॥ २ ॥

सूत—जो आज्ञा । (रथ चलाता है)

भरत—(रथ के वेग को देखकर) वाह,

रथ किस तीव्रता से भागा जा रहा है ? ये वृक्ष रथ की द्रुतगामिता में क्षण भर में ही आँखों से ओझल हो गये, भँवर से युक्त जलवाली नदी की भाँति पृथ्वी धुरी के छिद्र में गिर रही है, बड़ी तेजी से घूमने के कारण चक्र के आरे दीख नहीं पड़ रहे हैं और धूलि घोड़ों की टापों से उड़कर सामने ही गिरती है, पीछे नहीं ॥ २ ॥

सूत:—आयुष्मन्! सोपस्नेहतया वृक्षाणामभितः खल्वयोध्यया भवितव्यम्।

भरत:—अहो न खलु स्वजनदर्शनोत्सुकस्य त्वरता मे मनसः सम्प्रति हि,

पतितमिव शिरः पितुः पादयोः स्निह्यतेवास्मि राज्ञा समुत्थापित-
स्त्वरितमुपगता इव भ्रातरः क्लेदयन्तीव मामश्रुभिर्मातरः।
सदृश इति महानिति व्यायतश्चेति भृत्यैरिवाहं स्तुतः सेवया
परिहसितमिवात्मनस्तत्र पश्यामि वेषं च भाषां च सौमित्रिणा॥३॥

सोपस्नेहतया-वृक्षबाहुल्यनिमित्तकोपक्लेदवत्तया। त्वरता उत्कण्ठितता, स्वजनदर्शनानन्तरभाविस्वाभीष्टकल्पनव्यग्रतेत्यर्थः, अत्र सत्वरतेति त्वरितेति वा साधुबोध्यम्।

पतितमिवेति—पितुः पादयोश्चरणयोः शिरः मम मस्तकं पतितमिव, किञ्चित्कालानन्तरं राजानं प्रणंस्यामीति सोत्कण्ठतयाऽधुनैव शिरः पितृपादयोः पतितं प्रत्येमीति भावः। स्निह्यता सुतवात्सल्यद्रुतान्तरङ्गेणेव राज्ञा दशरथेन समुत्थापितः पादप्रदेशादाकृष्य स्वाङ्कमारोपित इवास्मि। भ्रातरः रामादयः त्वरितं मदागमनमाकर्णनोत्तरकालमविलम्बेनैव उपगताः मातुलकुलादुपागतं मां परिवार्य स्थिता इत्यर्थः। मातरः माम् अश्रुभिः पुत्रागमनप्रसूतानन्दाश्रुभिः क्लेदयन्तीव आर्द्रयन्तीव, सदृश इति। यस्यामेव कायिकस्थितावितो मातुलकुलं गतस्तदवस्थ एव परावृत्त इति, महानिति यावदाकारो गतस्तत उपचितावयवः सन् परावृत्त इति, व्यायतः परिशीलितव्यायामश्चेति भृत्यैः सेवया चरणसंवाहनादिना स्तुत इवाहम्। भृत्या हि चिरादुपेतं स्वामिपुत्रमुपलभ्यचरणसेवनादिकुर्वाणास्तत्प्ररोचनार्थं यथास्वबुद्धिपुरोदीरितमिवाभिदधतीति स्थितिः। आत्मनः वेषं केकयदेशोचितपरिधानीयनिवेशं भाषां तद्देशवासाव-

---

सूत—वृक्षों की सघनता तथा शीतलता से जान पड़ता है कि अयोध्या समीप में ही है।

भरत—अहो, आत्मीय जनों के दर्शनार्थ मेरा मन कितना उतावला हो रहा है। क्योंकि, इस समय—

ऐसा जान पड़ रहा है कि मैं पिताजी के चरणों में नत हूँ और उन्होंने वात्सल्य से मुझे गोद में उठा-सा लिया है। भाई शीघ्रता से आकर मुझे घेर-से रहे हैं और माताओं की आँखें आनन्दाश्रु बरसा रही हैं, जिससे मैं भी भींगता-सा जा रहा हूँ। भरत जैसे जाने के समय थे, अब भी वैसे ही हैं, एक ने कहा,

सूतः--(आत्मगतम्) भोः ! कष्टम्, यदयमविज्ञाय महाराजविनाश-
मुदर्के निष्फलामाशां परिवहन्नयोध्यां प्रवेक्ष्यति कुमारः ।
जानद्भिरप्यस्माभिर्न निवेद्यते । कुतः,

पितुः प्राणपरित्यागं मातुरैश्वर्यलुब्धताम् ।
ज्येष्ठभ्रातुः प्रवासं च त्रीन् दोषान् कोऽभिधास्यति ? ॥४॥

(प्रविश्य)

स्यापरिशीलसात्म्यभावेनात्रापि बलान्मुखार्थमर्च्छन्ती सरस्वती च सौमित्रिणा लक्ष्मणेन परिहृमितमिव पश्यामि । लक्ष्मणो मम भाषां वेषं च भेदेन प्रतियन् परिहसिष्यतीति तदुपनतमित्रावगच्छामीति भरतस्योत्कण्ठाकृता प्रतीतिः । स्वभावोक्तिरलङ्कारः । संस्कृतिच्छन्दो वृत्तभेदः ॥ ३ ॥

उदर्के उत्तरकाले निष्फलाम् स्थितिपरिवर्त्तनेन फलयोगं नानुभविष्यन्तीम् । आशां पितृप्रणामसखिस्नेहमातृवात्सल्यभृत्यसेवादिप्राप्तिविषयं मनोरथम् । जानद्भिरिति । सर्ववृत्तान्तज्ञोऽपि नाहं किमपि भरताय निवेदयामीति ।

तत्र कारणमाह--**पितुरिति**-पितुः प्राणपरित्यागं मृत्युम्, मातुः जनन्या ऐश्वर्यलुब्धताम् धनलोलुपताम्, ज्येष्ठभ्रातुः रामचन्द्रस्य प्रवासं वनगमनलक्षणं देशान्तरगमनं च (एतान्) त्रीन् दोषान् कः कतरः अभिधास्यति ? भरताय निवेदयिष्यति ? नाहं क्षम इति भावः । पितृमरणजनन्यपवादभ्रातृवनवासानां त्रयाणामेकैकस्य मर्मव्यथकत्वेन संहतानां तेषां मत्कर्तृकं भरताय निवेदनमसुकरमिति तात्पर्यम् ॥ ४ ॥

दूसरे ने कहा–नहीं, कुछ बड़े और पुष्ट भी हो गये हैं । इस तरह भृत्यगण मेरी स्तुति प्रीति से करते हैं और लक्ष्मण मेरी भिन्न प्रकार की वेशभूषा तथा भाषा पर परिहास कर रहा है ॥ ३ ॥

सूत—(स्वगत) ओह ? कितने शोक की बात है कि महाराज की मृत्यु से अनवगत होने के कारण भरत मिथ्या आशा लिये अयोध्या में प्रवेश करेंगे और सकलवृत्तान्ताभिज्ञ होने पर भी मैं इन्हें कुछ भी नहीं बता रहा हूँ । बताऊँ भी कैसे ?

पिता का स्वर्गवास, माता का राज्यैश्वर्यलोभ, बड़े भाई का वनवास, एक एक से बढ़कर इन तीनों दोषों को कहने के लिए कौन जीभ हिलाएगा ? ॥ ४ ॥

(भट का प्रवेश)

भटः--जयतु कुमारः ।

भरतः--भद्र, किं शत्रुघ्नो मामभिगतः ?

भटः--अभिगतः खलु वर्तते कुमारः । उपाध्यायास्तु भवन्तमाहुः ।

भरतः--किमिति किमिति ?

भटः--एकनाडिकावशेषः कृत्तिकाविषयः । तस्मात् प्रतिपन्नायामेव रोहिण्यामयोध्यां प्रवेक्ष्यति कुमारः ।

भरतः--बाढमेवम् । न मया गुरुवचनमतिक्रान्तपूर्वम् । गच्छ त्वम् ।

भटः--यदाज्ञापयति कुमारः । (निष्क्रान्तः) ।

भरतः--अथ कस्मिन् प्रदेशे विश्रमिष्ये । भवतु, दृष्टम् । एतस्मिन् वृक्षान्तराविष्कृते देवकुले मुहूर्त्तं विश्रमिष्ये । तदुभयं भवि-

---

उपेति--उपाध्यायाः वसिष्ठवामदेवादयः ।

एकेति--एकनाडिकावशेषः एका नाडिका दण्डोऽवशेषो यस्य तथा ।

कृत्तिकेति--कृत्तिकाविषयः कृत्तिकानक्षत्रयुक्तः कालः ।

बाढम्--अङ्गीकारे । एवं गुर्वादिष्टेन प्रकारेणानुतिष्ठामीति भावः । नातिक्रान्तपूर्वं न लङ्घितपूर्वम् ।

विश्रेति--विश्रमिष्ये दीर्घाध्वलङ्घनश्रममपाकरिष्यामि ! आत्मनेपदमपाणिनीयमिति गणपतिशास्त्रिणः ।

वृक्षेति--वृक्षान्तरालाविष्कृते वृक्षावकाशलक्षिते । उभयं श्रमनिवृत्तिः देवसम्भावना च, उपोपविश्य उपकण्ठे क्षणमुपविश्य । सत्समुदाचारः शिष्टाचारः । एतेन श्रमा-

---

भट--जय हो राजकुमार की ।

भरत--भद्र, क्या शत्रुघ्न आये हैं ।

भट--कुमार तो आ ही रहे हैं, किन्तु उपाध्यायों ने आप को कहा है !

भरत--क्या कहा है ।

भट--कृत्तिका एक दण्ड रह गया है, उसके बीत जाने पर रोहिणी में कुमार अयोध्या में प्रवेश करें ।

भरत--बहुत अच्छा । मैंने कभी गुरुजनों के वचन नहीं टाले । तुम जाओ ।

भट--जो आज्ञा । (जाता है)

भरत--किस जगह तबतक विश्राम करूँ । अच्छा, देख लिया । वृक्षों के अन्तराल से होकर एक मन्दिर देख रहा हूँ, वहीं चलकर कुछ देर विश्राम करूँ, इस

ष्यति–दैवतपूजा विश्रमश्च। अथ च उपोपविश्य प्रवेष्टव्यानि नगराणीति सत्समुदाचारः। तस्मात् स्थाप्यतां रथः।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। (रथं स्थापयति)

भरतः—(रथादवतीर्य) सूत! एकान्ते विश्रामयाश्वान्।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान्। (निष्क्रान्तः)

भरतः—(किञ्चित् गत्वावलोक्य) साधुमुक्तपुष्पलाजाविष्कृता बलयः, दत्तचन्दनपञ्चाङ्गुला भित्तयः, अवसक्तमाल्यदामशोभीनि द्वाराणि, प्रकीर्णा बालुकाः। किन्तु खलु पार्वणोऽयं विशेषः? अथवा आह्निकमास्तिक्यम्? कस्य नु खलु दैवतस्य स्थानं भविष्यति? नेह किञ्चित् प्रहरणं ध्वजो वा बहिश्चिह्नं

पाकरणदेववन्दनसदाचारपालनात्मकं प्रयोजनत्रयमत्र वृक्षावकाशे समुपवेशनेन साध्यत इत्यहो सौकर्यमिति भावः॥

साध्वित्यादि—साधुमुक्तपुष्पलाजाविष्कृताः साधुना दान्तस्वान्तेन देवादिपूजारसिकेन मुक्तैः अवकीर्णैः पुष्पैः लाजैश्च आविष्कृताः प्राकट्यं गमिताः पार्वणः पर्वणि तिथिविशेषे भवः। अयं बल्यादिकृतः। आह्निकम् अहन्यहन्यनुष्ठीयमानम्। आस्तिक्यम् अस्ति दिष्टमिति मतिर्येषां ते आस्तिकाः तेषां भावः कर्म वा आस्तिक्यम्। दैवतस्य स्कन्दाद्यन्यतमस्य। प्रहरणम् आयुधम् (शक्त्यादि) ध्वजः

तरह देवदर्शन और विश्राम, एक पन्थ दो काज होंगे। एक बात और—नगरों के समीप थोड़ा बैठकर नगर में प्रवेश करना चाहिए, इस चिरागत शिष्टाचार का भी पालन हो जायगा। अतः रथ रोको।

सूत—जो आज्ञा! (रथ रोकता है)

भरत—(रथ से उतर कर) सूत, एक ओर ले जाकर घोड़ों को विश्राम दो।

सूत—जो आज्ञा! (प्रस्थान)

भरत—(कुछ चलकर और देखकर) यहाँ तो विधिवत् फूल और खील के नैवेद्य दिये गये हैं, दीवारों की पुताई के ऊपर चन्दन से पाँचों अङ्गुलियों की पाँच छापें लगाई गई हैं, दरवाजों पर फूलों की मालाएँ लटक रही हैं, बाहर चारों ओर रेत बिछी हुई है। क्या कोई त्योहार है? जिसकी यह विशेषता है, अथवा प्रतिदिन का नियमपालन है? अच्छा, भीतर जाकर पता लगाता हूँ। (भीतर जाकर

दृश्यते । भवतु, प्रविश्य ज्ञास्ये (प्रविश्यावलोक्य) अहो क्रियामाधुर्यं पाषाणानाम् । अहो भावगतिराकृतीनाम् । दैवतोद्दिष्टानामपि मानुषविश्वासतासां प्रतिमानाम् । किन्तु खलु चतुर्दैवतोऽयं स्तोमः ! अथवा यानि तानि भवन्तु । अस्ति तावन्मे मनसि प्रहर्षः ।

कामं दैवतमित्येव युक्तं नमयितुं शिरः ।
वार्षलस्तु प्रणामः स्यादमन्त्रार्चितदैवतः ॥ ५ ॥

(प्रविश्य)

कुक्कुटादिः बहिश्चिह्नं बाह्यं दैवतविशेषलक्ष्म । पाषाणमयीनां प्रतिमानां दर्शनेनाह्लादितचित्तस्य भरतस्योक्तिः—

अहो इति—पाषाणानां शिलाशकलानाम्, क्रियामाधुर्यम् शिल्पचातुर्यम् । आकृतीनाम् आकाराणां भावव्यक्तिः अहो । आसां प्रतिमानां दैवतोद्दिष्टानामपि दैवप्रतिमात्वेन सङ्कल्पितानामपि मानुषविश्वासता मनुष्यप्रतिमाविश्वासयोग्यता । प्रतिमानां गणनां कृत्वाऽऽह—किन्तु खल्विति । चतुर्दैवः चत्वारि दैवतानि अवयवा यस्य तादृशः स्तोमः सङ्घः । अथवेति—चतुर्दैवततोमत्वशङ्कां प्रतिक्षिप्याह—यानीति । यानि तानि भवन्तु दैवतानि वा भवन्तु अन्यथा वा भवन्तु, मे मम मनसि प्रहर्षः प्रतिमानामादरभाजनताविषया तृप्तिरस्त्येवेति भावः ।

काममिति—दैवतमित्येव देवताबुद्ध्यैव शिरो नमयितुं कामं युक्तम् । किन्तु प्रणामः न मन्त्रैरर्चितं पूजितं दैवतं यत्र तथाभूतः अत एव वार्षलः शूद्रकृत इव स्यात् । सम्भावनायां लिङ् । शूद्रो हि मन्त्रपाठं विनैव पूजयेदिति धर्मशास्त्रविधिः, मन्त्रपाठस्य निषेधात् । शिरोनामने न कोऽपि दोषः, दैवतविशेषनिश्चयाभावात् मन्त्रपाठस्तु किंदेवतकः क्रियेतेति स परित्यज्यत इति भावः ॥ ५ ॥

और देखकर) अहा, पत्थर की कारीगरी कितनी अच्छी बनी है ? मूर्तियाँ भावव्यञ्जना में सजीव प्रतीत होती हैं । देवमूर्तियाँ होकर भी मनुष्यमूर्तियाँ जान पड़ती हैं । देव तो चार ही नहीं । जो हो, मुझे तो इन्हें देखकर अपार आनन्द हो रहा है ।

ये देवमूर्तियाँ हैं, ऐसा समझकर प्रणाम करना उचित है, परन्तु विशेष परिचय नहीं होने से बिना मन्त्र पढ़े ही प्रणाम करना होगा और वह परिपाटी शूद्रों की सी होगी ॥ ५ ॥

(पुजारी का प्रवेश)

देवकुलिक:—भोः ! नैत्यिकावसाने प्राणिधर्ममनुतिष्ठति मयि को नु खल्वयमासां प्रतिमानामल्पान्तराकृतिरिव प्रतिमागृहं प्रविष्टः ? भवतु, प्रविश्य ज्ञास्ये। (प्रविशति)

भरत:—नमोऽस्तु !

देवकुलिक:—न खलु न खलु प्रणामः कार्यः।

भरत:—मा तावद् भोः !

वक्तव्यं किञ्चिदस्मासु विशिष्टः प्रतिपाल्यते।
किंकृतः प्रतिषेधोऽयं नियमप्रभविष्णुता ॥ ६ ॥

देवकुलिक: देवगृहरक्षक:। नैत्यिकावसाने नित्यकर्मणो देवपूजास्वरूपस्य, अवसाने समाप्तौ, प्राणिधर्मं भोजनम्। अल्पान्तराकृति: स्वल्पभेदाऽऽकृति: समानाकृतिरित्यर्थः। यादृशी प्रतिमानामाकृतिस्तत्तुल्याऽऽकृतिरित्यर्थः।

प्रणामनिषेधे स्वापमानमुत्प्रेक्ष्य निषेधन्तं देवकुलिकं प्रति तदीयैतदाचरणस्यानौचितीं प्रतिपिपादयिषन्नाह—मा तावद्भोरिति।

वक्तव्यमिति—किमपि अस्मासु मल्लक्षणेषु जनेषु वक्तव्यं वाच्यम्, दूषणम्, (येनाहं प्रणामकरणायोग्यो गण्येय। अथवा) विशिष्ट: मदपेक्षयोत्कृष्ट: मदपेक्षया श्रेष्ठ: प्रणामाधिकारी प्रतिपाल्यते प्रतीक्ष्यते (मदपेक्षयोत्कृष्ट:एव प्रणामं कर्तुमर्हति?)। अयम् भवता विधीयमान: प्रतिषेध: 'न खलु न खलु प्रणाम: कार्य' इत्येतादृशशब्दप्रयोगरूप: प्रतिषेध: किंकृत: ? अस्मद्दूषणास्मदुत्कृष्टप्रतिपालनयो: कारणयोर्मध्ये केन कारणेन कृत: ? तृतीयं कारणमुत्प्रेक्षते—नियमप्रभविष्णुतेति। भवत: नियमेषु तपोऽनुष्ठानेषु प्रभविष्णुता प्रौढि: (एवात्र कारणमिति प्रश्न:)। अयमाशय:—नाहं दुष्यामि, न वा मदुत्कृष्ट एव प्रणामेऽधिक्रियते, इत्येतत्कारणद्वयनिरासे स्वतप:प्रौढिभाजो भवत: स्वतपोविघ्नाशङ्काकृत एवायं निषेधो भवितुमर्हतीति। अथवा नियमे

देवकुलिक—अरे नित्य नियत पूजापाठ कर लेने के बाद मेरे भोजनादि के अवसर पर इन मूर्तियों से मिलती आकृतिवाला कौन इस प्रतिमागृह में पैठा है ? अच्छा, भीतर जाकर पता लगाता हूँ। (भीतर जाता है)

भरत—नमस्कार।

देवकुलिक—नहीं नहीं, प्रणाम मत करो।

भरत—क्यों, क्या बात है ?

क्या हममें कोई दोष है ? या हमारी अपेक्षा किसी अच्छे प्रणामाधिकारी

देवकुलिकः—न खल्वेतैः कारणैः प्रतिषेधयामि भवन्तम् । किन्तु दैवतशङ्कया ब्राह्मणजनस्य प्रणामं परिहरामि। क्षत्रिया ह्यत्रभवन्तः ।

भरतः—एवम् । क्षत्रिया ह्यत्रभवन्तः । अथ के नामात्रभवन्तः ?

देवकुलिकः—इक्ष्वाकवः ।

भरतः—(सहर्षम्) इक्ष्वाकव इति । एते तेऽयोध्याभर्तारः ।

एते ते देवतानामसुरपुरवधे गच्छन्त्यभिसरी-
मेते ते शक्रलोके सपुरजनपदा यान्ति स्वसुकृतैः ।

नियोगे प्रभविष्णुता स्वातन्त्र्यमेवात्र निषेधे हेतुः ? भवतोऽत्र प्रतिमागृहेऽधिकृतत्वे नैकच्छत्रं राज्यमुज्जृम्भते इति वस्तुतोऽधिकारिणोऽपि मम प्रणमनक्रियां वारयतस्तवेयं स्वेच्छामात्रानुवर्त्तनेति भावः ॥ ६ ॥

एतैः दोषकलुषितत्व-प्रणामायोग्यत्व स्वेच्छाचारित्वैः । परिहरामि भवन्तो ब्राह्मणाः दैवतभ्रमेण प्रतिमा एता मा प्रणंसुरिति निषेधामि । अत्रभवन्तः पूज्याः मूर्त्तिषु चित्रिताः ।

एते त इति—अतिप्रसिद्धा इमे इक्ष्वाकवः दैवतानां देवानाम् असुरपुरवधे । राक्षसैः समं युद्धे तद्वधे अभिसरीं साहाय्यार्थमभिगमनं गच्छति। देवसाहाय्यार्थं राक्षसान् हन्तुं स्वर्गं गच्छन्तीति । एतेन इक्ष्वाकूणां देवासाध्यराक्षसवधसमर्थत्वप्रतिपादनेन तदपेक्षयाऽधिकपराक्रमशालित्वं व्यञ्जितम् । एते ते इक्ष्वाकवः स्वसुकृतैः स्वाचरितैः पुण्यैः सपुरजनपदाः सनगरप्रजाः शक्रलोके स्वर्गे यान्ति एतेनैषां पुण्य-

---

की प्रतीक्षा कर रहे हो ? यह प्रणाम करने का निषेध क्यों कर रहे हो ? क्या यह तुम्हारा अधिकारमद तो नहीं है ? ॥ ६ ॥

देवकुलिक—नहीं, इन कारणों से नहीं रोक रहा हूँ, किन्तु इसलिये रोक रहा हूँ कि कहीं तुम ब्राह्मण होकर देवमूर्त्ति के भ्रम से इन राजमूर्तियों को प्रणाम न कर लो । ये क्षत्रियों की मूर्तियाँ हैं देवप्रतिमायें नहीं हैं ।

भरत—अच्छा, क्या ये क्षत्रिय महानुभाव हैं, तो फिर ये कौन महानुभाव हैं ?

देवकुलिक—ये इक्ष्वाकुवंशीय हैं ।

भरत—इक्ष्वाकुवंशीय ! यही अयोध्या के राजा ?

ये वे ही लोग हैं, जो असुरपुर के विनाश में देवों की सहायताके लिये जाते थे। क्या ये वे ही हैं, जो अपने पुण्यप्रताप से अपने नगर तथा प्रजाजन के साथ स्वर्ग

एते ते प्राप्नुवन्तः स्वभुजबलजितां कृत्स्नां वसुमती-
मेते ते, मृत्युना, ये चिरमनवसिताश्छन्दं मृगयता ॥ ७ ॥

भोः! यदृच्छया खलु मया महत् फलमासादितम्! अभिधीयतां कस्तावदत्रभवान्?

देवकुलिकः—अयं खलु तावत् सन्निहितसर्वरत्नस्य विश्वजितो यज्ञस्य प्रवर्तयिता प्रज्वलितधर्मप्रदीपो दिलीपः।

भरतः—नमोऽस्तु धर्मपरायणाय। अभिधीयतां कस्तावदत्रभवान्?

प्रकर्षः प्रत्याय्यते। एते ते स्वभुजबलजितां निजबाहुपराक्रमायत्तीकृतां कृत्स्नां समग्राम्, महीं पृथ्वीम्, प्राप्नुवन्तः सन्तीति शेषः। एते ते छन्दं मृगयता इच्छामनुवर्त्तमानेन मृत्युना कालेन चिरं बहुकालम् अनवसिताः अभक्षिताः। 'मृतिर्नो जायताम्' एवमिच्छतामेवेक्ष्वाकूणां प्राणहरणे प्रभवता मृत्युना तत्प्राणहरणे तदिच्छानुवर्त्तनमेवोपाय इति मृत्युजयप्रभुत्वरूपः प्रकर्षः। अन्यत् स्पष्टम्। सुवदनावृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'सुवदना म्रौ भ्नौ य्भौ ल्गावृषिस्वरर्त्तवः' ॥ ७ ॥

महदिति—महत् फलम् महापुरुषप्रतिमावलोकनरूपम्।

सन्निहितसर्वरत्नस्य सन्निहितानि विश्वविजयोपाहृतानि सर्वरत्नानि सकलविधानि अनर्घ्यवस्तूनि यस्य तस्य। विश्वजितः तदाख्यस्य यज्ञविशेषस्य। प्रवर्त्तयिता आहर्त्ता। प्रज्वलितधर्मप्रदीपः प्रज्वलितः सततप्रदीप्तः धर्म एव प्रदीपो यस्य स तादृशः। धर्मस्य प्रदीपत्वञ्चान्धतमसावृतोत्तरलोकमार्गप्रदर्शकत्वाद् बोध्यम्। धर्मैकपरायणाय धर्म एकः परमयनं गतिर्यस्य तादृशः, धर्मैकनिरत इत्यर्थः। तस्मै धर्मनिष्ठाय।

जाते थे? क्या ये वे ही हैं जो अपने बाहुबल से सम्पूर्ण भूमण्डलको जीतकर अपने अधिकार में करते थे! और जिनकी मृत्यु अपनी इच्छा पर निर्भर करती थी ॥७॥

अहा! अकस्मात् मुझे महान् फल मिल गया। अच्छा, बताइये ये कौन महानुभाव हैं?

देवकुलिक—ये हैं महाराज दिलीप, जिन्होंने सभी रत्नों को इकट्ठा कर विश्वजित् यज्ञ पूर्ण कर धर्म प्रदीप को प्रकाशित किया था।

भरत—धर्मप्राण को नमस्कार। (प्रणाम करता है) आगे कहिये, ये कौन हैं?

देवकुलिकः—अयं खलु तावत् संवेशनोत्थापनयोरनेकब्राह्मणजन-
सहस्रप्रयुक्तपुण्याहशब्दरवो रघुः ।

भरतः—अहो बलवान् मृत्युरेतामपि रक्षामतिक्रान्तः । नमोऽस्तु ब्राह्मणजनावेदितराज्यफलाय । अभिधीयतां कस्तावदत्रभवान् ?

देवकुलिकः—अयं खलु तावत् । प्रियावियोगनिर्वेदपरित्यक्तराज्यभारो नित्यावभृथस्नानप्रशान्तरजा अजः ।

भरतः—नमोऽस्तु श्लाघनीयपश्चात्तापाय । (दशरथस्य प्रतिमामवलो-

संवेशेति—संवेशनोत्थापनयोः शयनवेलायां तत उत्थानवेलायां च अनेक ब्राह्मणजनसहस्रप्रयुक्तपुण्याहशब्दरवः—अनेकैरगणितैः ब्राह्मणजनसहस्रैः सहस्र-सङ्ख्यैर्ब्राह्मणैः प्रयुक्तः कृतः पुण्याहशब्दरवः पुण्याहमन्त्रवाचनध्वनिर्यस्य स तथा-भूतः । यं शयानं जाग्रतं वा ब्राह्मणाः स्वस्तिवाचनेन संवर्द्धयन्तीति भावः ।

एतां रक्षामपि बहुब्राह्मणकृतपुण्याहशब्दरवकृतामपि गुप्तिम् । अतिक्रान्तः अतिक्रम्य कृतप्रवृत्तिः । ब्राह्मणेषु तथाशीःपरायणेष्वपि मृत्युर्न शक्तो निवर्त्तयितुं पर्यनुयोगः ।

प्रियावियोगनिर्वेदपरित्यक्तराज्यभारः—प्रियायाः इन्दुमत्याः वियोगेन विरहेण निर्वेदः विषयवैमुख्यं तेन परित्यक्तो राज्यभारो धरणीशासनभारो येन सः । नित्यावभृथस्नानप्रशान्तरजाः नित्यैः प्रतिवासरोपक्लृप्तैः अवभृथस्नानैः यज्ञ-दीक्षान्ताभिषेकैः प्रशान्त प्रक्षालित रजः रजोगुणकृतमन्तरशुद्धत्वं यस्य स तथा । अन्योऽपि हि रजसाप्लुतो जलेन स्नात्वा रजोरहितो भवतीति तथोक्तिः ।

श्लाघनीयपश्चात्तापाय—श्लाघनीयः प्रशंसायोग्यः पश्चात्तापः प्रियात्यासक्तिवि-

---

देवकुलिक—ये हैं महाराज रघु । जिनके कान सोते-जागते समय ब्राह्मणों के पुण्याहवाचन की मन्त्रध्वनि से पूर्ण हुआ करते थे ।

भरत—ओह ! प्रबल मौत इस घेरे को भी पारकर गई । ब्राह्मणों की सेवामें समग्र संपत्ति अर्पित करनेवाले महाराज रघुको मेरा प्रणाम । ये आगे कौन हैं ?

देवकुलिक—ये हैं अपनी प्रियतमा महारानी के वियोग में विरक्त होकर राज-पाट को त्याग देने वाले और नित्य प्रति किये जाने वाले यज्ञों के अवसान में अभिषेकों से सम्पूर्ण कल्मषभार को धो देने वाले महाराज अज ।

भरत—प्रशंसनीय पश्चात्ताप, आपको नमस्कार । (दशरथ की प्रतिमा को

कयन् पर्याकुलो भूत्वा) भोः ! बहुमानव्याक्षिप्तेन मनसा सुव्यक्तं नावधारितम् । अभिधीयतां कस्तावदत्रभवान् ?

देवकुलिकः—अयं दिलीपः ।

भरतः—पितृपितामहो महाराजस्य । ततस्ततः ।

देवकुलिकः—अत्रभवान् रघुः ।

भरतः—पितामहो महाराजस्य । ततस्ततः ।

देवकुलिकः—अत्रभवानजः ।

भरतः—पिता तातस्य । किमिति किमिति ?

देवकुलिकः—अयं दिलीपः, अयं रघुः, अयमजः ।

भरतः—भवन्तं किञ्चित्पृच्छामि । धरमाणानामपि प्रतिमाः स्थाप्यन्ते ?

पयोऽनुतापो यस्य तस्मै । प्रियावियोगदूनस्य तत्खेदापाकृतयेऽहरहः सकलप्रवृत्तिः प्रशंसनीयेति भावः । पर्याकुलः—पृष्टपूर्वमर्थमपि पुरतो दशरथप्रतिमामालोक्य व्याक्षिप्तचेताः किमिदमापतितमिति क्षोभेणैकपदेऽस्तव्यस्तचित्तदशः । बहुमानव्याक्षिप्तेन पुरुषगौरवादन्यत्रासक्तेन गुणगौरवभावनाकृष्टहृदयतया प्रदीयमानमपि परिचयं पुनः प्रष्टुमयं कारणोपन्यासः । अभिधीयतां पुनरुच्यताम् ।

धरमाणानां जीवनं धारयताम् । धृङ्-प्राणधारणे इत्यस्य तु नायं प्रयोगः । तथा सति ध्रियमाणानामिति स्यात्, किन्तु धृञ्-धारणे इत्यस्यैव ।

देखते हुए और घबरा कर) मेरा हृदय महापुरुषों की गौरवचिन्ता में लग गया था, इसलिये ठीक से समझ नहीं सका । अतः फिर से आप बतावें—ये कौन हैं ?

देवकुलिक—यह दिलीप हैं ।

भरत—महाराज के प्रपितामह । आगे चलिये ।

देवकुलिक—ये हैं रघु ।

भरत—महाराज के पितामह । इसके आगे ।

देवकुलिक—ये हैं अज ।

भरत—महाराज के पिता । क्या कहा ? क्या ?

देवकुलिक—ये दिलीप हैं, ये रघु हैं, ये अज हैं ।

भरत—आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ । क्या जीवितों की भी प्रतिमायें स्थापित की जाती हैं ?

देवकुलिकः--न खलु, अतिक्रान्तानामेव ।
भरतः--तेन आपृच्छे भवन्तम् ।
देवकुलिकः--तिष्ठ ।

येन प्राणाश्च राज्यं च स्त्रीशुल्कार्थे विसर्जिताः ।
इमां दशरथस्य त्वं प्रतिमां किं नु पृच्छसे ? ॥ ८ ॥

भरतः--हा तात ! (मूर्च्छितः पतति । पुनः प्रत्यागत्य)

हृदय ! भव सकामं यत्कृते शङ्कसे त्वं
शृणु पितृनिधनं तद् गच्छ धैर्यं च तावत् ।

अतिक्रान्तानामेव इह लीलां समाप्य लोकान्तरे गतानामेव ।

आपृच्छे गच्छन्नामन्त्रये । नमनकालिकमनुज्ञायाचनामन्त्रणादिकमाप्रश्न उच्यते, तथा च कालिदासेन प्रयुज्यते मेघदूते--'आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलम्' इति । 'आङि नुप्रच्छ्योः' रिति तङ् ।

येनेति--येन राज्ञा दशरथेन स्त्रीशुल्कार्थे विवाहावसरे स्त्रियै देयतया प्रतिज्ञातं द्रव्यं स्त्रीशुल्कं तदर्थे प्राणाः राज्यं राज्यकर्म च विसर्जिताः परित्यक्ताः, तस्य दशरथस्य इमां पुरोवर्त्तमानां प्रतिमां त्वं किन्नु पृच्छसे किमिति न जिज्ञाससे । जिज्ञास्यचरित्रत्वात्तथाऽभिधानम् । अत्र प्राणा विसर्जिताः, राज्यं च विसर्जितमिति लिङ्गवचनविपरिणामेनान्वयः कार्यः, अन्यथैकशेषे नपुंसकबहुवचनप्रसक्तिः स्यादिति बोध्यम् ॥ ८ ॥

प्रत्यागत्य--संज्ञां लब्ध्वा ।

हृदयेति--हे हृदय चित्त ! सकामं पूर्णमनोरथं भव । पूर्णकामत्वं च स्वशङ्कितार्थाविसंवादादित्याह-- त्वं यत्कृते यस्मिन् विषये शङ्कसे स्वाकर्णनीयत्वेनोत्प्रेक्षसे स्म, तत् स्वाशङ्कितं विषयं शृणु आकर्णय निश्शङ्कं निशमय स्वाशङ्कितं पितृमरणमिति भावः । मध्येमार्गं जायमानैरशकुनलक्षणैरन्यैश्च विकृतिदर्शनादिभिर्यत्त्वया

देवकुलिक--नहीं जी केवल मृतकों की ।

भरत--अच्छा, अब आप मुझे आज्ञा दें ।

देवकुलिक--ठहरो,

जिन्होंने स्त्री-शुल्क के लिये अपने राज्य और प्राण सब कुछ छोड़ दिये, उन्हीं महाराज दशरथ की प्रतिमा के विषय में आप क्यों कुछ नहीं जानना चाहते ? ॥

भरत--हा पिताजी (मूर्च्छित होकर गिरता है, फिर होश में आकर)

हृदय, अब तुम्हारी कामना पूर्ण हुई, जिसकी तुम्हें आशङ्का थी, वह पितृमरण-

स्पृशति तु यदि नीचो मामयं शुल्कशब्द-
स्त्वथ च भवति सत्यं तत्र देहो विशोध्यः ॥ ६ ॥

आर्य ?

देवकुलिकः--आर्येति इक्ष्वाकुकुलालापः खल्वयम्। कश्चित् कैकेयी-पुत्रो भरतो भवान् ननु ?

भरतः—अथ किम्, अथ किम्। दशरथपुत्रो भरतोऽस्मि, न कैकेय्याः।

देवकुलिकः—तेन ह्यापृच्छे भवन्तम्।

पितृपादनिधनवृत्तमकर्णनीयत्वेन सम्भावितं तदधुना शृण्वदात्मनः पूरय मनःकाम-मिति स्पष्टार्थः। तु किन्तु नीचः गर्हितः अयं शुल्कशब्दः मां स्पृशेत् यदि मां सम्ब-ध्नीयात् विषयीकुर्यात्, मद्राज्याभिषेचनं शुल्कशब्दार्थत्वेन वक्तुरभिप्रेतं चेदित्यर्थः (न केवलं कथनमात्रेण किन्तु तत्सत्यत्वपरीक्षणेन)। अथ च सत्यं भवति यदि, (तद्वचनं तदभिप्रायेणोच्यमानं सत्यं यदि) तत्र तर्हि देहः विशोध्यः अग्निपु पाकादिना शुद्धिं प्रापणीयः। अयमाशयः—अन्योऽपि कृतमहापापः प्रायश्चित्तान्तरेणाशोध्ये स्वपापे क्वचिदग्निपुटे स्थित्वा प्राणान् जहाति शुद्ध्यति च, तथैवाहमपि यदि मदीय-जनन्या मदभिषेचनार्थमेव स्वविवाहशुल्कभावेन राज्यं याचमानया प्राणाः पितृपादा-नामपहारिता इति सत्योक्तिस्तदा अग्निपुटे दग्ध्वा स्वं निजमयशः क्षालयिष्यामीति ॥

आर्येति—आर्य इत्येवं रूपं सामान्येऽपि जने सबहुमानमामन्त्रणं सम्बोधनम् इक्ष्वाकुकुलोत्पन्नपुरुषसाधारणम्। इयती सुजनता नम्रता मिष्टभाषिता चैतेष्वेव सम्भाव्यत इति भावः।

अथ किम् अङ्गीकारेण इक्ष्वाकुकुलत्वमात्रे स्वीकृतिः प्रदत्ता न सर्वांशे, तदाह—न कैकेय्या इति।

वृत्तान्त सुनो और धीरज बाँधो। किन्तु हाय! यदि श्री-शुल्क में याचित राज्य का उद्देश्य मैं बनाया गया होऊँगा, तब तो देह की शुद्धि करनी होगी अर्थात् कड़ी परीक्षा देकर अपना निर्दोषत्व साबित करना पड़ेगा ॥ ६ ॥

आर्य !

देवकुलिक—'आर्य' कहकर बात करना तो इक्ष्वाकुवंशी लोगों का क्रम है, क्या आप कैकेयीपुत्र भरत तो नहीं हैं ?

भरत—जी हाँ, दशरथ का पुत्र भरत हूँ, कैकेयी का पुत्र नहीं।

देवकुलिक—अच्छा, अब आप मुझे आज्ञा दें।

भरतः—तिष्ठ । शेषमभिधीयताम् ।

देवकुलिकः—का गतिः ? श्रूयताम् । उपरतस्तत्रभवान् दशरथः । सीतालक्ष्मणसहायस्य रामस्य वनगमनप्रयोजनं न जाने ।

भरतः—कथं कथमार्योऽपि वनं गतः ? (द्विगुणं मोहमुपगतः)

देवकुलिकः—कुमार ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

भरतः—(समाश्वस्य)

अयोध्यामटवीभूतां पित्रा भ्रात्रा च वर्जिताम् ।
पिपासार्तोऽनुधावामि क्षीणतोयां नदीमिव ॥ १० ॥

आर्य ! विस्तरश्रवणं मे मनसः स्थैर्यमुत्पादयति । तत् सर्वमनवशेषमभिधीयताम् ।

का गतिरिति—अयोध्यावृत्तान्तमभिधातुमागृहीतस्य मम कष्टनिवेद्येऽपि तस्मिन् प्रवृत्तिः कर्त्तव्यैवैत्यनभ्युपायतामापद्य परितापं व्यनक्ति । उपरतः मृतः ।

अयोध्यामिति-पित्रा परलोकप्रवासेन भ्रात्रा वनगतेन च वर्जितां परित्यक्ताम् अत एव प्रियजनपरिहीनतया निरानन्दामटवीभूतामरण्यभावं गताम् अयोध्याम् पिपासया पानीयाभिलाषेण आर्त्तः पीडितः क्षीणतोयां शुष्कजलां नदीं धारामिव अनुधावामि । अयमर्थः—यथा कोऽपि पिपासार्त्तः मरुषु शुष्यत्तोयां सरितमनुधावन् विफलाभिलाषो भवति, तथैवाहमपि प्रियपितृपादस्नेहपरायणभ्रातृदिदृक्षयोभाभ्यामपि ताभ्यां विरहिते अयोध्यानामनि पुरे प्रविशामि,तत्राभिलाषपूर्त्तेरसम्भवादिति । उपमात्रालङ्कारः ॥ १० ॥

विस्तरश्रवणं विवरणपूर्वकाकर्णनम्, (पितृभ्रातृव्यसनस्येति शेषः) स्थैर्यम् आकुलीभाववैधुर्यम् , अनवशेषं निःशेषम्, अभिषिच्यमाने राज्यधुरि नियोज्यमाने ।

भरत—ठहरिये, और कुछ कहिये ।

देवकुलिक—क्या किया जाय ? सुनिये । महाराज दशरथ अब नहीं रहे । सीता और लक्ष्मण के साथ राम क्यों वन चले गये ? इसका पता मुझको नहीं है ।

भरत—क्या आर्य भी बन को चले गये ? (फिर मूर्च्छित होते हैं)

देवकुलिक—कुमार, धीरज धरो, धीरज धरो ।

भरत—(होश में आकर)

हाय पिताजी और आर्य राम से शून्य इस वन के समान अयोध्या में जा रहा हूँ, जैसे कोई प्यासा आदमी सूखी नदी की ओर दौड़ता जा रहा हो ॥ १० ॥

आर्य, विस्तारपूर्वक सुनने से मेरे मन को कुछ सहारा मिल रहा है, कृपया पूरा वृत्तान्त कह सुनाइये ।

देवकुलिकः—श्रूयतां, तत्रभवता राज्ञाभिषिच्यमाने तत्रभवति रामे भवतो जनन्याऽभिहितं किल ।

भरतः—तिष्ठ ।

तं स्मृत्वा शुल्कदोषं भवतु मम सुतो राजेत्यभिहितं
तद्धैर्येणाश्वसन्त्या व्रज सुत ! वनमित्यार्योऽप्यभिहितः ।
तं दृष्ट्वा बद्धचीरं निधनमसदृशं राजा ननु गतः
पात्यन्ते धिक्प्रलापा ननु मयि सदृशाः शेषाः प्रकृतिभिः ॥

(मोहमुपगतः)

अत्र वर्त्तमानार्थकशानचा कैकेयीकर्तृकविघ्नस्य अभिषेकप्रवृत्तिकालिकत्वमुक्तं तेन च तादृशव्यवहारस्य नितान्तमनौचित्यम्, तेनाधिकखेदावहत्वं च व्यञ्जितम् । भवतो जनन्या तव मात्रा, अत्रापि तस्या नाम्नोनुपादानं क्षोभस्य व्यञ्जनार्थम् ।

तिष्ठ अलमितोऽग्रेऽभिधायेत्यर्थः । एतावतैव तदाचरितेन तन्मनोवृत्तेः परिचये शेषस्य स्वयमूहितुं शक्यत्वादिति भावः ।

तं स्मृत्वेति—तं पूर्वोक्तं शुल्कं वैवाहिकपणम् (अनर्थकारितया) दोषं स्मृत्वा मनसिकृत्य 'मम कैकेय्याः सुतो भरतो राजा भवतु' इति कैकेय्या राज्ञेऽभिहितमुक्तम्, तद्धैर्येण स्वोक्तस्यार्थस्य राज्ञा स्वीकृतत्वे पुत्रकर्तृकराजत्वप्राप्तौ जातेन विश्वासेन आश्वसन्त्याऽशिकसफलतया सन्तोषं वहन्त्या तया कैकेय्या आर्यः रामोऽपि 'त्वं वनं व्रज चतुर्दश वर्षाणि वने निवासे व्यतिगमयेति' अभिहितः उदीरितः । तं रामं बद्धचीरं 'वनवासाय प्रस्थातुकामेन तदुपयुक्तवसनादिधारणीयमि'तिपरिहितवल्कलं दृष्ट्वा राजा दशरथः असदृशं स्वरूपाननुरूपं निधनं मृत्युं गतः । पुत्रशोकेन प्राणान् पर्यत्याक्षीदित्यर्थः । (अधुना कैकेय्या तथाऽनुष्ठिते) शेषाः सर्वस्यास्य

देवकुलिक—सुनिये, जब माननीय महाराज राजकुमार राम का अभिषेक कर रहे थे उस समय आपकी माता ने कहा······

भरत—बसकीजिये,

उस अनर्थकारी विवाहशुल्क की याद आने से कहा होगा कि 'मेरा पुत्र राज्याधिरूढ हो' । इस प्रार्थना के सफल हो जाने से उसका हार्दिक बल बढ़ गया होगा, और उसने दूसरी प्रार्थना की होगी कि–राम वन को जाँय । वल्कलधारी रामको वन जाते देख राजा बेमौत मर गये होंगे । इन सब बातों से दुःखी प्रजा इन सभी बातों का मूल मुझे मानकर धिक्कारती होगी । उसका धिक्कारना ठीक भी है ॥ ११ ॥

(मूर्च्छित हो गये)

(नेपथ्ये)

उत्सरतार्याः ! उत्सरत ।

उस्सरह अय्या ! उस्सरह ।

देवकुलिकः--(विलोक्य) अये,

काले खल्वागता देव्यः पुत्रे मोहमुपागते ।
हस्तस्पर्शो हि मातॄणामजलस्य जलाञ्जलिः ॥ १२ ॥

(ततः प्रविशन्ति देव्यः सुमन्त्रश्च)

सुमन्त्रः--इत इतो भवत्यः ।

दुराचरणस्य फलभूताः धिक्प्रलापाः धिगित्युक्तयो निन्दावादाः प्रकृतिभिः अमात्यपुरोगैः पुरजनैः मयि भरते पात्यन्ते निधीयन्ते । अयमेष भरतो यदर्थमयमनर्थः समुपनतो धिगिमम् इत्यधिक्षिपन्ति जना इति भावः । तिष्ठेत्यनेन शीर्षस्य स्वयमूहनं प्रतिज्ञातं तदनेन प्रकाशितमिति बोध्यम् ॥ १२ ॥

दशरथप्रतिमां साक्षात्कर्तुं कौसल्यादयो देव्य आजिगमिषन्ति, तदेतदवस्थानुरूपं समुदाचारमाचरति परिजनः--उत्सरतेत्यादिना ।

काले इति—देव्यः कौसल्यादयो राजाङ्गनाः काले उचिते समये आगताः उपेताः खलु । तदेव समर्थयितुमाह--पुत्रे इति । पुत्रसमाश्वासनावसरस्योपस्थितत्वादत्रासामधुनोपसत्तिः कालान्तरोपसत्त्यपेक्षया समधिकोपयोगेत्याशयः । ननु सामान्यजनेनापि मूर्च्छितस्य भरतस्य वीजनादिनोपचारेण मूर्च्छादा निरसनीयत्वे तन्मातॄणामुपस्थितिर्नाधिकप्रयोजनेत्याशङ्कायामाह--हस्तेति । मातॄणां हस्तस्पर्शः मातृभिः क्रियमाणः पाणिकरणकः स्पर्शः अजलस्य जलरहितस्य जलार्थिनः जलाञ्जलिः स इव तृप्तिप्रदो मातृहस्तस्पर्श इति भावः । अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ १२ ॥

(नेपथ्य में)

हट जाइये । हट जाइये ।

देवकुलिक—(**देखकर**) अच्छा,

पुत्र के मूर्च्छित होने पर मातायें आ गईं, बड़ा अच्छा हुआ । क्योंकि पुत्र के लिये माता का हस्तस्पर्श प्यासे के लिए जलधारा के समान हुआ करता है ॥१२॥

(देवियों तथा सुमन्त्र का प्रवेश)

सुमन्त्र—महारानि, आपलोग इधर से आवें ।

इदं गृहं तत् प्रतिमानृपस्य नः समुच्छ्रयो यस्य स हर्म्यदुर्लभः।
अयन्त्रितैरप्रतिहारिकागतैर्विना प्रणामं पथिकैरुपास्यते ॥१३॥

(प्रविश्यावलोक्य) भवत्यः ! न खलु न खलु प्रवेष्टव्यम्।

अयं हि पतितः कोऽपि वयःस्थ इव पार्थिवः।

देवकुलिकः—

परशङ्कामलं कर्तुं गृह्यतां भरतो ह्ययम् ॥ १४ ॥

(निष्क्रान्तः)

इदमिति। यस्य प्रतिमागृहस्य समुच्छ्रय औन्नत्यम्, हर्म्यदुर्लभः प्रासाददुरापः सः प्रसिद्धः, तदिदं नितरां प्रसिद्धम् , नः अस्माकं हतभाग्यानां प्रतिमानृपस्य प्रतिमारूपेणावशिष्टस्य राज्ञः प्रतिमागृहम् अस्तीति शेषः। (यत् इदम् प्रतिमागृहम्) अप्रतिहारिकागतैः द्वारपालनैरपेक्ष्येण प्रविष्टैरत एव अयन्त्रितैः कपाटादिनियन्त्रणरहितैः पथिकैः अध्वगैः विना प्रणामम् अन्तरेणैव नमस्कारम् उपस्थिते मार्गश्रमापनोदनाय निशातिवाहनाय वा अध्युष्यते। साक्षान्नृपस्य भवन प्रतीहारिद्वारागतैः पदे पदे नियन्त्रितैः अमात्यादिभिरपि प्रणामादिसमुचितशिष्टाचारपूर्वकं प्रविश्यते सेव्यते च, प्रतिमागृहमिदं तु पथिकैः स्वयं निरवरोधं प्रविश्यते प्रणामादिकमन्तरेणैवाध्युष्यते चेति प्रतिमागृहस्य राजगृहान्न्यूनताख्यो व्यतिरेकः॥'

प्रविशन्तीनां देवीनां निषेधः कृतः, सम्प्रति तत्कारणमाह--अयमिति। वयःस्थः वयसि वर्त्तमानस्तरुणः पार्थिव इव दशरथ इव कोऽपि पतितः भूमौ निपतितः। अस्तीति शेषः।

परशङ्कां परः भरताद्भिन्नोऽयमिति शङ्कां वितर्कं कर्त्तुम् अलं वृथा, परोऽयमिति मा शङ्किष्ठा इति भावः। नियमेन बोधयन्नाह—अयं भूमौ भरतः पतितः गृह्यताम्, उत्थाप्य अङ्कमारोप्य शीतलजलवीजनादिकोपचारेण प्रकृतिमानेतुमिमं प्रयत्यतामिति यावत्॥

यह है कि प्रतिमारूप से अवस्थित महाराज का सदन, जो ऊंचाई में राजमहलों से भी बड़ा है। यात्री लोग यहाँ बिना रोक-टोक के आते जाते और बिना प्रणाम के उपासना करते हैं॥ १३॥

(बैठकर और देखकर) आप अन्दर मत आवें,

यहाँ कोई कुमार गिर पड़ा है। मालूम पड़ता है जैसे राजा दशरथ की जवानी की देह हो।

देवकुलिक—आप दूसरे की आशङ्का मत करें, ये भरत हैं, इन्हें संभालिये॥१४॥

(जाता है)

देव्यः—(सहसोपगम्य) हा जात ! भरत ! (हा जाद ! भरद !)

भरतः—(किञ्चित् समाश्वस्य) आर्य !

सुमन्त्रः—जयतु महा (इत्यर्धोक्ते सविषादम्) अहो स्वरसादृश्यम्। मन्ये प्रतिमास्थो महाराजा व्याहरतीति ।

भरतः—अथ मातृणामिदानीं काऽवस्था ।

देव्यः—जात ! एषा नोऽवस्था । (अवगुण्ठनमपनयन्ति)
जाद ! एसा णो अवत्था ।

सुमन्त्रः—भवत्यः ! निगृह्यतामुत्कण्ठा ।

भरतः—(सुमन्त्रं विलोक्य) सर्वसमुदाचारसन्निकर्षस्तु मां सूचयति। कच्चित् तात ! सुमन्त्रो भवान् ननु ?

स्वरसादृश्यं वाग्भङ्गीतुल्यत्वम् , येन भरते वदति प्रतिमागतो महाराज वदतीति मादृशोऽपि चिरसहचरो जनो भ्राम्यति ।

इदानीं तातपादनिधनरामप्रवासानन्तरम् ।

अवगुण्ठनमपनयन्ति—अवगुण्ठनपटमपनीय स्वशिरःसिन्दूरप्रमोषं शिरोधून जनितं श्वयथुं च दर्शयन्ति, तेन नितान्तक्लेशावस्थाऽनक्षरोच्चारणमेवावेदिता भवति निगृह्यतां मनस्सु नियम्यताम् । उत्कण्ठा आवेगः ।

सर्वसमुदाचारसन्निकर्षः सर्वस्मिन् सर्वप्रकारके अवगुण्ठनापनयनादिरूपे (पु विस्रब्धवृद्धमन्त्रिभिन्नपुरुषसन्निकर्षे विधातुमयोग्येऽपि) सन्निकर्षः सन्निधिस्थितिः मां सूचयति बोधयति'अमुको भवानि'ति अनुमापयति । अनुमितमेवार्थं निश्चयायोद हरति—कच्चिदिति । अवगुण्ठनापसारणादिकं कार्यं राजदाराणामतिविविक्ते प्रियपुत्र

रानियाँ—(वेग से समीप जाकर) हा पुत्र ! भरत !

भरत—(कुछ होश में आकर) आर्य !

सुमन्त्र—जय हो महा······(आधा कहकर ही शोक से रुककर) अहा कितना स्वरसादृश्य है ? ज्ञात होता है जैसे दशरथ की प्रतिमा ही बोल रही हो

भरत—माताओं की क्या अवस्था है ?

रानियाँ—पुत्र, यह हमारी अवस्था है । (घूंघट हटाती है)

सुमन्त्र—देवियों, अपने आवेग को रोकें ।

भरत—(सुमन्त्र को देखकर) सभी प्रकार के व्यवहार में आपकी उपस्थिति से मुझे जान पड़ता है, आप सुमन्त्र हैं ?

सुमन्त्रः—कुमार ! अथ किम् । सुमन्त्रोऽस्मि ।

अन्वास्यमानश्चिरजीवदोषैः कृतघ्नभावेन विडम्ब्यमानः ।
अहं हि तस्मिन् नृपतौ विपन्ने जीवामि शून्यस्य रथस्य सूतः ॥१५॥

भरतः—हा तात ! (उत्थाय) तात ! अभिवादनक्रममुपदेष्टुमिच्छामि मातॄणाम् ।

सुमन्त्रः—बाढम् । इयं तत्रभवतो रामस्य जननी देवी कौसल्या ।

भरतः—अम्ब ! अनपराद्धोऽहमभिवादये ।

दिपरिजनादिमात्रसन्निधाने संभवति, भवति च सन्निहिते तत्ताभिराचरितमिति कार्येण रूपादिसंवादेन चात्र भरतस्य सुमन्त्रपरिचयो बोध्यः ।

अन्वास्यमान इति—चिरजीवदोषैः दीर्घजीविपुरुषसुलभैः स्वप्रियजनविपदुपनिपातप्रत्यक्षीकरणादिरूपैर्दूषणैः अन्वास्यमानः अनुगम्यमानः, कृतघ्नभावेन कृतघ्नतया विडम्ब्यमानः लोकैः कृतघ्नोऽयमिति परिहास्यमानः, (स्वामिमरणेऽपि तदननुवृत्त्या परिहासः) अहं सुमन्त्रः तस्मिन् प्रसिद्धपराक्रमे नृपतौ विपन्ने विपद्ग्रस्ते मृत इत्यर्थः, शून्यस्य राज्ञा रहितत्वेन रिक्तस्य रथस्य सूतश्चालकः जीवामि कथञ्चित् प्राणान् धारयामि । अयमाशयः—यद्यहं चिरजीवितां नाप्स्यम्, ईदृशं राजमरणरामवनवासादिदर्शनावसरं मनोव्यथकं नाध्यगमिष्यम्, राजनि मृते तदनुवृत्त्यकरणात् कृतघ्नोऽयमिति लोकानां परिहासस्य पात्रतां नाश्रयिष्यम्, मृते च राजनि शून्यं रथं नावाहयिष्यमिति सर्वमपीदं मदीयचिरजीविताविजृम्भितमिति धिङ् मम जीवनम् ॥ १५ ॥

अभिवादनेति—बहुकालं प्रोष्य दृष्टासु मातृषु का केति विशेषमजानन् कस्यै प्रथमं प्रणाममुपनयेदिति व्यामोहेनेदृशः प्रश्नः ।

अनपराद्धः अकृतापराधः, एतेन कैकेय्या कृते कुकर्मणि स्वासम्मतिः प्रकाशिता ।

सुमन्त्र—कुमार, हाँ मैं सुमन्त्र ही हूँ ।

दीर्घकालजीविता ने मुझमें अनेक बुराइयाँ ला दीं । कृतघ्नताने मुझे) विडम्बित किया, और अब मैं राजा के मर जाने पर सुने रथ का सारथि हूँ ॥ १२ ॥

भरत—हा तात, (उठकर) तात, अब मैं माताओं के प्रणाम करने का क्रम जानना चाहता हूँ ।

सुमन्त्र—अच्छा । ये हैं राम की माता देवी कौसल्या ।

भरत—अम्ब, निरपराध मैं आपको प्रणाम करता हूँ ।

कौसल्या—जात ! निःसन्तापो भव ।

जाद ! णिस्सन्दावो होहि ।

भरतः—(आत्मगतम्) आक्रुष्ट इवास्म्यमेन । (प्रकाशम्) अनुगृहीतोऽस्मि । ततस्ततः ।

सुमन्त्रः—इयं तत्रभवतो लक्ष्मणस्य जननी देवी सुमित्रा ।

भरतः—अम्ब ! लक्ष्मणेनातिसन्धितोऽहमभिवादये ।

सुमित्रा—जात ! यशोभागी भव ।

जाद ! जसोभाई होहि ।

भरतः—अम्ब ! इदं प्रयतिष्ये । अनुगृहीतोऽस्मि ततस्ततः ।

सुमन्त्रः—इयं ते जजनी ।

निःसन्तापः विगतहृदयज्वरः, एतेन कौसल्याया उदारहृदयतोक्ता ।

आक्रुष्ट इव अनेन कृतापराधे अपराधिजनात्मीये अपराधसम्बन्धयोग्ये वा मयि प्रवृत्तोनेदृशेन मङ्गलाशीर्वचनेन आक्रुष्ट इव उपालब्ध इव अस्मीति । कौसल्योदीरितः शुभाशीर्वादोऽप्युपालम्भवत् मम हृदयं व्यथयतीति भावः । एतेन भरतस्य स्वविषया जुगुप्सा तया च सन्तापातिशयो व्यज्यते ।

अतिसन्धितः रामानुगमनलक्ष्मणातिलाभावसरे संविभागमकृत्वा स्वयं तद्ग्रहणेन वञ्चितः ।

प्रयतिष्ये यशोलाभमुद्दिश्य यत्नं करिष्ये । एतेन भरतस्य राज्यविषयकोऽलोभः कर्त्तव्यनिर्धारणक्षमता च प्रकटिता ।

कौसल्या—बेटा, तेरे सन्ताप शान्त हों ।

भरत—(स्वगत) इस आशीर्वाद से कुछ भर्त्सना सी प्रकट होती है । (प्रकट) बड़ी कृपा । और ।

सुमन्त्र—ये हैं लक्ष्मण की माता सुमित्रा ।

भरत—माता, रामसेवा के लिये मुझे अवसर न देकर लक्ष्मण द्वारा वञ्चित मैं तुमको प्रणाम करता हूँ ।

सुमित्रा—बेटा, यशस्वी बनो ।

भरत—अम्ब, इसके लिये प्रयत्न करूंगा । आगे ?

सुमन्त्र—ये हैं आपकी जननी ।

भरतः—(सरोषमुत्थाय) आः पापे !

मम मातुश्च मातुश्च मध्यस्था त्वं न शोभसे ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये कुनदीव प्रवेशिता ॥ १६ ॥

कैकेयी—जात ! किं मया कृतम् ?
जद ! किं मए किदं ?

भरतः—किं कृतमिति वदसि ?

वयमयशसा, चीरेणार्यो, नृपो गृहमृत्युना,
प्रततरुदितैः कृत्स्नाऽयोध्या, मृगैः सह लक्ष्मणः ।
दयिततनयाः शोकेनाम्बाः, स्नुषाऽध्वपरिश्रमै-

ममेति—मम मातुः कौसल्यायाः, मातुः सुमित्रायाश्च मध्ये अन्तरभागे त्वं कैकेयी न शोभसे न शोभामावहसि, सदृशयोरेव सहवासस्य शोभाऽऽधायकत्वात् । अशोभनत्वमेवोपमया प्रकाशयति–गङ्गायमुनयोरिति । कुनदी क्षुद्रा सरित् । एतै क्षुद्रा सरिद्यावत्या मात्रया गौरवतारतम्ये गङ्गापेक्षया यमुनापेक्षया वाऽधमा, तावत्यैव मात्रयात्वमनयोरपेक्षयाऽधमेति तयोर्भरतस्यातिशयित आदरभावो व्यक्तः॥१६॥

किं मया कृतम् किमकार्यं मया कृतं येनैवमुपालभस इति भावः ।

वयमिति—त्वया वयम् अयशसा योजिताः 'भरत एवं राज्यलोभेन मात्रैवं कारितवान्' इत्येवंरूपया अकीर्त्या योजिताः, आर्यः रामः चीरेण वल्कलेन योजित इति संबन्धनीयम्, एवमग्रेऽपि सर्वत्र यथालिङ्गवचनं विपरिणमय्य योजिता इत्यनुषञ्जनीयम् । रामो वनवासोचितवेषविशेषं ग्राहित इत्यर्थः । नृपो राजा दशरथः गृहमृत्युना योजितः मुनिवृत्तिमाश्रित्य वने मर्तुमुचितो गृहमरणेन संयोजितः । कृत्स्ना सकलावयवयुक्ता अयोध्या प्रततरुदितैः अविरलाश्रुवर्षणैः योजिता । लक्ष्मणो मृगैः सह योजितः वने मृगसहवासितां गमित इत्यर्थः । दयितास्तनया यासां ता दयिततनयाः प्रियपुत्राः अम्बाः जनन्यः शोकेन भर्तृवियोगवैधव्यपुत्रप्रवासादिदुःखेन योजिताः ।

भरत—(बड़े क्रोध से उठकर) आः पापे !

मेरी माता कौसल्या और माता सुमित्रा के बीच में बैठी तुम उसी भाँति बुरी लगती हो, जैसे गङ्गा और यमुना के बीच में प्रविष्ट कुनदी ॥ १६ ॥

कैकेयी—बेटा, मैंने क्या किया ?

भरत—कहती है क्या किया ?

मुझे अयश गठरी से कलङ्कित कर दिया, आर्य राम को वल्कलधारी बना दिया, महाराज को मरनेके लिये बाधित किया, सारी अयोध्या को रुलाया, लक्ष्मण को

धिगिति वचसा चोग्रेणात्मा त्वया ननु योजिताः ॥१७॥

कौसल्या—जात ! सर्वसमुदाचारमध्यस्थः किं न वन्दसे मातरम् ?

जाद ! सव्वसमुदाआरमज्झत्थो किं ण वन्दसि मादरं ।

भरतः—मातरमिति । अम्ब ! त्वमेव मे माता । अम्ब ! अभिवादये ।

कौसल्या—न हि, न हि । इयं ते जननी ।

णहि णहि इअं दे जणणी ।

भरतः—आसीत् पुरा । न त्विदानीम् । पश्यतु भवती—

स्नुषा पुत्रवधूः सीतादेवी अध्वपरिश्रमैः मार्गसञ्चारायासैर्योजिता, आत्मा च उग्रेण मर्मभेदिना धिगिति वचसा 'धिक् कैकेयीम्' इति निन्दावचनेन योजितः । एतावत्या अनर्थपरम्पराया मूलं भूत्वापि किं मया कृतमिति स्वकर्त्तव्यप्रश्नप्रगल्भायास्तव धाष्टर्यमतितरां समृद्धमिति । एतेन भरतस्य कैकेयीं प्रति घृणाख्यो भावो व्यक्तः, प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां चैकक्रियाभिसम्बन्धनात्तुल्ययोगितालङ्कारः, तथा च तल्लक्षणम्—'प्रस्तुतानां पदार्थानामन्येषां वा यदा भवेत् । एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता' इति ॥ १७ ॥

सर्वसमुदाचारमध्यस्थः सकलसदाचारपालनप्रवणः । मातरं कैकेयीम्, किन्न वन्दसे ? कुतो न प्रणमसि ? सर्वसदाचारपालको भूत्वा मातृवन्दनरूपात् सदाचारात् कुतश्च्यवस इति ।

त्वमेव मे माता न चेयं कैकेयी मम माता, अत एनामप्रणमतोऽपि मम न मातृवन्दनरूपसदाचारपरित्यागरूपापयशमा मलीमसत्वमिति ।

आसीदिति—पुरा अस्यां कैकेय्यां मे जननीबहुमानः पूर्वमासीत्, न त्वधुनाऽस्ति, भर्तृपुत्रद्रोहापराधिन्यास्तादृशादरपात्रताऽभावादिति भावः ।

मृग-सहवासी बना दिया, पुत्रप्रणयिनी माताओं को शोक-सागर में डुबो दिया, पुत्रवधू सीता को जङ्गलों में भटकने और यातना भोगने के लिये भेज दिया और अपने को भी धिक्कार का पात्र बनाया ॥ १७ ॥

कौसल्या—बेटा, सब प्रकार से मर्यादा की रक्षा में प्रयत्नशील तुम अपनी माता को प्रणाम क्यों नहीं करते ?

भरत—अपनी माता को, मेरी माता तो तुम ही हो, तुमको नमस्कार ।

कौसल्या—नहीं नहीं, तुम्हारी माता ये हैं ।

भरत—हाँ, पहले थीं, अब नहीं हैं । आप देखें—

त्यक्त्वा स्नेहं शीलसङ्क्रान्तदोषैः पुत्रास्तावन्मन्दपुत्राः क्रियन्ते ।
लोकेऽपूर्वं स्थापयाम्येव धर्मं भर्तृद्रोहादस्तु माताऽप्यमाता ॥१८॥

कैकेयी–जात ! महाराजस्य सत्यवचनं रक्षन्त्या मया तथोक्तम् ।

जाद ! महाराअस्स सच्चवअणं रक्खन्तीए मए तह उत्तं ।

भरतः—किमिति किमिति ?

कैकेयी—पुत्रको मे राजा भवत्विति ।

पुत्तओ मे राजा होदु त्ति ।

भरतः—अथ स इदानीमार्योऽपि भवत्याः कः ?

त्यक्त्वेति–शीलसंक्रान्तदोषैः सहवासिमन्थरादिपरिजनगतदुष्टस्वभावतासङ्क्रमणरूपैर्दोषैः स्नेहं त्यक्त्वा ममतामुत्सृज्य पुत्रा अपुत्राः क्रियन्ते अपुत्रवद्गण्यन्ते, द्वेषजन्यदुर्व्यवहारभाजनतां नीयन्ते इत्यर्थः । अथवा द्विष्टव्यवहारेण पुत्रानर्हे कर्मणि प्रवर्त्यन्त इत्यर्थः । तथा च मातुरमातृचितकार्यकारित्वे तस्यास्तदुत्तररूपेण मयापि पुत्रेणाद्य यावदनाचरितमेव किमपि कर्त्तव्यमिति तदाह- लोकेऽपूर्वमिति । एषोऽहं लोके भुवनेऽपूर्वमन्यानननुष्ठितं धर्मं स्थापयामि प्रवर्त्तयामि । कोऽसौ धर्म इत्याह-—भर्तृद्रोहादिति । माता अपि भर्तृद्रोहादमाता अस्त्विति । अयमर्थः—पुत्रद्रोहद्वारेण स्वभर्तृमरणरूपद्रोहाचरणान्माताऽपि मातृबहुमानाभाजनमस्तु । यया तया मात्रा इदं प्रथमतया पुत्रे द्रोह आरब्धस्तथा मयापि पुत्रेण तस्यां मातरि मातृबहुमानत्यागः कृत इति, एतच्च 'कृते च प्रतिकर्त्तव्यमेव धर्मः सनातनः' इत्यनुरुध्योक्तम् । शालिनीवृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' इति ॥ १८ ॥

सत्यवचनं विवाहसमयदत्तं शुल्कप्रतिज्ञावाक्यम् । रक्षन्त्या यथार्थयन्त्या । यदि मया वरो न व्रियेत, राजा मिथ्यावचनतां नीयेतेत्याशयः ।

अथेति–'पुत्रको मे राजा भवत्विति' वरं याचमानाया भवत्या आर्यः रामः कः

दुष्ट परिजनों के सहवास से स्नेह को छोड़कर इसने अपने पुत्रों से सम्बन्ध तोड़ लिया है । आज मैं इस अपूर्व धर्म की स्थापना करने जा रहा हूँ कि जो स्त्री अपने स्वामी का द्रोह करे, वह पुत्रवती होने पर भी माता कहलाने की अधिकारिणी नहीं है ॥ १८ ॥

कैकेयी—बेटा, महाराज की प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए मैंने वैसा कहा था ।

भरत—सो क्या ?

कैकेयी—यही कि मेरा पुत्र राज्याधिकारी हो ।

भरत—क्या, राम तुम्हारे कौन होते हैं ?

पितुर्मे नौरसः पुत्रो न क्रमेणाभिषिच्यते ।
दयिता भ्रातरो न स्युः प्रकृतीनां न रोचते ? ॥ १९ ॥

कैकेयी—जात ! शुल्कलुब्धा ननु प्रष्टव्या ?

जाद ! सुक्कलुद्धा णणु पुच्छिदव्वा ?

भरतः—वल्कलैर्हृतराजश्रीः पदातिः सह भार्यया ।
वनवासं त्वयाऽऽज्ञप्तः शुल्केऽप्येतदुदाहृतम् ॥ २० ॥

कीदृशः सम्बन्धी । पुत्रो न भवति किमित्यर्थः । आर्ये राज्येऽभिषिच्यमाने तं प्रतिषिध्य मदर्थं राज्यं याचमानाया भवत्याः रामं प्रति पुत्रभावो न स्थित इति भवत्याऽनुचितमाचरितमिति ।

पितुरिति—आर्यः रामः मे मम पितुः औरसः धर्मभार्यायां स्वबीजोत्पन्नपुत्रो न भवति किम् ? काक्वा तस्य तद्भावोऽभिधेयः । क्रमेण वयःक्रमेण नाभिषिच्यते ? पुत्रेषु वयसा प्रथमः राज्येऽभिषेच्य इति व्यवहारः किमस्मत्कुले नास्ति ? अस्त्वेवेत्यर्थः । भ्रातरः आर्यरामादयो मत्सहिताः दयिताः अन्योन्यस्नेहपरायणाः न स्युः किम् ? न भवन्ति किम् ? सन्त्येवेत्यर्थः । (आर्यस्याभिषेकः) प्रकृतीनाम् अमात्यादीनां न रोचते न प्रियं किम् ? अयमाशयः—रामे पितुरौरसे पुत्रे कुलसमुदाचारमनुसृत्य ज्यैष्ठ्यक्रमेणाभिषिच्यमाने तदभिषेके बन्धुविरोधस्य प्रकृतिकोपस्य चासम्भावनायां भवत्या तदभिषेके विघ्नमाचर्य सर्वथातिदारुणं चरितमिति भावः ॥

प्रष्टव्येति—शुल्के प्रतिज्ञातस्यार्थस्यावश्यप्रदेयतया तं याचमानाहं न केनापि निन्दिताचरणदोषेण भर्त्सनीयेति भावः ।

वल्कलैरिति—शुल्कप्रतिज्ञातमर्थं याचितुमहमधिकारिणीति भाषणेन कुपितो भरतः । पुत्रराज्याभिषेकस्य यथा कथञ्चित्प्राप्तयाचनयोग्यत्वेऽपि रामवनवासस्य सर्वथाऽयोग्यत्वमाहानेन । वल्कलैः चीरैर्हृतराजश्रीः अपहृतराजलक्ष्मीकः पदातिः पादचारी भार्यया सह भार्यासहितः (आर्यरामः) त्वया वनवासम् आज्ञप्तः वने वसेत्या-

---

क्या वे मेरे पिता के औरस पुत्र नहीं ? क्या उनका अभिषेक ज्येष्ठ के क्रम से प्राप्त नहीं ? क्या हममें भ्रातृप्रेम का अभाव है ? क्या राम का अभिषेक प्रजानुमोदित नहीं ? ॥ १९ ॥

कैकेयी—बेटा, क्या विवाहशुल्क का लालच रखने वाली से ऐसे प्रश्न किए जाते हैं ?

भरत—तुमने राम को राज्य से वञ्चित कर चीर पहना कर सीतासहित पैदल वन को भेजा, यह भी विवाहशुल्क में कहा गया था ? ॥ २० ॥

कैकेयी—जात ! देशकाले निवेदयामि ।

जाद ! देसकाले णिवेदेमि ।

भरतः—

अयशसि यदि लोभः कीर्तयित्वा किमस्मान्
किम् नृपफलतर्षः किं नरेन्द्रो न दद्यात् ।
अथ तु नृपतिमातेत्येष शब्दस्तवेष्टो
वदतु भवति ! सत्यं किं तवार्यो न पुत्रः ? ॥ २१ ॥

दिष्टः । शुल्के एतदपि सभार्यस्यार्यस्य वनगमनमपि उदाहृतं कथितपूर्वम् किम् ? कामं पुत्राभिषेचनमुदाहृतम्, आर्यवनगमनं तु कदाचिदपि नोदाहृतमितीदानीमकाण्डे कल्पितवत्यसीति धिक् त्वां दुर्बुद्धिमिति भावः ॥ २० ॥

निवेदयामि रामवनवासाज्ञाप्रदानस्य कारणं समुचिते देशे काले च त्वां बोधयिष्यामीति तदाशयः । एतेन पुत्रस्य प्रलोभनार्थं तया प्रपञ्चप्रथनप्रकारः प्रकटितः ।

अयशसीति—यदि अयशसि कीर्त्तिविपर्यये लोभो यदि चेति अस्मान् कीर्त्तयित्वा किम् ? अस्मन्नामकीर्त्तनेन किं प्रयोजनं तेन विनैवायशसः सुलभत्वादिति भावः । एवं चाकीर्तिमात्रस्योद्देश्यत्वे प्रकारान्तरेणापि तल्लाभसम्भवे भरतार्थं राज्यं याच इति मदीयनाम्नः सम्बन्धनस्य तत्र नितरामनावश्यकत्वमिति भावः । नृपफलतर्षः राजप्रियत्वप्राप्यभोग्यवस्तुतृष्णा किमु ? नरेन्द्रः किं न दद्यात् ? सर्वार्थदातरि राजनि तव प्रिये तल्लोभोऽपि तवानुचित एवेत्याशयः । अथ तव नृपतिमाता राजजननी इत्येष शब्दः (स्वबोधकत्वेन) इष्टः अभिलषितश्चेत्, (अयि) भवति, आर्यः रामः तव पुत्रः न भवति किम् ? इति सत्यं वदतु, सत्यभावेन रामस्य पुत्रत्वे तदन्यथाभावे वा स्वां भावनामाविष्करोतु । एवं च रामस्य तव पुत्रत्वे राजमातेति विरुद्धस्यापि त्वया तस्मिन्नभिषिच्यमानेऽपि लभ्यतया वृथा कदर्थितोऽयं लोक इति भावः । मालिनीवृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति ॥ २१ ॥

कैकेयी—उचित स्थान और अवसर मिलने पर कभी बताऊँगी ।

भरत—यदि तुम्हें अयश ही मोल लेना था तो इस बीच में मेरा नाम क्यों ले लिया ? यदि राजैश्वर्य की कामना थी तो महाराज से तुम्हें क्या नहीं मिल सकता था ? यदि तुम्हें राजमाता कहलाने की लालसा थी तो सच बता, क्या राम तुम्हारे पुत्र नहीं हैं ? उनके राजा होने से तुम राजमाता नहीं बन सकती थी ? ॥ २१ ॥

कष्टं कृतं भवत्या,

त्वया राज्यैषिण्या नृपतिरसुभिर्नैव गणितः
सुतं ज्येष्ठं च त्वं व्रज वनमिति प्रेषितवती।
न शीर्णं यद् दृष्ट्वा जनकतनयां वल्कलवती-
महो धात्रा सृष्टं भवति! हृदयं वज्रकठिनम् ॥ २२॥

सुमन्त्रः—कुमार! एतौ वसिष्ठवामदेवौ सह प्रकृतिभिरभिषेकं पुरस्कृत्य भवन्तं प्रत्युद्गतौ विज्ञापयतः—

गोपहीना यथा गावो विलयं यान्त्यपालिताः।
एवं नृपतिहीना हि विलयं यान्ति वै प्रजाः ॥ २३ ॥

त्वयेति। भवति, राज्यैषिण्या पुत्रार्थं राज्यं कामयमानया त्वया नृपतिः राजा असुभिर्न गणितः प्राणैः परित्यज्यमानो नापेक्षितः (एतेन भर्तृद्रोह उक्त), ज्येष्ठं सर्वश्रेष्ठं सुतं पुत्रं रामं च त्वं वनं प्रेषितवती अस्मात् मदभिषेकदर्शनसतृष्णात् नगरान्निष्कासितवती (एष पुत्रद्रोहः), जनकतनयां सीतां वल्कलवतीं चीराणि वसानां दृष्ट्वा यत् तव हृदयं न शीर्णम् द्विधा न विदलितं तत् तव हृदयं धात्रा वज्रकठिनं वज्रवत कर्कशं सृष्टम्। अयमाशयः—त्वया राज्यलोभेन भर्तारं विपादयन्त्या कठोरता प्रदर्शिता ततोऽपि पुत्रस्य वनवासाकामनया जननीहृदयदुरापं दौरात्म्यं व्यञ्जितम्, यथा कथञ्चिदनयोर्वृत्तयोर्लोभप्राबल्येन कल्पनीयत्वेऽपि सीतासमानां पुत्रवधूं वल्कलानि परिदधतीं वीक्षमाणायास्तव हृदयं यन्न भिन्नं तदवश्यं तस्य वज्रसाधारणं काठिन्यमिति।

प्रकृतिभिः अमात्यादिभिः, अभिषेकं तदुपयोगिद्रव्यजातम्, पुरस्कृत्य सह नीत्वा।

गोपहीनेति—यथा गोपहीना गावोऽपालिताः (सत्यः) विलयं विनाशं यान्ति तथैव प्रजाः नृपविहीना राज्ञा विरहिताः विलयं यान्ति विपद्यन्ते, बाह्यान्तराक्रमणदोषे

तुमने बड़ा बुरा किया—

राज्यलालसा से तुमने महाराजके प्राणों की कुछ चिंता न की। अपने बड़े लड़के को तुमने वन भेज दिया। जनकदुलारीसीताको वल्कलवसना देखकर भी तुम्हारा हृदय नहीं विदीर्ण हुआ? विधाता ने तुम्हारे हृदयको वज्र कठिन बनाया है॥२२॥

सुमन्त्र—कुमार, भगवान् वसिष्ठ और वामदेव, प्रजावर्ग तथा अमात्यों के साथ आपके राज्याभिषेक के लिये आपको सूचित करते हैं कि—

जिस प्रकार गोपाल के बिना गावें विनष्ट हो जाती हैं, ठीक उसी तरह राजा के बिना प्रजाओं का नाश हो रहा है ॥ २३ ॥

भरतः—अनुगच्छन्तु मां प्रकृतयः।

सुमन्त्रः—अभिषेकं विसृज्य क्व भवान् यास्यति ?

भरतः—अभिषेकमिति ! इहात्रभवत्यै प्रदीयताम्।

सुमन्त्रः—क्व भवान् यास्यति ?

भरतः—तत्र यास्यामि यत्रासौ वर्तते लक्ष्मणप्रियः।

नायोध्या तं विनायोध्या सायोध्या यत्र राघवः ॥ २४ ॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे)

तृतीयोऽङ्कः।

न्यस्त्रातुरभावादिति भावः ॥ २३ ॥

अनुगच्छन्तु मदीयाज्ञां पालयन्तु, एतेन राज्यभारस्य स्वीकारः कृतः। केवलमनिषेकस्य स्वीकारो न कृतः। अथवा यत्राहं यामि तत्र चलन्तु प्रकृतयः, तत्रैवाभिषेकस्यापि निर्णयो भवेदिति भावः।

'अनुगच्छन्तु मां प्रकृतय' इत्यनेन गमने सूचिते 'क्व यास्यसी'ति सुमन्त्रेण पृष्टे तदुत्तरमाह—तत्रेति। 'लक्ष्मणप्रियः' इत्युक्त्या यत्सौभाग्यं प्रति ईर्ष्योक्ता। शेषं सुगमम् ॥ २४ ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रकृते 'प्रतिमानाटकप्रकाशे' तृतीयोऽङ्कः ॥ ३ ॥

भरत—प्रजायें मेरे साथ चलें।

सुमन्त्र—राज्याभिषेक को छोड़ कर आप कहाँ जायेंगे ?

भरत—अभिषेक ? अभिषेक इनको दिया जाय।

सुमन्त्र—आप कहाँ जायेंगे ?

भरत—मैं वहीं जाऊँगा, जहाँ लक्ष्मणप्रिय राम हैं, उनके बिना अयोध्या अयोध्या नहीं रही। राम जहाँ, अयोध्या वहाँ ॥ २४ ॥

(सबका प्रस्थान)

तृतीय अङ्क समाप्त।

अथ चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशतश्चेट्यौ)

विजया--हला नन्दिनिके ! भण भण । अद्य कौसल्यापुरोगैः सर्वै-

हला णन्दिणिए ! भणेहि भणेहि । अज्ज कोसल्लापुरोगेहि सव्वेहि

रन्तःपुरैः प्रतिमागेहं द्रष्टुं गतैस्तत्र किल भर्तृदारको भरतो

अन्तेवुरेहि पडिमागेहं दट्ठुं गदेहि तहि किल भट्टिदारओ भरदो

दृष्टः ? अहं च मन्दभागा द्वारे स्थिता ।

दिट्ठो ? अहं च मन्दभाआ दुवारे ट्ठिदा ।

नन्दिनिका--हला ! दृष्टोऽस्माभिः कौतूहलेन भर्तृदारको भरतः।

हला ; दिट्ठो अम्हेहि कोदूहलेण भट्टिदारओ भरदो।

विजया—भट्टिनी कुमारेण किं भणिता ?

भट्टिणी कुमारेण किं भणिदा ?

नन्दिनिका--किं भणितम् ? अवलोकितुमपि नेच्छति कुमारः ।

किं भणिदं ? आलोइदुं वि णेच्छदि कुमारो ।

प्रविशत इति--'तत्र यास्यामि यत्रासौ वर्त्तते लक्ष्मणप्रियाः' इति भरतस्य वनगमननिश्चयः प्रोक्तः । तदनुरुध्य तस्य वनगमनं वने रामेण सह समागमनं चात्र घटयिष्यते । तदवतारयितुं प्रवेशकेनात्र तद्वनप्रस्थानं प्राह ।

मन्देति--मन्दभागा भरतदर्शनसौभाग्यरहिता द्वारे स्थिता द्वारप्रतिपालनाधिकृता द्वारं परित्यज्य भरतावलोकनार्थं प्रतिमागृहाभ्यन्तरभागं प्रवेष्टुं न पारितवती।

कौतूहलेन चिरादर्शनजनितेन औत्सुक्ये ।

(दो चेटियों का प्रवेश)

विजया—सखी नन्दिनिका, कहो-कहो, आज कौशल्या प्रभृति सारा अन्तःपुर-प्रतिमागृह देखने गया था, क्या वहाँ भरत को देखा है ? मैं मन्दभागिनी तो दरवाजे पर ही खड़ी रही ।

नन्दिनिका—सखी हमने तो बड़े कौतूहल से कुमार भरत को देखा है ।

विजया—राजकुमार ने महारानी को क्या कहा ?

नन्दिनिका—क्या कहते ? राजकुमार तो उन्हें देखना तक नहीं चाहते ।

विजया—अहो अत्याहितम् । राज्यलुब्धया भर्तृदारकस्य रामस्य
अहो अच्चाहिदम् रज्जलुद्धाए भट्टिदारअस्स रामस्स
राज्यविभ्रष्टं कुर्वन्त्यात्मनो वैधव्यमादिष्टम् । लोकोऽपि
रज्जविब्भट्ठं करन्तीए अत्तणो वेहव्वं आदिट्ठं । लोओ वि
विनाशं गमितः । निघृणा खलु भट्टिनी । पापकं कृतम् ।
विणासं गमिओ । णिग्घिणा हु भट्टिणी । पापअं किदं ।

नन्दिनिका—हला ! शृणु । प्रकृतिभिरानीतमभिषेकं विसृज्य राम-
हला ! सुणाहि । पइदीहि आणीदं अभिसेअं विसज्जिअ राम-
तपोवनं गतः कुमारः ।
तपोवणं गदो कुमारो ।

विजया—(सविषादम्) हम् ! एव गतः कुमारः । नन्दिनिके । एह्यावां
हम् । एवं गदो कुमारो । णन्दिणिए । एहि, अम्हे
भट्टिनीं पश्यावः ।
भट्टिणिं पेक्खामो । (निष्क्रान्ते)

प्रवेशकः ।

अत्याहितम् । महती अनर्थपरम्परा । रामस्य राज्यविभ्रष्टं राज्यच्युतिम् । आदिष्टम् उपनमितम् । निर्घृणा निष्करुणा ।

प्रकृतिभिः अमात्यादिभिः, आनीतम् उपकल्पितम् । रामतपोवनं रामाधिष्ठितं तपोऽनुकूलं वनम् ।

एवं गतः एतादृशीं दशां गतः । दशा चात्र मातृमुखदर्शनविरामप्रकृत्युपकल्पिताभिषेकोपकरणोपेक्षा वनगमनप्रवृत्तिप्रभृतिः ।

विजया–ओह ! कैसा अन्याय है, इस राज्यलुब्धा रानी ने राम को राज्यच्युत किया, खुद विधवा बनी और प्रजाओं को अनाथ किया । सचमुच यह रानी बड़ी क्रूर है । इसने बड़ा बुरा किया ।

नन्दिनिका—सखी सुनो, अमात्यादि द्वारा प्रस्तुत राज्याभिषेक को ठुकराकर राजकुमार राम के तपो वन को चले गये ।

विजया—(खेद से) राजकुमार चले गये । नन्दिनिका, आओ, हम दोनों चल कर रानी को देखें ।

(दोनों का प्रस्थान)

(ततः प्रविशति भरतो रथेन सुमन्त्रः सूतश्च)

भरतः—स्वर्गं गते नरपतौ सुकृतानुयात्रे
पौराश्रुपातसलिलैरनुगम्यमानः ।
द्रष्टुं प्रयाम्यकृपणेषु तपोवनेषु
रामाभिधानमपरं जगतः शशाङ्कम् ॥ १ ॥

सुमन्त्रः—एष एष आयुष्मान् भरतः—
दैत्येन्द्रमानमथनस्य नृपस्य पुत्रो
यज्ञोपयुक्तविभवस्य नृपस्य पौत्रः ।
भ्राता पितुः प्रियकरस्य जगत्प्रियस्य
रामस्य रामसदृशेन पथा प्रयाति ॥ २ ॥

स्वर्गमिति—सुकृत पुण्यमनुयात्र सहगामि यस्य तस्मिन् सुकृतानुयात्रे पुण्यानुगे नरपतौ राजनि स्वर्गं गते दिवमुपयाते पौराणां पुरवासिनामश्रुपातसलिलैर्बाष्पजलैरनुगम्यमानः अहम् अकृपणेषु उदारेषु (रमणीयेषु) तपोवनेषु (वसन्तमिति सम्बन्धनीयम्) रामाभिधानं रामसंज्ञकं जगतः संसारस्य अपरं प्रसिद्धचन्द्रादतिरिच्यमानं शशाङ्कं जगदाह्लादकत्वशीतलशीलत्वादिना चन्द्रं द्रष्टुं प्रयामि गच्छामि । रामे चन्द्रत्वारोपाद्रूपकम् । ईदृशाः प्रयोगाः परत्रापि दृश्यन्ते । यथा नैषधीये—'इदं तमुर्वीतलशीतलद्युतिम्' इति । वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

दैत्येन्द्रेति—दैत्येन्द्रोऽसुरश्रेष्ठस्तस्य मानं दर्पस्तन्मथनस्य दलनकारकस्य असुराधिपाहङ्कारापहारिणो दशरथस्य नृपस्य राज्ञः पुत्रस्तनयः । यज्ञोपयुक्तविभवस्य यज्ञार्थविनियुक्तधनसम्पदो नृपस्य अजस्य पौत्रः । पितुःप्रियकरस्य तातेप्सिताचारिणः जगत्प्रियस्य जगतीहितकारिणः । रामस्य भ्राता भरतः रामसदृशेन रामतुल्येन पथा

(रथ में बैठे हुए भरत, सुमन्त्र और सारथि का प्रवेश)

भरत—महाराज दशरथ अपने पुण्य के बल स्वर्ग गये। मैं पुरवासियों के अश्रु-प्रवाह का संबल लेकर, उदार, तपोवन में रमते हुए राम को देखने जा रहा हूँ, जो पृथ्वी पर के दूसरे चन्द्र हैं ॥ १ ॥

सुमन्त्र—यह चिरायु भरत—

दैत्यराज के अभिमान को दूर करनेवाले दशरथ के पुत्र, समूची राज्यसमृद्धि को यज्ञों में लगा देने वाले अज के पौत्र, पितृप्रिय राम के भ्राता, राम की भाँति आदर्श-पथ पर जा रहे हैं ॥ २ ॥

भरतः—भोस्तात !

सुमन्त्रः—कुमार ! अयमस्मि ।

भरतः—क्व तत्रभवान् अस्मदार्यो रामः ? क्वासौ महाराजस्य प्रतिनिधिः । क्व सन्निदर्शनं सारवताम् ? क्वासौ प्रत्यादेशो राज्यलुब्धायाः कैकेय्याः ? क्व तत् पात्रं यशसः ? क्वासौ नरपतेः पुत्रः ? क्वासौ सत्यमनुव्रतः ?

मम मातुः प्रियं कर्तुं येन लक्ष्मीर्विसर्जिता ।

मार्गेण प्रयाति । यादृशेन मार्गेण रामो व्यवहरति, तादृशेन विश्वप्रशंस्येन मार्गेण भरतोऽपि व्यवहरतीति यावत् । अत्र पितृपितामहभ्रातृणां तत्तद्गुणगणकीर्त्तनेन भरतेऽपि तेषां गुणानां स्वाभाविकी स्थितिरावेदिता । विशेषणानां साभिप्रायतया परिकरोऽत्रालङ्कारः, 'विशेषणानां साभिप्रायत्वे परिकरः' इति तल्लक्षणात् । पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ।। २ ।।

महाराजस्य प्रतिनिधिः स्थानीयः एतेन तस्मिन् भरतस्य पितरीव बहुमानः सूचितः । सारवतां बलशालिनां सत् समीचीनं निदर्शनम् दृष्टान्तः । प्रत्यादेशः तिरस्क्रिया, राज्यप्राप्तये छलेन व्यवहरन्त्याः कैकेय्याः प्राप्तमपि राज्यं तृणाय मन्यमानो वनाय प्रतिष्ठमानो रामो मूर्तिरिव तत्पराभवस्य भवति स्मेति भावः । नरपतेः पुत्रः तादृशकठोरतराज्ञापालनेऽप्यकुण्ठमनोभावतया यथार्थभावेन पुत्रपद-व्यवहारार्हः, एतेन स्वस्याधन्यत्वं व्यञ्जितम् । अन्यत्स्पष्टमिति तद्व्याख्यानं स्वयमूहनीयम् । अत्र सर्वत्र 'प्रत्यादेशो धनुष्मताम्, अग्रणीर्विदग्धानाम्, धौरेयः साहसिकानाम्' इत्यत्रेवोल्लेखालङ्कारः, तल्लक्षणं यथा—'क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित् । एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते ।।' इति ।

ममेति—मम भरतस्य मातुः कैकेय्याः प्रियं हितं कर्त्तुः येन रामेण लक्ष्मीः

भरत—तात !

सुमन्त्र—राजकुमार, यहीं तो हूँ !

भरत—कहाँ हैं हमारे पूज्य राम कहाँ हैं वे महाराज के प्रिय प्रतिनिधि ? कहाँ हैं वे वीरों के उत्तम उदाहरण ? कहाँ हैं वे राज्यलुब्धा कैकेयी के तिरस्कर्ता ? कहाँ हैं वे यशोनिधि ? कहाँ हैं वे महाराज के आदर्श पुत्र ? कहाँ हैं वे सत्यसंकल्प ?

मेरी माता की इष्टसिद्धि के लिए जिन्होंने राज्य के ऐश्वर्य को ठुकरा दिया ।

तमहं द्रष्टुमिच्छामि दैवतं परमं मम ॥ ३ ॥

सुमन्त्रः—कुमार ! एतस्मिन्नाश्रमपदे—

अत्र रामश्च सीता च लक्ष्मणश्च महायशाः ।
सत्यं शीलं च भक्तिश्च येषु विग्रहवत् स्थिता ॥ ४ ॥

भरतः—तेन हि स्थाप्यतां रथः ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (तथा करोति)

भरतः—(रथादवतीर्य) सूत ! एकान्ते विश्रामयाश्वान् ।

सूतः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् । (निष्क्रान्तः)

भरतः—भोस्तात ! निवेद्यतां निवेद्यताम् ।

(उपस्थितापि) राज्यश्रीः विसर्जिता परित्यक्ता, तं मम परमं सतताराध्यं दैवतं द्रष्टुं विलोकयितुम्, अहं भरतः, इच्छामि इच्छन् यामीति । अन्यदीयमातुः प्रियं कर्तुं यः समुपस्थितां राज्यश्रियं परिहरति, सोऽयमसाधारणमाहात्म्यवत्तया देवोपमः श्रद्धयाऽऽराध्य इति तमहं द्रष्टुं गच्छामीति तदाशयः ॥ ३ ॥

अत्रेति । महायशाः प्रचुरविमलकीर्त्तिः रामः, सीता, लक्ष्मणश्च तिष्ठन्तीति शेषः । येषु रामसीतालक्ष्मणेषु सत्यं शीलं भक्तिश्चेति त्रयम् । क्रमशः सत्यनिष्ठा, स्नेहो, गुरुजनविषयो भावश्चेति त्रितयं विग्रहवत् मूर्त्तिभागिव स्थितम् । तत्र रामे सत्यं सदा सत्यपालनपराणयत्वात्, सीतायां शीलं पत्यनुरागाधीनचित्तत्वात् लक्ष्मणे भक्तिः संतताज्ञाप्रतिपालनादिति बोध्यम् ॥ ४ ॥

विश्रामय मार्गश्रममपाकर्तुं विश्रान्तान् कारय ।

अपने उन्हीं आराध्य देव के दर्शन की कामना है ॥ ३ ॥

सुमन्त्र—कुमार, इसी आश्रम में—

महायशा राम, सीता और लक्ष्मण वास करते हैं; जहाँ ऐसा मालूम पड़ता है, मानो मूर्त्तिमान् सत्य, भक्ति और शील रहते हों ॥ ४ ॥

भरत—अच्छा, तो रथ रोको !

सूत—जो आज्ञा । (रथ को खड़ा करता है)

भरत—(रथ से उतरकर) सारथि, घोड़ों को एक ओर ले जाकर विश्राम करने दो ।

सूत—जो आज्ञा । (प्रस्थान)

भरत—तात, सूचित कीजिए ।

सुमन्त्रः—कुमार ! किमिति निवेद्यते ?

भरतः—राज्यलुब्धायाः कैकेय्याः पुत्रो भरतः प्राप्त इति ।

सुमन्त्रः—कुमार ! अलं गुरुजनापवादमभिधातुम् ।

भरतः—सुष्ठु, न न्याय्यं परदोषमभिधातुम् । तेन हि उच्यताम्—'इक्ष्वाकुकुलव्यङ्गभूतो भरतो दर्शनमभिलषती'ति ।

सुमन्त्रः—कुमार ! नाहमेवं वक्तुं समर्थः । अथ पुनर्भरतः प्राप्त इति ब्रूयाम् ?

भरतः—न न । नाम केवलमभिधीयमानमकृतप्रायश्चित्तमिव मे प्रतिभाति । किं ब्रह्मघ्नानामपि परेण निवेदनं क्रियते ? तस्मात् तिष्ठतु तातः । अहमेव निवेदयिष्ये । भो भो ! निवेद्यतां निवेद्यतां तत्रभवते पितृवचनकराय राघवाय—

परदोषमन्यदीयदोषम् न न्याय्यम् अनुचितमित्यर्थः । इक्ष्वाकुकुलव्यङ्गभूतः इक्ष्वाकुवंशकलङ्कभूतः ।

न नेति—केवलं मम नाम नाभिधीयतामित्यर्थः । तत्र हेतुमाह—नामेति । दोषविशेषास्पृष्टकेवलनामोपादानेन मत्प्राप्तिनिवेदनं न कर्तव्यम् । तदेवोपपादयति अकृतेति । वस्तुतो विद्यमानस्य दोषस्य कीर्त्तनेनान्वयं लम्भयित्वाऽभिधीयमानं तु कृतानुतापरूपप्रायश्चित्तं भवतीति, तथैव मदीयनाम सूचयितुमुपयुक्तमिति भावः । ब्रह्मघ्नानां ब्रह्महत्यासमानपापकलुषितानाम्, तन्नाम्नः परेणाभिधातुमयोग्यत्वादिति भावः ।

सुमन्त्र—कुमार, क्या सूचित किया जाय ?

भरत—राज्यलुब्धा कैकेयी का पुत्र भरत आया है ।

सुमन्त्र—गुरुजनों की निन्दा आप न किया करें ।

भरत—ठीक है, दूसरे की निन्दा करना अच्छा नहीं है । यह सूचित कीजिये कि इक्ष्वाकुकुलकलङ्क भरत आपका दर्शन करना चाहता है ।

सुमन्त्र—ऐसा मैं नहीं कह सकता । हाँ, भरत आये हैं, ऐसा निवेदन करूँ ?

भरत—नहीं, नहीं, केवल नाम लेने से प्रायश्चित्त नहीं हुआ-सा मुझे मालूम पड़ता है । ब्रह्मघातियों की सूचना भी दूसरे देते हैं ? आप रहने दें । मैं खुद सूचित करूँगा । पिता के वचनों की रक्षा करनेवाले महानुभाव रघुकुलतिलक को सूचित करो—

निर्घृणश्च कृतघ्नश्च प्राकृतः प्रियसाहसः।
भक्तिमानागतः कश्चित् कथं तिष्ठतु यात्विति ॥ ५ ॥

(ततः प्रविशति रामः सीतालक्ष्मणाभ्याम्)

रामः—(आकर्ण्य सहर्षम्) सौमित्रे ! किं शृणोषि ? अयि विदेहराजपुत्रि ! त्वमपि शृणोषि ?

कस्यासौ सदृशतरः स्वरः पितुर्मे गाम्भीर्यात् परिभवतीव मेघनादम्।
यः कुर्वन् मम हृदयस्य बन्धुशङ्कां सस्नेहः श्रुतिपथमिष्टतः प्रविष्टः ॥६॥

निर्घृणश्चेति—निर्घृणः दयारहितः, कृतघ्नः कीर्त्तिविघाती च, प्राकृतः पामरः, प्रियसाहसः अनुचितसाहसविषयप्रेमपरायणः, (एतावद्दोषगणसङ्कुलोऽपि) भक्तिमान् त्वद्विषयेण भक्तिगुणेन युक्तः कश्चित् अनिर्देशार्हाभिधान आगतः, स कथं केन प्रकारेण तिष्ठतु त्वद्दर्शनप्रतीक्षाद्वारि सक्तो भवतु यातु दर्शनानर्हतया दृष्टिगोचरादपसरतु वा ? दोषाधिक्यादपगच्छतु, भक्तिमहिम्ना त्वद्दर्शनं प्रतीक्षतां वेति द्वैते विनिगमनाविरहादिति भावः ॥ ५ ॥

कस्यासाविति—मे मम पितुः सदृशतरः मत्पितृस्वरतुलितः कस्य असौ स्वरः वर्णपद्धतिप्रयोगपरिपाटी गाम्भीर्यात् मेघनादं घनरवं परिभवति अतिशेत इव । यः सस्नेहः स्नेहाख्यमानसभावव्यञ्जकः मम हृदयस्य बन्धुशङ्कां बन्धुरयमिति सन्देहं जनयन् इष्टतः इष्टतया कर्णरसायनतया श्रुतिपथं कर्णविवरं प्रविष्टः। अयं भावः—कस्यायं मत्तातपादस्वरसदृशो घनगर्जितानुकारी च शब्दो मम श्रोत्रमाप्याययन् वर्त्तते, यमुपश्रुत्य मम बन्धुना कृतोऽयं शब्द इति मम मनः सन्दिग्धे। प्रहर्षिणीवृत्तम्. 'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति तल्लक्षणम् ॥ ६ ॥

एक नृशंस, कृतघ्न, अधम और उद्दण्ड, किन्तु भक्तिशाली व्यक्ति आया है। क्या वह दरवाजे पर प्रतीक्षा में ठहरे या लौट जाय ॥ ५ ॥

(राम का सीता और लक्ष्मण के साथ प्रवेश)

राम—(सुनकर, हर्ष के साथ) लक्ष्मण, क्या सुन रहे हो ? जनकपुत्रि, क्या तुम भी सुन रही हो ?

मेरे पिताजी के स्वर से एक दम मिलनेवाला और गम्भीरता में मेघगर्जन के समान यह स्वर किसका हो सकता है ? यह स्वर मेरे हृदय में भ्रातृ-सन्देह उत्पन्न करता है, तथा स्नेहपूर्ण रूप में कर्णगोचर हो रहा है ॥ ६ ॥

लक्ष्मणः—आर्य । ममापि खल्वेष स्वरसंयोगो बन्धुजनबहुमानमावहति ।
एष हि—

घनः स्पष्टो धीरः समदवृषभस्निग्धमधुरः
कलः कण्ठे वक्षस्यनुपहतसञ्चाररभसः ।
यथास्थानं प्राप्य स्फुटकरणनानाक्षरतया
चतुर्णां वर्णानामभयमिव दातुं व्यवसितः ॥ ७ ॥

रामः—सर्वथा नायमबान्धवस्य स्वरसंयोगः क्लेदयतीव मे हृदयम् ।
वत्स ! लक्ष्मण ! दृश्यतां दृश्यतां तावत् ।

लक्ष्मणः—यदाज्ञापयत्यार्यः । (परिक्रामति)

घन इति—घनो निबिडः मांसलः, स्पष्टो व्यक्ताक्षरः, धीरो गंभीरः, समदवृषभस्निग्धमधुरः मत्तवृषस्वरवत् स्निग्धमधुरः सरसरमणीयः कलः कोमलध्वनिः स्फुटं प्रकटं सौष्ठवयुक्तं वा करणं वा बाह्याभ्यन्तरलक्षणः प्रयत्नो येषां तानि स्फुटकरणानि नानाक्षराणि यस्मिन् स स्फुटकरणनानाक्षरस्तस्य भावस्तया प्रयत्नकृताक्षरलभ्यस्फुटीभावेनेत्यर्थः । कण्ठे गले वक्षसि हृदयदेशे च यथास्थानं प्राप्य यस्याक्षरस्य यत् स्थानं ताल्वादि तत्तत् स्थानमनतिक्रमेण संस्पृश्येत्यर्थः । अत एव च स्थानप्रयत्नकृतदोषविरहिततया अनुपहतसञ्चाररभसः अप्रतिबद्धप्रचारवेगः एष हि स्वरः चतुर्णां वर्णानां ब्राह्मणादीनाम् अभयं दातुं व्यवसितः उद्युक्त इव प्रतिभातीति भावः । स्वरस्य यथोक्तगुणयोगोक्त्या तत्प्रयोक्तुः चातुर्वर्ण्यरक्षाचातुर्यं समर्थ्यते । एतेन चातुर्वर्ण्यरक्षाधिकारव्यञ्जकस्वरप्रयोक्तुर्महापुरुषत्वं प्रतिपादितम्, अन्यत्सुगमम् । शिखरिणीवृत्तम् ॥

क्लेदयति आर्द्रीकरोति, स्वजनस्वरस्यैवैष स्वभावो यद्हृदयमावर्जयेदिति । तथा च भवभूतिः—'अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात् प्रह्लादते मनः' इति ।

लक्ष्मण—आर्य, निश्चय ही यह स्वर मेरे हृदय में बन्धुजनोचित सम्मानभाव पैदा कर रहा है, क्योंकि—

यह स्वरसंयोग घन, स्पष्ट, गम्भीर, मतवाले साँड़ की आवाज के तुल्य सरस, मधुर, अभिरामता से भरा, यथास्थान से वर्णोच्चारण वाला, गले और छाती में अप्रतिहत वेग से प्रभावशाली है, जिससे प्रतीत हो रहा है कि चारों वर्णों को वह अभयदान देने को उद्यत हो ॥ ७ ॥

राम—निश्चय ही यह स्वरसंयोग किसी अबान्धव जन का नहीं है । इसे सुन कर मेरा हृदय पसीजा जा रहा है । वत्स लक्ष्मण, देखो तो ।

लक्ष्मण—जो आज्ञा । (टहलता है)

भरतः—अये, कथं न कश्चित् प्रतिवचनं प्रयच्छति ? किन्नु खलु विज्ञातोऽस्मि कैकेय्याः पुत्रो भरतः प्राप्त इति ?

लक्ष्मणः—(विलोक्य) अये अयमार्यो रामः ! न न । रूपसादृश्यम् ।

मुखमनुपमं त्वार्यस्याभं शशाङ्कमनोहरं
मम पितृसमं पीनं वक्षः सुरारिशरक्षतम् ।
द्युतिपरिवृतस्तेजोराशिर्जगत्प्रियदर्शनो
नरपतिरयं देवेन्द्रो वा स्वयं मधुसूदनः ॥ ८ ॥

अये इति खेदे । प्रतिवचनम् उत्तरम् । एतेनोपेक्षां मनसिकृत्य स्वापराधं स्मरति कैकेय्या इति । एतेन द्वेषाधीनद्वेषो मयि सम्भवत्येषाम् , स च मत्परिचयोपलब्धा-वेवेति तथाऽभिधानम् ।

न नेति—मनसि सञ्जातं रामभ्रमं झटिति विशेषदर्शनान्निषेधति—न नेति । सम्भ्रमकृता द्विरुक्तिः ।

मुखमिति—आर्यस्य रामस्य मुखस्य आस्यस्य आभेव आभा शोभा यस्य तत् , शशाङ्कमनोहरं चन्द्रवद्रमणीयं लोचनावर्जकम् अनुपमम् अन्यदीयवदनैस्तुल-यितुमशक्यं मुखम् , मम पितृसमं तातेन तुलितं सुरारिशरक्षतं देवसाहाय्यकाचर-णावसरेषु असुरगणवाणपातक्षततया व्रणकिणितम् , पीनं विशालं, वक्षः उरोदेशः, द्युतिपरिवृतः परितः प्रसरन्त्या कान्त्या मण्डलीभावेन वेष्टितस्तेजोराशिस्तेजसां समूह इव स्थितोऽयं जगत्प्रियदर्शनो धरणीलोचनरोचनः अयं नरपतिः कोऽपि राजविशेषः आकारान्तरधारी दशरथो वा देवेन्द्रो वा स्वयं मधुसूदनो विष्णुर्वा भवेत् । विशेषादर्शनात् सामान्यगुणयोगाच्च संशयोदयः । शुद्धः ससन्देहालङ्कारः । तल्लक्षणं यथा 'संदेहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः । शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा ॥' इति ॥

भरत—एँ, कोई उत्तर क्यों नहीं दे रहा है ? क्या वे लोग समझ गये कि कैकेयी का पुत्र भरत आया है ।

लक्ष्मण—(भरत की ओर देखकर) ओहो ! यह तो आर्य राम हैं । नहीं नहीं केवल आकृतिसाम्य है ।

चन्द्रमा के समान मनोहर आर्य से मिलता-जुलता कैसा कमनीय मुख है ! देवासुरसंग्राम में देवों की सहायता के लिए असुरों के बाणप्रहार से चिन्हित मेरे पिताजी की छाती से मिलती-जुलती चौड़ी छाती है, चारों ओर बिखरी ज्योति से दीप्तिमान्, तेजस्वी संसार की आँखों को प्यारे लगनेवाले यह क्या महाराज हैं ? या देवराज इन्द्र हैं ? या स्वयं विष्णुभगवान् हैं ? ॥ ८ ॥

(सुमन्त्रं दृष्ट्वा) अये तातः !

सुमन्त्रः—अये कुमारो लक्ष्मणः !

भरतः—एवं, गुरुरयम् । आर्य ? अभिवादये !

लक्ष्मणः—एह्येहि । आयुष्मान् भव (सुमन्त्रं वीक्ष्य) तात ! कोऽत्रभवान् ?

सुमन्त्रः—कुमार !

रघोश्चतुर्थोऽयमजात् तृतीयः पितुः प्रकाशस्य तव द्वितीयः ।
यस्यानुजस्त्वं स्वकुलस्य केतोस्तस्यानुजोऽयं भरतः कुमारः ॥६॥

लक्ष्मणः—एह्येहीक्ष्वाकुकुमारः ! वत्स ! स्वस्ति, आयुष्मान् भव ।

असुरसमरदक्षैर्वज्रसंघृष्टचापै-
रनुपमबलवीर्यैः स्वैः कुलैस्तुल्यवीर्यः ।

रघोरिति । रघोश्चतुर्थः वंशक्रमगणनायां चतुर्थत्वेन परिगणनीयः, अजात् तृतीयः तत्पौत्रः प्रकाशस्य लोकविख्यातस्य तव पितुर्द्वितीयः, आत्मा प्रथम आत्मजो द्वितीय इति गणनायामिति भावः । स्वकुलस्य रघुवंशस्य केतोर्विजयवैजयन्तीस्वरूपस्य यस्य रामस्य त्वमनुजः, तस्यैव रामस्यानुजोऽयं कुमारो भरत इति भावः । एनेन त्वयायं भ्रातृभावेनादरणीयो न तु कैकेयीसम्बन्धेन तिरस्करणीय इति सूचितम् ॥ ९ ॥

असुरेति । असुरैः दैत्यैः सह समरे युद्धे दक्षैः समर्थैः, वज्रेण इन्द्रायुधेन सह संघृष्टं जातस्पर्धं चापं धनुर्येषां तैः (असुरदमने करणीये मत्पूर्वपुरुषाणां धनुरिन्द्रायुधेन सहाहमहमिकां दधारेति लक्ष्मणस्याभिमानः) स्वकुलैः स्वगोत्रोत्पन्नैः तुल्य-

---

(सुमन्त्र को देखकर) ओहो, यह तो तात हैं !

सुमन्त्र—ओहो, क्या राजकुमार लछमण हैं ।

भरत—हाँ, यह बड़े भाई ही हैं । आर्य, अभिवादन करता हूँ ।

लछमण—आओ आओ । चिरञ्जीवी रहो । (सुमन्त्र की ओर देखकर) तात, ये कौन हैं ?

सुमन्त्र—कुमार ।

यह हैं महाराज रघु से चतुर्थ, महाराज अज से तृतीय जगत्प्रसिद्ध तुम्हारे पिता दशरथ से द्वितीय, और जिस कुलश्रेष्ठ राम के अनुज तुम हो, उन्हीं का अनुज भरत कुमार ॥ ६ ॥

लछमण—आओ, आओ, इच्वाकुवंशभूषण कुमार, वत्स, तुम्हारा कल्याण हो तुम चिरञ्जीवी रहो ।

असुरों के साथ संग्राम में कुशल, असुरसंहारः से वज्रस्पर्धी धनुष को धारण

रघुरिव स नरेन्द्रो यज्ञविश्रान्तकोशो
भव जगति गुणानां भाजनं श्राजितानाम् ॥ १० ॥

भरतः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

लक्ष्मणः—कुमार ! इह तिष्ठ । त्वदागमनमार्याय निवेदयामि ।

भरतः—आर्य ! अचिरमिदानीमभिवादयितुमिच्छामि । शीघ्रं निवेद्यताम् ।

लक्ष्मणः—बाढम् । (उपेत्य) जयत्वार्यः । आर्य !

अयं ते दयितो भ्राता भरतो भ्रातृवत्सलः ।
संक्रान्तं यत्र ते रूपमादर्श इव तिष्ठति ॥ ११ ॥

वीर्यः तुलितपराक्रमः त्वम्, सः प्रसिद्धः यज्ञविश्रान्तकोशः यज्ञे सर्वस्वदक्षिणाके विश्वजिद्यागे विश्रान्तः निरवशेषविनियुक्तः कोशो वित्तसञ्चयो येन तादृशः । गुणानां शौर्यौदार्यादीनां श्राजितानां शोभनानां भाजनम् आश्रयः आधारीभूतो नरेन्द्रो भव । अस्मत्पूर्वपुरुषा दैत्यान् पराभूय शक्रेण सहासनं लब्ध्वा सर्वस्वदक्षिणाकेन यज्ञेनेष्ट्वा च यां कीर्त्तिमुपार्जितवन्तस्तद्रक्षणेऽवहितो वर्त्तेथा इति राजपदेऽभिषेक्तुं दत्तावसराय भरताय लक्ष्मणोक्तिः काममपि मानसिकीं कदर्थनामिङ्गितयतीव ॥ १० ॥

अयमिति । अयं पुरो दृश्यमानस्ते दयितः प्रीतिपात्रम् भ्रातृवत्सलो भ्रातृष्वनुरक्तः भरतो नाम, भ्रातास्तीति शेषः । यत्र भरते ते तव रूपमादर्शे दर्पण इव संक्रान्तं प्रतिफलितम् । आदर्शे यथा कस्यापि रूपमविकलमशेषं च प्रतिफलति तथैव तव रूपं भरते संक्रान्तमिति भावः ॥ ११ ॥

करने वाले अतुल पराक्रम एवं वीर्य वाले अपने पूर्वजों की तरह पराक्रमी बनो । समूचे ऐश्वर्य को यज्ञ में लगा देने वाले महाराज रघु की भाँति संसार में दीप्यमान गुणों के भाजन बनो ॥ १० ॥

भरत—मैं आपका अत्यनुगृहीत हूँ ।

लक्ष्मण—कुमार! यहाँ ठहरो, मैं तुम्हारे आने की सूचना आर्य को दे रहा हूँ।

भरत—आर्य, मैं अब शीघ्र ही उनका अभिवादन करना चाहता हूँ । उनको शीघ्र सूचित कीजिये ।

लक्ष्मण—बहुत अच्छा, (राम के समीप आकर) जय हो आर्य की । आर्य, आपके प्रिय अनुज भरत आये हैं, जिनमें दर्पण की भाँति पूर्णतः आपका रूप प्रतिबिम्बित है ॥ ११ ॥

रामः—वत्स लक्ष्मण ! किमेवं भरतः प्राप्तः ?

लक्ष्मणः—आर्य ! अथ किम् ।

रामः—मैथिलि ! भरतावलोकनार्थं विशालीक्रियतां ते चक्षुः ।

सीता—आर्यपुत्र ! किं भरत आगतः ?

अय्यउत्त ! किं भरदो आअदो ?

रामः—मैथिलि ! अथ किम् ।

अद्य खल्ववगच्छामि पित्रा मे दुष्करं कृतम् ।
कीदृशस्तनयस्नेहो भ्रातृस्नेहोऽयमीदृशः ॥ १२ ॥

लक्ष्मणः—आर्य ! किं प्रविशतु कुमारः ?

विशालीक्रियतां विस्तार्यताम्, एतेन रामस्य भरतं प्रत्यादरातिशय उक्तः, अत्यादरस्नेहभाजनं हि वस्तु विवृत्य नेत्रे पश्यन्ति ।

अद्येति—अद्य अस्मिन् भरतकर्तृकमदनुगमनवासरे अवगच्छामि निश्चिनोमि । मे मम पित्रा दुष्करं स्वपुत्रराज्यभ्रंशनादिदुःक्षणप्राणनरूपम् असुकरं कृतम् असामान्यधैर्यगुणयोगात् कृतम् अनुष्ठितम् । ईदृशः अयम् भ्रातृस्नेहः भरतस्य स्वहस्तगतराज्यपरित्यागपूर्वकवनगतमल्लक्षणभ्रात्रनुगमनरूपकार्यप्रयोजकः (चेत्) पुत्रस्नेहः कीदृशः ? कीदृशकार्यप्रयोजकः स्यादिति । अयमाशयः—यदि भ्रातृस्नेहेन बाधितो भरतो निस्सपत्नमुन्नतं राज्यमुपेक्ष्य वनगतं मामनुगतस्तदा पुत्रस्नेहः कीदृशं कठिनमध्यवसायं प्रवर्त्तयेत्, नास्ति किमप्यसाध्यं तस्येत्यर्थः । अथ तादृशे पुत्रस्नेहे सत्यपि मम पिता मदीयराज्यविभ्रंशनं दृष्ट्वापि तावन्तमपि कालं याज्जीवनं धारयितुमशकत्तदीयधैर्येणैव पराक्रान्तमिति समधिकधैर्यशाली ममासीत्तातपाद इति ॥ १२ ॥

राम—वत्स लक्ष्मण, क्या सचमुच भरत आये हैं ?

लक्ष्मण—आर्य, और क्या ?

राम—मैथिलि, भरत को देखने के लिए अपनी आँख विशाल बनाओ ।

सीता—आर्यपुत्र, क्या भरत आये हैं ?

राम—मैथिलि, हाँ सच ।

आज मान रहा हूँ कि हमारे पिताजी ने बड़ा कठिन कष्ट उठाया होगा । भला, पुत्रस्नेह कितना गम्भीर होता होगा जब कि भ्रातृस्नेह इस तरह का है ॥ १२ ॥

लक्ष्मण—आर्य, क्या कुमार भीतर आवें ?

रामः-वत्स ! लक्ष्मण ! इदमपि तावदात्माभिप्रायमनुवर्तयितुमिच्छसि ।
गच्छ सत्कृत्य शीघ्रं प्रवेश्यतां कुमारः ।

लक्ष्मणः-- यदाज्ञापयत्यार्यः ।

रामः--अथवा तिष्ठ त्वम् ।

इयं स्वयं गच्छतु मानहेतोर्मातेव भावं तनये निवेश्य ।
तुषारपूर्णोत्पलपत्रनेत्रा हर्षास्रमासारमिवोत्सृजन्ती ॥ १३ ॥

सीता--यदार्यपुत्र आज्ञापयति । (उत्थाय परिक्रम्य भरतमवलोक्य) हं जं अय्यउत्तो आणवेदि ।

इदमिति--इदमपि भरतप्रवेशार्थमपि मदीयामादातुमिच्छस्याज्ञां वाञ्छसि, स हि त्वया स्वयमेव प्रवेशनीय आसीत्, अत्यात्मीयतया तत्प्रवेशे मदाज्ञाया अनपेक्ष्यत्वादिति भावः ।

इयमिति—तुषारपूर्णे हिमावृते उत्पलपत्रे कुवलयदले इव नेत्रे लोचने यस्याः सा आनन्दाश्रुपरिप्लुतनयनेन्दीवरा, आसारं धारासम्पातमिव हर्षास्रं भरतागमनजन्यानन्दाश्रुप्रवाहम् उत्सृजन्ती विसृजन्ती इयं सीता माता इव तनये पुत्रे भावं वत्सलतां निवेश्य पुरस्कृत्य मानहेतोः भरतस्यादरार्थं स्वयम् आत्मनैव गच्छतु । यथा माता पुत्रमागतं निशम्य हर्षाश्रुपरिप्लुताक्षी स्वयमागत्य स्नेहेन तं संभावयति, तथा भरतस्यागतस्य सत्कारार्थं सीता स्वयं यातु । एतेन भरतं प्रति तद्बहुमान उक्तः ॥ १३ ॥

हम् इति विस्मयव्यञ्जकम्, स च भरते दृष्टे तस्मिन् रामभ्रमेण जनितो रूप-

---

राम—वत्स लक्ष्मण, क्या इसमें भी मेरी राय जानना चाहते हो ? जाओ, शीघ्र सत्कारपूर्वक भरत को भीतर ले जाओ ।

लक्ष्मण—आर्य की जो आज्ञा ।

राम—अथवा तुम ठहरो ।

तुषारपूर्ण, कमलतुल्य तथा आनन्दाश्रुपूर्ण नयनवाली यह सीता खुद आनन्दाश्रु बरसाती हुई पुत्र के प्रति माता की ममता के सदृश ममता लिये हुए जाकर भरत का सत्कार करे ॥ १३ ॥

सीता—जो आज्ञा आर्यपुत्र की । (उठकर और भरत को देखकर) हूँ, क्या आर्यपुत्र मुझसे पहले ही भीतर से बाहर निकल आये ? नहीं नहीं, यह तो आकृति-साम्य है ।

ततस्तां वेलामिदानीं निष्क्रान्त आर्यपुत्रः । नहि नहि ।
तदो तं वेलं दाणि णिक्कन्तो अय्यउत्तो । णहि णहि ।
रूपसादृश्यम् ।
रूवसादिस्सं ।

सुमन्त्रः--अये वधूः ?

भरतः--अये, इयमत्रभवती जनकराजपुत्री ?

इदं तत् स्त्रीमयं तेजो जातं क्षेत्रोदराद्धलात् ।
जनकस्य नृपेन्द्रस्य तपसः सन्निदर्शनम् ॥ १४ ॥

आर्ये ? अभिवादये, भरतोऽहमस्मि ।

सीता--(आत्मगतम्) नहि रूपमेव । स्वरयोगोऽपि स एव (प्रकाशम्)
णहि रूवं एव्व । सरजोओ वि सो एव्व ।

वत्स ! चिरं जीव ।
वच्छ ! चिरं जीव ।

सामान्यकृतश्च वेदितव्यः, तां यस्यामेव वेलायां क्षणेऽहमुटजान्निर्गता तत्क्षण एवार्यपुत्रोऽपि मन्ये ततो बहिर्गतो येनेह पुरतो दृश्यते । न हीति । निपुणं निभालयन्त्या रामभ्रमव्यावर्त्तनीयमुक्तिः ।

इदमिति--क्षेत्रोदरात् क्षेत्रं कर्षणीया भूमिस्तदुदरात् तन्मध्यदेशात् हलात् सीरात् जातं जनकस्य सीतापितुर्विदेहस्य राज्ञः नृपेन्द्रस्य तपसः सन्निदर्शनम् उत्तममुदाहरणम्, इदं पुरोवर्ति स्त्रीमयं वनितामावेन परिणतं तत् प्रसिद्धं तेजः । जनकस्तपःफलभूतां यामयोनिजां तेजसा मासमानां तनयामलब्ध सा सीतैवेय-मिति भावः ॥ १४ ॥

भ्रातृमनोरथं त्वत्समागमविषयकम्, पूरय सफलय ।
किं करिष्यसि । मया सह पश्चाद्वा रामं द्रष्टुं प्रवेक्ष्यसीति प्रश्नः ।

सुमन्त्र—क्या बहूजी हैं ?

भरत—ओहो, ये तो पूज्या जनकतनया हैं ।

यह वही दीप्तिशाली स्त्रीरूप तेज है जो खेत जोतने के समय पृथ्वीगर्भ से निकला था और जो राजाधिराज जनक के तप का ज्वलन्त उदाहरण है ॥ १४ ॥

भरत—आर्ये मैं भरत आपको नमस्कार करता हूँ ।

सीता—(स्वगत) केवल आकृति ही नहीं, स्वर भी बिलकुल मिलता-जुलता है । (प्रकाश) वत्स, चिरंजीवी होवो ।

भरतः--अनुगृहीतोऽस्मि ।

सीता--एहि वत्स ! भ्रातृमनोरथं पूरय ।

एहि वच्छ ! भादुमणोरहं पूरेहि ।

सुमन्त्रः--प्रविशतु कुमारः ।

भरतः--तात इदानीं किं करिष्यसि ?

सुमन्त्रः--अहं पश्चात् प्रवेक्ष्यामि स्वर्गं याते नराधिपे ।

विदितार्थस्य रामस्य ममैतत् पूर्वदर्शनम् ॥ १५ ॥

भरतः--एवमस्तु । (राममुपगम्य) आर्य ! अभिवादये, भरतोऽहमस्मि ।

रामः--(सहर्षम्) एह्येहि इक्ष्वाकुकुमार ! स्वस्ति, आयुष्मान् भव !

वक्षः प्रसारय कपाटपुटप्रमाणमालिङ्ग मां सुविपुलेन भुजद्वयेन ।

अहमिति--(यतः) नराधिपे राजनि दशरथे स्वर्गं याते विदितार्थस्य अवगततत्स्वर्गगमनमाचारस्य (कर्त्तरि षष्ठी) रामस्य अधुना भुवि एतत् पूर्वदर्शनं मम प्रथमः साक्षात्कारः (अतः) अहं पश्चात् त्वयि प्रविष्टवति प्रवेक्ष्यामि । अयमाशयः-यदवधि दशरथो दिवमुपयातस्तदादि नाहं राममैक्षिषि, तदधुना मां दृष्ट्वा प्रमीतं तातमनुस्मृत्य रामो विमनायेत, सा च तदवस्था प्रियभ्रातृसमागमानन्दपरिपन्थिनी स्यादतो नाहं पूर्वं प्रवेष्टुमिच्छामि, न वा त्वया सह, किन्तु त्वया पूर्वं प्रविष्टेन सह समागमं कृत्वाऽऽनन्दमनुभूतवति रामे प्रविष्टस्य मम दर्शनेन जनितोऽपि तातस्मृतिप्रभूतो विषादो नाभूतमानन्दं लघयेदिति ॥ १५ ॥

वक्ष इति--कपाटपुटप्रमाणं कपाटोदरविस्तीर्णम्, वक्षः उरोदेशम्, प्रसारय

भरत—आपका अनुगृहीत हुआ ।

सीता—आओ वत्स, अपने भाई के मनोरथ को पूर्ण करो ।

सुमन्त्र—कुमार भीतर जावें ।

भरत—तात, आप इस समय क्या करेंगे ?

सुमन्त्र—महाराज जब से स्वर्गवासी हुए हैं, और इसकी सूचना राम को मिली है इसके बाद यह मेरी राम से पहली भेंट है, अतः मैं पीछे जाऊँगा ॥ १५ ॥

भरत—ऐसा ही सही । (राम के समीप जाकर) मैं भरत आपको नमस्कार करता हूँ ।

राम—(हर्ष से) आओ इक्ष्वाकुकुमार तुम्हारा कल्याण हो । तुम चिरायु होवो । किवाड़ की जोड़ी की तरह चौड़ी अपनी छाती फैलाओ, अपने विशाल बाहुओं

उन्नामयाननमिदं शरदिन्दुकल्पं प्रह्लादय व्यसनदग्धमिदं शरीरम् ॥१६॥

भरतः—अनुगृहीतोऽस्मि ।

सुमन्त्रः—(उपेत्य) जयत्वायुष्मान् ।

रामः—हा तात !

गत्वा पूर्वं स्वसैन्यैरभिसरिसमये खं समानैर्विमानै-
विख्यातो यो विमर्दे स स इति बहुशः सासुराणां सुराणाम् ।
सश्रीमांस्त्यक्तदेहो दयितमपि विना स्नेहवन्तं भवन्तं

विस्तृतं कुरु, तथा च सति त्वदालिङ्गनस्य सुखमधिकमनुभवितुं शक्नुयामिति भावः मां सुविपुलेन अतिलम्बेन भुजद्वयेन बाहुयुगलेन आलिङ्ग्य परिष्वजस्व । इदं गमत शरदिन्दुकल्पं शारदशर्वरीशसदृशम् आननम् उन्नामय उन्नतं कुरु । तथा च सति सकलमार्गेषु दृष्टिर्मम व्याप्रियेताधिकमानन्दं च विन्देति । (एभिश्च व्यापारैः) व्यसनदग्धं तातवियोगत्वद्विच्छेदादिजनितेन दुःखेनोपहतम् इदं शरीरं प्रह्लादय शिशिरय । 'स्निग्धजनसंविभक्तं हि दुःखं सह्यवेदनं भवती'ति न्यायेन कियतांशेन प्रसादमधिगच्छेयमिति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १६ ॥

गत्वेति—यः पूर्वं पुरा समये सासुराणां दैत्यैः सहितानां सुराणां देवानां विमर्दे संग्रामे देवासुरयुद्ध इत्यर्थः, अभिसरेः साहाय्यकार्थं प्रस्थानस्य समये समानैः देवाध्युषितविमानोपमैः विमानैः व्योमयानैः (करणैः) स्वसैन्यैरात्मसैनिकैः (सह) खं गत्वाऽऽकाशमुत्प्लुत्य सः सः (दोर्वीर्यातिशयेन सर्वेषां पश्यतां विस्मयजननेन) सोऽयं दशरथ इति विख्यातः प्रसिद्धः, जात इति शेषः । सश्रीमान् लब्धलक्ष्मीकः त्यक्तदेहः विमुक्तकायो नरेन्द्रः महाराजः दयितं प्रियसुहृदं स्नेहवन्तं अनुरागशालिनं भवन्तं

द्वारा मुझसे भेंटो । शरद्ऋतुके चाँदके सदृश अपने मुखको उठाओ, और शोक की ज्वाला में जलते हुए मेरे अङ्गोंको शीतल करो ॥ १६ ॥

भरत—मैं आपका अनुगृहीत हुआ ।

सुमन्त्र—(आकर) जय हो आयुष्मान् की ।

राम—हा तात,

आप पहले देवासुर संग्रामोंमें देवोंकी सहायताके लिए स्वर्ग जाते थे, उस यात्रामें आपके विमान देव विमानोंके सदृश होते थे, और उस युद्धमें महाराजकी विजयपर लोग आदर-सम्मान प्रकट करते थे, वही आप अपने प्रीतिपात्रोंके

स्वर्गस्थः साम्प्रतं किं रमयति पितृभिः स्वैर्नरेन्द्रैर्नरेन्द्रः ॥ १७ ॥

सुमन्त्रः—(सशोकम्)

नरपतिनिधनं भवत्प्रवासं भरतविषादमनाथतां कुलस्य ।
बहुविधमनुभूय दुष्प्रसह्यं गुण इव बह्वपराद्धमायुषा मे ॥ १८ ॥

सीता—रुदन्तमार्यपुत्रं पुनरपि रोदयति तातः ।

रोदन्तं अय्यउत्तं पुणो वि रोदावीअदि तादो ।

रामः—मैथिलि ! एष पर्यवस्थापयाम्यात्मानम् । वत्स ! लक्ष्मण ! आपस्तावत् ।

विना अन्तरा स्वर्गस्थः सन् अधुना पितृभूतैः पितृकोटिगणनीयैः स्वैरात्मीयैः नरेन्द्रैः रमयति आत्मानं विनोदयति किम् ? न कथमपीति प्रश्नकाकुलभ्योऽर्थः । यः पुरा त्वया सहितो देवसहायतायै सशरीरः स्वर्गं गतः, स इदानीं त्वां विना शरीरं त्यक्त्वा तत्र गतोऽपि कथमिवात्मानं विनोदयेत्, सुहृद्विनाकृतत्वादिति भावः । शौर्यातिशयरूपसमृद्धिवर्णनादुदात्तालङ्कारः, 'उदात्तं वस्तुनः सम्पद्' इति तल्लक्षणात् । पूर्वार्द्धे प्रतीयमानो वीरो रस उत्तरार्धे राजमरणात् प्रतीयमानस्य करुणस्याङ्गमिति बोध्यम् । स्रग्धराच्छन्दः, 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्' इति हि तल्लक्षणम् ॥ १७ ॥

नरपतीति । नरपतिनिधनं राज्ञो देहावसानम्, भवत्प्रवासं भवतां त्रयाणां वनयात्राम्, भरतविषादं भरतस्य भवत्प्रवासादिनिमित्तं दुःखम्, कुलस्य ईदृग्गुन्नतस्येक्ष्वाकुवंशस्यानाथताम् अशरणताम्, इत्येवं रूपं बहुप्रकारकं दुष्प्रसह्यं कृच्छ्रेण सोढव्यं दुःखं क्लेशमनुभूय मे मम आयुषा जीवितेन गुणे चिरजीवित्वलक्षणे इव बह्वपराद्धम् अनल्प उपघातः कृतः । यद्यहं चिरजीवितां नाध्यगमिष्यं तदैतानि दुःखानि नान्वभविष्यमिति ममायुषा चिरस्थायितांश एवापराधः कृत इति भावः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥

विना स्वर्गमें भी क्या आनन्द पाते होंगे ? ॥ १७ ॥

सुमन्त्र—(शोकसे) महाराजकी मृत्यु, आपका वनवास, भरतकी तकलीफ वंशकी अनाथता, वगैरह नाना प्रकारके कष्टोंको दिखाकर हमारी लम्बी उम्रने गुणोंके साथ दोष ही अधिक दिये ॥ १८ ॥

सीता—रोते हुए आर्यपुत्रको तात और भी रुला रहे हैं ।

राम—मैथिलि, यह देखो, अपने को संभाल लेता हूँ । वत्स लक्ष्मण जल ले आओ ।

लक्ष्मणः—यदाज्ञापयत्यार्यः ।

भरतः—आर्य ! न खलु न्याय्यम् । क्रमेण शुश्रूषयिष्ये । अहमेव यास्यामि । (कलशं गृहीत्वा निष्क्रम्य प्रविश्य) इमा आपः ।

रामः—(आचम्य) मैथिलि ! विशीर्यते खलु लक्ष्मणस्य व्यापारः ।

सीता—आर्यपुत्र ! नन्वेतेनापि शुश्रूषयितव्यः ।

अय्यउत्त ! णं एदिणा पि सुस्सूसइदव्वो ।

रामः—सुष्ठु खल्विह लक्ष्मणः शुश्रूषयतु । तत्रस्थो मां भरतः शुश्रूषयतु ।

इह स्थास्यामि देहेन तत्र स्थास्यामि कर्मणा ।
नाम्नैव भवतो राज्यं कृतरक्षं भविष्यति ॥ १६ ॥

पर्यवस्थापयामि प्रकृतावारोपयामि । आपस्तावत् जलमाह्रियताम्, येन मुखप्रक्षालनादिना प्रकृतिपुनरापत्तौ क्षमेयेति भावः ।

क्रमेण अवरजत्वानुसारेण, योऽवरजः । स श्रेष्ठं शुश्रूषेतेति भावः

विशीर्यते विच्छिद्यते, अधुनावधि वने लक्ष्मणस्यैव जलाहरणादि कार्यमासीत्, अधुना भरतस्तत्र व्याप्रियत इति तद्विच्छेदः ।

इह वने, तत्रस्थः नगरस्थः शुश्रूषयतु मत्कर्मानुतिष्ठतु, तदयं शुश्रूषाविभागोऽतिरमणीय इति भावः ।

इहेति । इह त्वया नित्यनिवासेन सनाथीकृते वने देहेन सदेहः स्थास्यामि; तत्र राजधान्यां कर्मणा राज्यपालनात्मकेन कर्त्तव्येन स्थास्यामि । कायेनात्र तिष्ठन् सर्वमपि राजधानीकार्यमनायासं सम्पादयिष्यामीति । ननु नित्यावधानसाध्ये राज-

---

लक्ष्मण—जो आज्ञा ।

भरत—आर्य, यह ठीक नहीं होगा । क्रमसे शुश्रूषा करेंगे । मैं ही जल लाऊँगा (कलश लेकर जाता और आता है) यह लीजिये जल ।

राम—(आचमन करके) मैथिलि, लक्ष्मणका धन्धा छूट-सा रहा है ।

सीता—आर्यपुत्र, इनको भी शुश्रूषा करनी चाहिये ।

राम—अच्छा; तो यहाँ लक्ष्मण शुश्रूषा करें और वहाँ भरत शुश्रूषा करेंगे

भरत—आप मुझ पर प्रसन्न हों ।

देहसे मुझे यहाँ रहने दिया जाय, वहाँ केवल मेरा प्रबन्ध रहेगा । रक्षा तो आपके नाम मात्र से हो जायगी ॥ १६ ॥

रामः—वत्स ! कैकेयीमातः ! मा मैवम् ।

पितुर्नियोगादहमागतो वनं न वत्स ! दर्पान्न भयान्न विभ्रमात् ।
कुलं च नः सत्यधनं ब्रवीमि ते कथं भवान् नीचपथे प्रवर्तते ॥२०॥

सुमन्त्रः—अथेदानीमभिषेकोदकं क्व तिष्ठतु ?

रामः—यत्र मे मात्राऽभिहितं, तत्रैव तावत् तिष्ठतु ।

भरतः—प्रसीदत्वार्यः । आर्य ! अलमिदानीं व्रणे प्रहर्तुम् ।

कर्मणि भवतोऽत्र दूरदेशे कृतकार्यता कथं संभाव्यतामित्यत्राह—नाम्नैवेति रामस्य राज्यमिति भवन्नामधेयान्वयमात्रेण अस्मदायासलेशं विनैवेत्यर्थः । कृतरक्षं सुरक्षितं भविष्यति । एवञ्चात्र मयि स्थिते न कस्यापि किमपि हीयत इति मा मामत्र स्थातुमिच्छन्तं प्रतिषेधीति भावः ॥ १९ ॥

कैकेयीमातः कैकेयी माता यस्येति विग्रहे बहुव्रीहौ समासे 'मातन्मातृक-मातृषु वा' इति वार्त्तिके मातृकमात्रोरुभयोर्निर्देशात् कपो विकल्पनाद्रूपम् ।

पितुरिति—अहं पितुः नियोगात् अनुशासनात् वनं काननम्, आगतः भयाद् वनं नागतः, दर्पाद् वनं नागतः, विभ्रमाद् बुद्धिनाशाद् वनं नागतः । नः अस्माकं कुलं वंशश्च सत्यधनं सत्यपालनव्यसनितया प्रसिद्धम् (तत्) ते ब्रवीमि (त्वया ज्ञायमानमपि) अवधानविशेषदानार्थं बोधयामि । एवं स्थिते भवान् नीचपथे राज्यभारग्रहणरूपपित्राज्ञापरित्यागलक्षणे कुत्सितमार्गे कथं केन प्रवर्त्तते ? न कथमपि भवता तत्र पथि वर्त्तनीयमिति भावः ॥ २० ॥

अभिषेकोदकम् अभिषेकार्थमानीतम् अनेकपुण्यतीर्थोद्धृतं जलम् । क्व तिष्ठतु कस्य शिरसि निधातव्यं भवान् मन्यत इत्यर्थः ।

व्रणे प्रहर्तुम् क्लेशिते क्लेशयितुम् । मद्राज्यवार्त्तयैव भवान् इमामवस्थां गमित-

---

सीता—वत्स; कैकेयीनन्दन, नहीं नहीं, ऐसा मत कहिये ।

मैं पिताकी आज्ञासे वन आया हूँ, वत्स ! न तो मैं अभिमानसे यहाँ आया हूँ, न भयसे, और न चित्तविभ्रमसे । हमारा वंश सत्यका पुजारी होता आया है, फिर तुम उससे उतरकर नीच पथपर क्यों उतरना चाहते हो ? ॥ २० ॥

सुमन्त्र—तो बताइये, अब अभिषेकका जल किसपर छोड़ा जाय ?

राम—जिसपर मेरी माताने कहा, उसीपर दीजिये ।

भरत—आर्य, आप मुझपर दया दिखावें, आर्य, अब फोड़ेपर नमक मत छिड़कें ।

अपि सुगुण ! ममापि त्वत्प्रसूतिः प्रसूतिः
स खलु निभृतधीमांस्ते पिता मे पिता च ।
सुपुरुष ! पुरुषाणां मातृदोषो न दोषो
वरद ! भरतमार्तं पश्य तावद्यथावत् ॥ २१ ॥

सीता—आर्यपुत्र ! अतिकरुणं मन्त्रयते भरतः । किमिदानीमार्य-
अय्यउत्त ! अधिकरुणं मन्तेअइ भरदो । किं दाणिं अय्य-
पुत्रेण चिन्त्यते ।
उत्तेण चिन्तीअदि ।

रामः—मैथिलि !

इति खेदमावहतो मम राज्याभिषेकप्रसङ्गः पुनरपि खेदं दीपयति, तस्माद्विरम्यतां तथोक्तेरिति भावः ।

अपीति—हे सुगुण, शोभनगुणनिलय ! त्वत्प्रसूतिः त्वदुत्पत्तिवंशो ममापि प्रसूतिः अपि ममापि प्रभवश्चेदित्यर्थः । निभृतधीमान् अचञ्चलप्रशस्तधिषणः स प्रसिद्धः खलु ते पिता मे चेदितीहापि सम्बन्धनीयम् । हे सुपुरुष ! पुरुषाणां मातृदोषो मातृकृतोऽपराधो न दोषश्चेत्, हे वरद, ईप्सितार्थदायिन् ! आर्तम् अतिपीडितम् यथावद् यथार्हम् भरतं पश्य तावदिति वाक्यालङ्कारे । यदि मामपि रघुवंशोद्भवं दशरथपुत्रं स्वभ्रातरं च जानासि, मातृकृतापराधेनादण्डनीयं च प्रतिपद्यसे, तदा मा मामुपेक्षिष्ठा इति भावः ॥ २१ ॥

अतिकरुणम् अतिशयहृदयाकर्षकम् । चिन्त्यते विचार्यते, नास्ति भरत इत्थं विलपति कस्याप्यर्थस्य चिन्तनस्यावसरस्तस्मादाशु भरतोक्तप्रकारेणानुष्ठानमनुजानीहीति द्रुतायाः सीताया आशयः ।

हे सुगुण, मेरा भी जन्म उसी वंशमें हुआ जिसके आप अलंकार हैं, मैं भी उन्हींका पुत्र हूँ जिनके आप वंशधर हैं । हे सुपुरुष, मातृदोषसे पुरुषोंको दोषी नहीं गिना जाता, अतः आप अभिलषित वरदाता होनेके कारण व्यथित भरत को दयादृष्टिसे देखें ॥ २१ ॥

सीता—आर्यपुत्र, भरतकी बातें अतिकरुणमय हो रही हैं । आप इस समय क्या सोच रहे हैं ?

राम—मैथिलि,

तं चिन्तयामि नृपतिं सुरलोकयातं
येनायमात्मजविशिष्टगुणो न दृष्टः।
ईदृग्विधं गुणनिधिं समवाप्य लोके
धिग् भो ! विधेर्यदि बलं पुरुषोत्तमेषु ॥ २२ ॥

वत्स ! कैकेयीमातः !

यत्सत्यं परितोषितोऽस्मि भवता निष्कल्मषात्मा भवां-
स्त्वद्वाक्यस्य वशानुगोऽस्मि भवतः ख्यातैर्गुणैर्निर्जितः।
किन्त्वेतन्नृपतेर्वचस्तदनृतं कर्तुं न युक्तं त्वया

तं चिन्तयामीति— सुरलोकयात स्वर्गगतं त नरपतिं तातमहाराजं चिन्तयामि, भरतनिष्ठगुणावलीसाक्षात्कारवेलायामस्यां स्मरामि येन अयं विश्वविलक्षणः आत्मजविशिष्टगुणः आत्मजेषु चतुर्ष्वपि स्वनन्दनेषु मध्ये विशिष्टगुणः सर्वाधिकगुणपूर्णः न दृष्टः तत्त्वेन साक्षात्कर्तुं न शक्तः, इदमीयगुणविकासावसरे तन्निधनादियमीदृशी भणितिः। ईदृग्विधम् एतादृशं गुणमयं पुत्रं समवाप्य लब्ध्वा लोके पुरुषोत्तमेषु मानुषश्रेष्ठेषु तातपादसदृशेषु यदि विधेर्भाग्यस्य बलं प्रभुत्वं तर्हि धिग् भोः। एतादृशविशिष्टपुत्रलाभेन धन्यस्यापि तातस्य तदीयगुणसाक्षात्कारणपरिपन्थिदैवपारवश्यमतीवानुचितमिति भावः ॥ २२ ॥

यत्सत्यमिति—भवता यत्सत्यं वस्तुतः परितोषितः स्नेहमयेन सरलेन च व्यवहारेण सन्तुष्टान्तरङ्गः कृतोऽस्मि। भवान् निष्कल्मषात्मा निष्पापबुद्धिः। भवतः ख्यातैः लोकेऽसाधारणतया प्रसिद्धिमाग्भिः गुणैः सौजन्यसारल्यादिभिः निर्जितः पराजितः स्वायत्तीकृतः। (अहम्) त्वद्वाक्यस्य त्वदीयवचनस्य वशानुगः वश्योऽस्मि, भवदुक्तमलङ्घनीयं मन्ये इत्यर्थः। नन्वेवमनुष्ठीयतां मद्वचनमित्यत्राह—किन्त्वि-

---

मैं सुरधामको प्रस्थित पिताजीको सोचता हूँ, जो अपने इन अनुपम गुणोंकी निधि इस पुत्ररत्नको नहीं देख सके। ऐसे गुणागार पुत्रको पाकर भी पिताजी कालकवलित हो ही गये, हत दैवको धिक्कार ॥ २२ ॥

वत्स कैकेयीनन्दन,

तुमने मुझे सचमुच बहुत प्रसन्न किया, तुम्हारी अन्तरात्मा अत्यन्त निर्मल है तुम्हारे वचनोंने मुझे वशमें कर लिया है, तुम्हारे जगद्विदित गुणोंने मुझे जीत लिया है। परन्तु महाराजकी यह आज्ञा है कि भरतको राजगद्दी मिले, उसे असत्य करना उचित नहीं। तुम्हीं बताओ तुम्हारे ऐसे धर्मधुरंधर पुत्रको पैदा करके तुम्हारे

किञ्चोत्पाद्य भवद्विधं भवतु ते मिथ्याभिधायी पिता ॥२३॥

रतः—यावद् भविष्यति भवन्नियमावसानं
तावद् भवेयमिह ते नृप ! पादमूले ।

ाम:—मैवं, नृपः स्वसुकृतैरनुयातु सिद्धिं
मे शापितो, न परिरक्षसि चेत् स्वराज्यम् ॥ २४ ॥

ारतः—हन्त अनुत्तरमभिहितम् । भवतु समयतस्ते राज्यं परि-

यादि । किन्तु एतत् राज्ये भरतोऽभिषेक्तव्य इतीदं नृपतेर्वचो वचनम् अस्तीति ोषः । तत् त्वया अमृतं मिथ्याभूतं (मां निर्बन्धेन राज्येऽभिषिच्य तदुक्तिरसत्या मा ारि कर्त्तुं न युक्तम् । पितुर्वचनस्य त्वादृशेन सुपुत्रेण सर्वदा पालनीयत्वेन आशंस्य-मानत्वाद् इत्याशयः । किञ्च भवद्विधं पुत्रमुत्पाद्यापि ते पिता मिथ्याऽभिधायी अस-त्याभिधानदोषपांसुलो भवतु नैतदुपपद्यत इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।।२३।।

यावदिति—यावत् यावन्तं कालं व्याप्य भवतो नियमस्य वनवासव्रतस्य अवसानं समाप्तिर्भविष्यति तावत् इह वने नृप, राजन् ते पादमूले त्वदाश्रितो भवेयं वर्तेयेति । यावद् भवान् स्ववनवासावधिं व्यतियापयति तावदिह भवन्तं शुश्रूषमाण-स्तिष्ठेयमिति भरतस्यानुरोधः ।

पद्यस्य उत्तरार्द्धभागं रामोक्तमाह—**मैवमिति**—मैवम् एवं मा वादीरित्यर्थः नृपः तातपादः स्वसुकृतैः स्वसत्यवादित्वादिजनितपुण्यैः सिद्धिं फलोदयम् अनुयातु लभताम् । 'त्वत्कर्तृकराज्यास्वीकरणे तु तातस्य मिथ्यावादित्वमिदं प्रथमतयोद्भू-वत्तं सिद्धेश्च्यावयेदतोऽलं तथाभिधायेत्याशयः (एवमपि) स्वराज्यं निजं राज-कर्तव्यं न परिरक्षसि चेत् मे मम शापितः अभिशप्तः असि भविष्यसि । वर्तमान-सामीप्ये लट् अहं त्वां शापेन विपादयिष्यामीति रामाभिप्रायः ।। वसन्ततिलकं वृत्तम् । तल्लक्षणं पूर्वमुक्तम् ॥ २४ ॥

अनुत्तरम् अविद्यमानप्रतिवचनम्, पितुः सत्यवचनतापालनाय त्वया राज्यमङ्गी-

---

पिता मिथ्यावादी बनें ? ॥ २३ ॥

भरत—तब तक मैं आपकी चरण-शुश्रूषा में रहूँ, जब तक आपके वनवास नियमका अवसान हो ।

राम—ऐसा हठ मत करो, पिताजी अपने किये पुण्योंसे निरवच्छिन्न स्वर्ग भोगें तुम्हें मेरी शपथ, यदि तुम अपना राज्य न सँभालो ॥ २४ ॥

भरत—हाय आपने मुझे अनुत्तर कर दिया। अच्छा, एक शर्तपर आपका राज्य

पालयामि ।

रामः—वत्स ! कः समयः ?

भरतः—मम हस्ते निक्षिप्तं तव राज्यं चतुर्दशवर्षान्ते प्रतिगृहीतुमिच्छामि।

रामः—एवमस्तु ।

भरतः—आर्य ! श्रुतम् । आर्ये ! श्रुतम् । तात ! श्रुतम् ।

सर्वे—वयमपि श्रोतारः ।

भरतः—आर्य ! अन्यमपि वरं हर्तुमिच्छामि ।

रामः—वत्स किमिच्छसि ! किमहं ददामि ? किमहमनुष्ठास्यामि ?

करणीयमन्यथा शापं प्रदास्यामीत्येवं रूपम् । समयतः किमपि निश्चित्य संविदमनुसृत्येत्यर्थः—'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः, न तु निरवधिकालस्य कृते राजा भविष्यामीति भावः ।

कः समयः, तवेष्ट इति शेषः, एतेन त्वयोच्यमानमेव समयमङ्गीकरोमीति कथनेन रामस्य प्रेमपारवश्यं सूचितम् ।

निक्षिप्तं न्यासीकृतम् । चतुर्दशवर्षान्ते चतुर्दशानां वर्षाणां वनवासयापनीयानाम् अन्तेऽवसाने । प्रतिग्रहीतुं स्वीकर्तुम् (त्वयेति योजनीयम्) अथवा प्रतिग्रहीतुं प्रतिग्राहयितुम् । अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र ग्रहिः ।

आर्य ! श्रुतमिति—रामकृतसमयाङ्गीकारस्यान्यथाभावमुद्भाव्य सीतालक्ष्मणसुमन्त्रान् साक्षिणः प्रत्यवस्थापयितुमित्थमुच्यते ।

किमहमिति—किं प्रदाय किमनुष्ठाय वा तोषयेयमिति प्रश्नेन त्वत्कृते मम किमप्यदेयमननुष्ठेयं वा नास्ति तदर्हसि यथारुचि प्रार्थयितुमिति प्रघट्टकार्थः ।

संभालूँगा ।

राम—कौन-सी शर्त्त ?

भरत—(शर्त्त यही कि) चौदह वर्षोंके बाद अपना राज्य वापस लें, और तब तक मैं धरोहरकी तरह आपके राज्यका रक्षक बनूँ ।

राम—एवमस्तु ।

भरत—आर्य, सुना आपने ? आर्ये, आपने सुना ? तात, सुना आपने ?

सभी—हम सभी श्रोता साक्षी रहेंगे ।

भरत—एक वरदान और चाहता हूँ ।

राम—वत्स, क्या चाहते हो ? क्या दूँ, क्या करने को कहते हो ?

भरतः—पादोपभुक्ते तव पादुके म एते प्रयच्छ प्रणताय मूर्ध्ना ।
यावद्भवानेष्यति कार्यसिद्धिं तावद्भविष्याम्यनयोर्विधेयः ॥२५॥

रामः—(स्वगतम्) हन्त भोः !

सुचिरेणापि कालेन यशः किञ्चिन्मयार्जितम् ।
अचिरेणैव कालेन भरतेनाद्य सञ्चितम् ॥ २६ ॥

सीता—आर्यपुत्र ! ननु दीयते खलु प्रथमयाचनं भरताय ।

अय्यउत्त ! णं दीयदि खु पुडमजाअणं भरदस्स ।

पादोपभुक्ते इति–मूर्ध्ना शिरसा प्रणताय प्रणमते मे मह्यम् एते पादोपभुक्ते चरणाभ्यां व्यवहृते पादुके काष्ठनिर्मिते पादत्राणे प्रयच्छ वितर । किमर्थं पादुकायाचनमिदमित्याह—यावदिति । यावत् यदवधि भवान् कार्यसिद्धिम् एष्यति स्वकार्यमवसाय्यागमिष्यति तावत् तावत्कालपर्यन्तमनयोः पादुकयोर्विधेय आज्ञाकारी भविष्यामि तदनन्तरं तुभ्यं राज्यं प्रत्यर्पयिष्यामीति भावः, तथा च रामायणे—'चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् । फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन । तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परन्तप: ॥'

इन्द्रवज्रावृत्तम्, तल्लक्षणं यथा—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' ॥ २५ ॥

सुचिरेणेति–सुचिरेण कालेन अपि मया किञ्चिदत्यल्पं यशः (पित्राज्ञापालनपरायणत्वरूपम्) कीर्तिः अर्जितम् । भरतेनाद्य मामित्थमात्मवशीकुर्वता अचिरेण कालेन अतिशीघ्रतया अर्जितम् । यादृशस्य पितृभक्तत्वरूपस्य यशसोऽर्जनाय मया चिरकालं परिश्रान्तम्, अद्य तादृगमेव ततोऽपि वोत्कृष्टं भ्रातृभक्तत्वात्मकं यशो भरतेन अचिरेणैव कालेन अर्जितमित्यहो भरतस्य महापुरुषत्वमिति भावः ॥२६॥

प्रथमयाचनं प्राथम्येन याच्यमानं पादुकारूपं वस्तु । अत्र भवदीयपादुकयोः आवर्जयितु निक्षेप्तुम् ।

भरत—आपके चरणोंमें लगी ये चरण-पादुकाएँ मुझ नत किङ्करको दीजिये, मैं तब तक उन्हीं पादुकाओंका वशवर्ती रहूँगा जब तक आप अपना कार्य सिद्ध करके जायेंगे ॥ २५ ॥

राम—(स्वगत) अहा !

मैंने बहुत दिनोंमें जितना यश सञ्चित किया था, भरतने उतना यश आनन फानन उपार्जित कर लिया ॥ २६ ॥

सीता—आर्यपुत्र, आप भरतको पहिली बार माँगी गई चीज देते हैं ?

रामः--तथास्तु । वत्स ! गृह्यताम् ।

भरतः--अनुगृहीतोऽस्मि । (गृहीत्वा) आर्य ! अत्राभिषेकोदकमावर्जयितुमिच्छामि ।

रामः--तात ! यदिष्टं भरतस्य तत् सर्वं क्रियताम् ।

सुमन्त्रः—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् ।

भरतः--(आत्मगतम्) हन्त भोः !

श्रद्धेयः स्वजनस्य पौररुचितो लोकस्य दृष्टिक्षमः
स्वर्गस्थस्य नराधिपस्य दयितः शीलान्वितोऽहं सुतः ।
भ्रातृणां गुणशालिनां बहुमतः कीर्त्तेर्महद् भाजनं
संवादेषु कथाश्रयो गुणवतां लब्धप्रियाणां प्रियः ॥ २७ ॥

हन्त अत्र प्रसादे हन्तशब्दः, स च रामानुग्रहसिद्धया कृतकृत्यतया भरतस्य बोध्यः, तदेव विवृणोति श्लोकेनाग्रिमेण ।

श्रद्धेय इति—अहं (सम्प्रति) स्वजनस्य निजबन्धुजनस्य श्रद्धेयः विश्वासभाजनम्, जात इति शेषः। एवमग्रेऽपि सर्वत्र जात इत्यूहनीयम् । पौररुचितः पौराणां नागराणां रुचित इष्टः । लोकस्य दृष्टौ दर्शने क्षमः, रामेणानुगृहीतस्य ममेदानीं बन्धुजनविश्वासपात्रता पौरप्रीतिभाजना लोकलोचनसाक्षात्कारयोग्यता चाभूदित्यर्थः । स्वर्गस्थस्य दिवंगतस्य नराधिपस्य राज्ञः शीलान्वितः सद्वृत्तः दयितः प्रियः सुतश्च पुत्रोऽहं सञ्जातः । रामाज्ञया तदादेशानुवर्त्तनात्तत् प्रियत्वादिकस्यापि रामानुग्रहलभ्यत्वमुक्तम् । गुणशालिनां भ्रातणां बहुमतः बहुमानविषयः । कीर्त्तेः महत् प्रकृष्टं भाजनं जातोऽस्मीति सर्वत्र योज्यम् । गुणवतां संवादेषु परस्परालापेषु कथाश्रयः

राम—तथास्तु, वत्स ! लो ।

भरत—बड़ी कृपा, (पादुकाएँ लेकर) आर्य, इसपर अभिषेक जल प्रक्षेप करना चाहता हूँ ।

राम—तात, भरत जो-जो चाहें, सब किया जाय ।

सुमन्त्र—आयुष्मान् की जो आज्ञा ।

भरत—अहा !

अब मैं सगे-सम्बन्धियोंका श्रद्धापात्र, नगरवासियोंका प्रेमभाजन, संसारकी ओर आँख उठाकर देखने योग्य, स्वर्गीय महाराजका सुचरित पुत्र, भाई लोगोंका प्यारा, कीर्त्तिका भाजन, गुणवानोंके परस्पर वार्त्तालापमें चर्चाका विषय तथा पूर्णमनोरथ जनोंका स्नेही हुआ हूँ ॥ २७ ॥

रामः—वत्स ! कैकेयीमातः ! राज्यं नाम मुहूर्तमपि नोपेक्षणीयम् ।
तस्मादद्यैव विजयाय प्रतिनिवर्ततां कुमारः ।

सीता—हम्, अद्यैव गमिष्यति कुमारो भरतः ।
हं, अज्ज एव्व गमिस्सदि कुमारो भरदो ।

रामः—अलमतिस्नेहेन । अद्यैव विजयाय प्रतिनिवर्ततां कुमारः ।

भरतः—आर्य ! अद्यैवाहं गमिष्यामि ।

आशावन्तः पुरे पौराः स्थास्यन्ति त्वद्दिदृक्षया ।
तेषां प्रीतिं करिष्यामि त्वत्प्रसादस्य दर्शनात् ॥ २८ ॥

प्रस्तावविषयः लब्धप्रियाणाम् अधिगतकामानां प्रियः पूर्णकामतया तत्साजात्यात्त-त्प्रीतिपात्रमित्यर्थः । एतत्सर्वं रामकृपाया एव फलमन्यथा तु जनाः कैकेयीकृताप-राधसम्बन्धेन मामतिजघन्य जानीयुरिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २७ ॥

विजयाय—राज्यकार्यनिर्वहणाय ।

आशावन्त इति—पौराः पुरवासिनः पुरे नगरे (शेषाः) त्वद्दिदृक्षया त्वद-वलोकनोत्कण्ठया आशावन्तः त्वद्दर्शनविषयकाशाशालिनः स्थास्यन्ति भविष्यन्ति । 'भरतो राममनुरुध्य प्रसाद्य चायोध्यामानेष्यती'ति विश्वासेन त्वद्दर्शनेन चक्षुःसाफल्य-सम्भावनापरायणाः पौराः स्थास्यन्तीत्यर्थः । तेषां त्वां दिदृक्षमाणानां पौराणां प्रीतिं प्रसन्नताम् त्वत्प्रसादस्य त्वया दीयमानस्य पादुकारूपस्य वरस्य दर्शनात् पादुके दर्शयित्वेत्यर्थः, करिष्यामि । त्वां दर्शयितुमशक्तो भरतस्त्वत्पादुकादर्शनेनापि बलव-दुत्कण्ठितपुरवासिजनपरितोषाय कियतांशेन कल्पिष्यत इत्यर्थः, एतेनात्र स्थित्या स्वापरितोषः, अयोध्यापरावृत्या च पुरजनपरितोष इति द्वयोरनयोः साध्ययोर्मध्ये चरम एव समादरः, प्रकृत्यनुरञ्जनस्य भवदादेशावयवत्वादित्याशयः ॥ २८ ॥

राम—वत्स कैकेयीनन्दन, राज्यकी ओरसे थोड़ी देरके लिए भी असावधा-नता नहीं करनी चाहिये । इसलिए तुमको आज ही जाना है ।

सीता—क्या भरतकुमार आज ही लौटेंगे ?

राम—अधिक स्नेह मत प्रदर्शित करो, कुमारको राज्यकी हिफाजतके लिए आज ही लौटना है ।

भरत—आर्य, मैं आज ही जाऊँगा ।

नगरनिवासी आशा लगाए आपके दर्शनों के लिए अधीर हो राह देखते होंगे, मैं जाकर आपकी चरणपादुका उन्हें दिखाऊँगा, जिससे प्रसन्नता मिलेगी ॥२८॥

सुमन्त्रः—आयुष्मन् ! मयेदानीं किं कर्तव्यम् ?

रामः—तात ! महाराजवत् परिपाल्यतां कुमारः ।

सुमन्त्रः—यदि जीवामि, तावत् प्रयतिष्ये ।

रामः—वत्स ! कैकेयीमातः ! आरुह्यतां ममाग्रतो रथः ।

भरतः—यदाज्ञापयत्यार्यः ।

(रथमारोहतः)

रामः—मैथिलि ? इतस्तावत् । वत्स ! लक्ष्मण ! इतस्तावत् । आश्रमपदद्वारमात्रमपि भरतस्यानुयात्रं भविष्यामः ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

चतुर्थोऽङ्कः ।

अनुयात्रं भविष्यामः । अनुगमिष्यामः । एतेनादरो व्यञ्जितः दूरं तु नानुगमिष्यामः 'यमिच्छेत् पुनरायातं न तं दूरमनुव्रजेदि'ति व्यवहारस्मरणादिति भावः ।

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रकृते 'प्रतिमानाटक'–प्रकाशे चतुर्थाङ्कः ॥ ४ ॥

सुमन्त्र—आयुष्मन्, अब मुझे क्या करना है ।

राम—तात, महाराजकी जगह आप भरतके साथ रहें ।

सुमन्त्र—यदि जीता रहा, तो कोशिश करूँगा ।

राम—वत्स कैकेयीनन्दन, मेरे सामने रथ पर चढ़ो ।

भरत—जो आज्ञा ।

(दोनों रथ में बैठते हैं)

राम—मैथिलि, लक्ष्मण, इधर आओ चलो, आश्रमके द्वारतक भरतका अनुगमन करें ।

(सभी जाते हैं)

चौथा अङ्क समाप्त

अथ पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति सीता तापसी च)

सीता—आर्ये ! उपहारसुमनआकीर्णः सम्मार्जित आश्रमः। आश्रम-
अय्ये ! उवहारसुमणाइण्णो सम्मज्जिदो अस्समो। अस्सम-
पदविभवेनानुष्ठितो देवसमुदाचारः। तद् यावदार्यपुत्रो नाग-
पदविभवेण अणुट्ठिओ देवसमुदाआरो। ता जाव अय्यउत्तो ण आअ-
च्छति, तावदिमान् बालवृक्षानुदकप्रदानेनानुक्रोशयिष्यामि।
च्छदि, दाव इमाणं बालरुक्खाणं उदअप्पदाणेण अणुक्कोसइस्सं।

तापसी—अविघ्नमस्य भवतु।
अविग्घं से होदु।

(ततः प्रविशति रामः)

रामः—(सशोकम्)

त्यक्त्वा तां गुरुणा मया च रहितां रम्यामयोध्यां पुरी-

उपहारसुमनआकीर्णः देवनिर्माल्यपुष्पाकीर्णः। सम्मार्जितः पुष्पाद्यपनयेन संशोध्य स्फीततां गमितः। आश्रमपदविभवेन आसमन्तात् श्राम्यन्ति तपसा कायं क्लेशयन्ति यत्र स आश्रमः, तदेव पदं स्थानम्, तत्र सुलभेन पुष्पफलाद्युपकरण-सम्पदेति भावः, देवसमुदाचारः देवार्चनादिराचारः। उदकप्रदानेन जलसेचनेन। अनुक्रोशयिष्यामि अनुग्रहीष्यामि।

प्रविघ्नं विघ्नाभाव. अव्ययीभावसमासः।

त्यक्त्वेति—गुरुणा तातपादेन मया च रहितां शून्यीकृतां रम्यां सर्वमनोहरामयोध्यां नाम निजां पुरीं नगरीं त्यक्त्वा अखिलं सम्पूर्णमपि मम वनवासिनो

(सीता और तापसी का प्रवेश)

सीता—आर्ये, निर्माल्यपुष्पसे आकीर्ण आश्रम झाड़-बुहार दिया है, आश्रम-सुलभ फल-फूल आदि उपकरणोंसे देवपूजन कर लिया है, इस समय इन छोटे-छोटे पौधोंको ही सींचती हूँ, जब तक आर्यपुत्र नहीं आते।

तापसी—तुम्हारा कार्य निर्विघ्न हो।

(रामका प्रवेश)

राम—(शोकके साथ)

पूज्य पिताजी और मुझसे रहित उस सुन्दर अयोध्या-नगरीको छोड़कर मेरे

मुद्यम्यापि ममाभिषेकमखिलं मत्सन्निधावागतः।
रक्षार्थं भरतः पुनर्गुणनिधिस्तत्रैव सम्प्रेषितः
कष्टं भो? नृपतेर्धुरं सुमहतीमेकः समुत्कर्षति ॥ १ ॥

(विमृश्य) इदृशमेवैतत् । यावदिदानीमीदृशशोकविनोदनार्थमवस्थाकुटुम्बिनीं मैथिलीं पश्यामि। तत् क नु खलु गता वैदेही? (परिक्रम्यावलोक्य) अये इमानि खलु प्रत्यग्राभिषिक्तानि वृक्षमूलानि अदूरगतां मैथिलीं सूचयन्ति । तथाहि—

रामस्य अभिषेकं राजसंस्कारविधिम् उद्यम्य मदभिषेकप्रयासं संपाद्य (मामभिषेक्तुम्) मत्सन्निधौ मम समीपे इव वने आगतः सम्प्राप्तः, (सः) गुणानां राज्यस्पृहावैधुर्यभ्रातृवात्सल्यनिष्कपटत्वादीनां निधिः आकरः भरतः तत्रैव शून्यायामयोध्यायामेव संप्रेषितः यथागतं प्रत्यावर्तितः सन् एकः सहायान्तररहितः सुमहतीं नानाविधकार्येष्ववधानदानस्यावश्यकताऽतिशयगुर्वीम्, नृपतेर्धुरं राज्यभारम्, समुत्कर्षति समुद्वहति इति कष्टं भोः! अतिशयखेदावहम् । अयमर्थः—तातपादेषु दिवङ्गतेषु अस्मासु च वनवासिषु संवृत्तेषु रिक्तामयोध्यां परित्यज्य मदभिषेकार्थमखिलमप्युपकरणमुपादाय वनमागतो भरतः पुनर्मया परावर्तितो मदादेशमनुसृत्य राज्यभारं केवलो बिभर्त्ति, न तस्य कामपि सहायतामहमाचरामीति । खिद्येऽहमिति । 'एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा । साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते ।।' इति शार्दूलविक्रीडितम् ।। १ ।।

ईदृशं कष्टमयम्, एतत् राज्यकार्यम्, तथा चोक्तम्—'नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय, राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम् ।।' इति । अवस्थाकुटुम्बिनीं सर्वावस्थासहायाम्, प्रत्यग्राभिषिक्तानि अचिरसिक्तानि अदूरगतां समीपावस्थितवृक्षान्तरसेचनसमासक्ताम् । सीतायाः समीपावस्थितत्वं तु दृश्यमानवृक्षाणामचिरसिक्तत्वबुद्धिबोधितम्, तदचिरसिक्तत्वं प्रमापयितुमग्रे पद्यमुपन्यस्यति ।

राज्याभिषेकके सारे उपकरण लेकर कुमार भरत मेरे पास आये। मैंने उन्हें साम्राज्यरक्षाके लिए फिर वहीं वापस भेज दिया। आजकल महाराजके गुरुतर भारको वह अकेले ही उठाये हुए हैं ॥ १ ॥

(कुछ सोचकर) यह राज्यकार्य ऐसा ही होता है। अच्छा अब इस प्रकारके अवसादको भुलानेके लिए अपनी सर्वावस्थासहचरी सीतासे मिलूँ। सीता कहाँ गई? (घूमकर और देखकर) यह तत्काल सींचे गये वृक्षगण बता रहे हैं कि अभी-अभी वैदेही कहीं गई है। क्योंकि—

भ्रमति सलिलं वृक्षावर्तं सफेनमवस्थितं
तृषितपतिता नैते क्लिष्टं पिबन्ति जलं खगाः ।
स्थलमभिपतत्यार्द्राः कीटा विले जलपूरिते
नववलयिनो वृक्षा मूले जलक्षयरेखया ॥ २ ॥

(विलोक्य) अये इयं वैदेही । भोः ! कष्टम् ।

योऽस्याः करः श्राम्यति दर्पणेऽपि स नैति खेदं कलशं वहन्त्याः ।

भ्रमतीति—सलिलं (सीतया वृक्षमूलेषु दुरादाहृत्य दीयमानम्) जलम् वृक्षावर्त्ते वृक्षाधोदेशनिर्मितालवाले सफेनं फेनिलदशामनतिक्रान्तम् अवस्थितम् भूम्यन्तरप्रविष्टम् भ्रमति । वृक्षालवालेषु दीयमानं जलं फेनिलं जायते कालेन धरया च शोष्यते, तदत्र फेनिलत्वं धरयाऽशोषितत्वं च जलस्य वृक्षाणामचिरसिक्तभावं बोधयति । तृषिताः पिपासवः अत एव पतिताः जलमालोक्य पादपतलमवतीर्णा एते खगाः पक्षिणः क्लिष्टं नवनिक्षेपकृतकालुष्योपहतं न पिबन्ति । तन्निर्मलतां कालसाध्यां प्रतीक्षन्ते इत्यर्थः । बिले गर्त्ते जलपूरिते आर्द्राः जलक्लिन्नाः कीटाः स्थलम् अभिपतन्ति जलप्लावनमसहमानाः धरांशमन्यमुपसर्पन्तीति भावः । अत्रापि अभिपतन्तीति लटा कीटानां निर्गमस्य जायमानत्वेन जलक्षेपस्याचिरनिर्वृत्तत्वं व्यञ्जितम् । वृक्षाः मूले मूलावच्छेदेन जलक्षयरेखया जलह्रासजनितया जलमिलितपङ्कप्रसूतया रेखया नववलयिनः वलयायितनूतनरेखाशालिनः, सन्तीति शेषः । अत्रापि वलयस्य नवीनत्वमचिरसंजातत्वं तच्चानुपदमेवोत्पन्नस्य जलह्रासस्य सूचकम्, तेन च सेकस्यातिशीघ्रकृतत्वं प्रतीयते । प्रकृतिवर्णनात् स्वभावोक्तिः हरिणीवृत्तम्; तल्लक्षणं यथा—'हरिणी न्सौम्रौस्लौगृतुसमुद्रऋषयः' ॥ २ ॥

योऽस्या इति—यः अस्याः सीतायाः करो बाहुः दर्पणे मुखप्रधानतावसरधारणीयदर्पणे अपि श्राम्यति आयासमनुभवति, सः कलशं (जलपूर्णम् अतएव गुरुतरं) घटं (अधुना वने) वहन्त्याः सीतायाः करः खेदं व्यथाम्, आयासविशे-

---

वृक्षोंमें आलवाल फेनिल जलसे पूर्ण हैं और प्याससे समीपगत होकर भी यह चहकता हुआ खगकुल जल नहीं पी रहा है क्योंकि पानी अभी साफ नहीं हो पाया है, दरारोंमें रहनेवाले कीड़े दरारोंके जलपूर्ण हो जानेके कारण बाहर भागे जा रहे हैं, और पेड़ोंकी जड़में चारों ओर नई बलयाकार रेखा बनी हुई है ॥२॥

(देखकर), अरे, यही तो सीता है, अहा !

इसके जो हाथ दर्पण उठाने के श्रमसे भी थक जाता था, वही हाथ अब घड़ोंके

कष्टं वनं स्त्रीजनसौकुमार्यं समं लताभिः कठिनीकरोति ॥ ३ ॥

(उपेत्य) मैथिलि ! अपि तपो वर्धते ?

सीता—हम् आर्यपुत्रः । जयत्वार्यपुत्रः ।

हं अय्यउत्तो ! जेदु अय्यउत्तो ।

रामः—मैथिलि ! यदि ते नास्ति धर्मविघ्नः, आस्यताम् ।

सीता—यदार्यपुत्र आज्ञापयति । (उपविशति)

जं अय्यउत्तो आणवेदि ।

रामः—मैथिलि ! प्रतिवचनार्थिनीमिव त्वां पश्यामि किमिदम् ?

षम् न एति नानुभवति ? कष्टं खेदावहोऽयं विषयः (यत्) लताभिः समं स्त्रीजनसौकुमार्यं लतामार्दवोपमेयं ललनाजनमार्दवं वनम् (कर्तृ) कठिनीकरोति सर्वविधायाससहनशीलं विदधातीत्यर्थः । एष वनवासस्यैव महिमा यदियं मृणालकोमलकाययष्टिः स्वेन करेण दर्पणमपि धारयितुमपारयन्ती पूर्वमिदानीं स्वयं जलपूर्णं कलशमादाय वृक्षान् सिञ्चति इति उपजातिर्वृत्तम्, तल्लक्षणमाहुर्यथा—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ । अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इति ॥ ३ ॥

तपः वृक्षमूले जलप्रदानलक्षणं शरीरपरिश्रमसाध्यं पुण्यकर्म । अपि वर्द्धते ? अपि निर्विघ्नं सम्पद्यते अपिशब्दोऽयं प्रश्नार्थोऽपि, तथा च कालिदासः—'जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते ? अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्त्तते ? अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः ? इत्यादि ।

धर्मविघ्नः क्षनुष्ठानावसरातिपातः । वृक्षसेचनमवसितं चेदित्यर्थः ।

प्रतिवचनार्थिनीं किमपि पिपृच्छिषन्तीम् । पश्यामि ओष्ठस्फुरणादिमुखचेष्टाभिर्लक्षयामि ।

उठानेमें भी नहीं थक रहा है। वननिवास लताओंके साथ स्त्रियोंकी भी सुकुमारताको कठोरतामें परिणत कर देता है ॥ ३ ॥

(समीप आकर) मैथिली, तपस्या तो चल रही है ?

सीता—जय हो आर्यपुत्र की ।

राम—यदि तुमको किसी प्रकार का धर्मविघ्न न हो तो बैठो ।

सीता—जो आज्ञा । (बैठती है)

राम—सीते, मालूम होता है तुम कुछ पूछना चाहती हो । क्या बात है ?

सीता---शोकशून्यहृदयस्येवार्यपुत्रस्य मुखरागः किमेतत् ?
सोअसुण्णहिअअस्स विअ अय्यउत्तस्स मुहराओ । किं एदं ?

रामः—मैथिलि ! स्थाने खलु कृता चिन्ता ।

कृतान्तशल्याभिहते शरीरे तथैव तावद्धृदयव्रणो मे ।
नानाफलाः शोकशराभिघातास्तत्रैव तत्रैव पुनः पतन्ति ।।४।।

सीता—आर्यपुत्रस्य क इव सन्तापः ?
अय्यउत्तस्स को विअ सन्दावो ?

राम—श्वस्तत्रभवतस्तातस्यानुसंवत्सरश्राद्धविधिः । कल्पविशेषेण निर्वपनक्रियामिच्छन्ति पितरः । तत् कथं निर्वर्तयिष्यामीत्येतच्चिन्त्यते । अथवा—

शोकशून्यहृदयस्य शोकेन निमित्तभूतेन शून्यं निर्विषयं तदेकायत्तं हृदयं यस्य तस्य । मुखरागः मुखवर्णः औदास्यविवर्णतेत्यर्थः ।

स्थाने उचितेऽवश्यसमाधेये विषये चिन्ता कथमिदं निर्वहेयमिति भावना । एतेन चिन्ताविषयस्यावश्यसमाधेयत्वप्रतिपादनेन चिन्तामहत्त्वमुपचीयते ।

कृतान्तेति—कृतान्तशल्याभिमते शल्यवद्व्यथकेन कालेन अभिहते आहते मे शरीरे (पितृवियोगखेदविलष्टे) हृदयव्रणः पितृवियोगशोकलक्षणो मानसिकः खेदस्तथैव तावत् यथापूर्वावस्थ एव न विरूढो न वा विरोहदवस्थः, किन्तु नव एवेत्यर्थः । तत्रैव हृदयव्रणे नानाफलाः अनेकप्रयोजनाः (बहुप्रकारकप्रयोजनाभिसन्धिनिमित्ताः) शोकशराभिघाताः पुनः पतन्ति । तत्रैवेति द्विरुक्तिर्मर्मप्रहारस्य नितान्तव्यथकत्वप्रतीतये । अयमर्थः=पितृविरहदुःखशल्यमनुत्खातमेव यावत्तावन्नानाविधप्रयोजनोपनिपातचिन्ता मम मानसं व्यथयितुमुपतिष्ठन्त इति । उपजातिश्छन्दः ।।४।।

श्वः आगामिनि दिने । अनुसंवत्सरश्राद्धविधिः वार्षिकं श्राद्धम् । कल्पविशेषेण सामर्थ्यानुसारेण । निर्वपनक्रियां पिण्डदानविधिम्, इच्छन्ति कामयन्ते । तथा च

सीता—आपके चेहरेपर शोकका चिह्न देखता हूँ । क्या बात है ।

राम—चिन्ता करनेकी बात तो है ही ।

दुर्दैव के बाणप्रहारोंसे व्यथित मेरे हृदयका घाव तो अभी भरा नहीं है, और फिर नानामुख शोकशल्योंसे दैवने उसी पर प्रहार करना आरम्भ कर दिया है ॥४॥

सीता—आर्यपुत्रको किस बातकी चिन्ता है ?

राम—कल पिताजीका वार्षिक श्राद्धदिवस है, पितरोंको सामर्थ्यानुसार श्राद्ध

गच्छन्ति तुष्टिं खलु येन केन त एव जानन्ति हि तां दशां मे।
इच्छामि पूजां च तथापि कर्तुं तातस्य रामस्य च सानुरूपाम् ॥५॥

सीता--आर्यपुत्र! निर्वर्तयिष्यति श्राद्धं भरत ऋद्ध्या, अवस्थानुरूपं
अय्यउत्त! णिव्वत्तइस्सदि सद्धं भरदो रिद्धीए, अवत्थाणुरूवं
फलोदकेनाप्यार्यपुत्रः। एतत् तातस्य बहुमततरं भविष्यति।
फलोदएण वि अय्यउत्तो। एदं तादस्स बहुमदअरं भविस्सदि।

रामः--मैथिलि!

फलानि दृष्ट्वा दर्भेषु स्वहस्तरचितानि नः।

स्मरन्ति--'जीवतो वाक्यकरणात् क्षयाहे भूरिभोजनात्। गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता ॥' इति।

गच्छन्तीति। येन केन येन केनापि प्रकारेण (पुत्रदशानुसारिणा विधिना) पितरस्तुष्टिं तृप्तिं यान्ति लभन्ते खलु। हि यतः त एव पितर एव मे मम तां वर्त्तमान-वनवासकालिकीं दशां जानन्ति। एवञ्च स्वसामर्थ्यमनुसृत्य वार्षिकं सम्पादयतो मम व्यवहारेण पितरो मयि न खिद्येरन्निति भावः। नन्वेवं विज्ञायापि चिन्त्यत इत्यनुचितमित्यत आह--इच्छामीति। तथापि स्वसामर्थ्यानुश्राद्धविधेः पितृतृप्तिसाधन-ताप्रत्यये सत्यपि तातस्य पितुः रामस्य स्वस्य च सानुरूपां योग्याम्, पूजां श्राद्ध-क्रियां कर्तुं विधातुमिच्छामि। दिगन्तविख्यातप्रभावस्य पितुः प्रथितस्य स्वस्य चानु-रूपं श्राद्धं विधातुमेव मम चिन्ता न पितृपरितोषविषयेति भावः। अत्र सानुरूपाम् इत्यस्य स्थाने 'अनुरूपाम्' इतीयतैव निर्वाहे 'स' इति व्यर्थम्। वंशस्थं वृत्तम् ॥५॥

ऋद्ध्या समृद्धिसम्पाद्यैः महार्घ्यैः पदार्थैः, फलोदकेन फलेन जलेन चेत्यर्थः, फलं च उदकं चेति द्वन्द्वः, 'जातिरप्राणिनाम्' इत्येकवद्भावः।

फलानीति--दर्भेषु कुशेषु न तु सौवर्णादिपात्रेषु नः अस्माकम् स्वहस्तरचि-

---

चाहिए। उसे मैं किस भाँति पूरा करूँगा? यही चिन्ता है, अथवा--

वे जिस भाँति तृप्त होते हों, होवें, उन्हें हमारी स्थितिका ज्ञान तो है ही। तथापि मैं पिताजीकी प्रतिष्ठा तथा अपने सामर्थ्यके अनुरूप पितृश्राद्ध करना चाहता हूँ॥ ५॥

सीता--आर्यपुत्र, बड़े वैभवके साथ पिताजीका श्राद्ध तो भरत करेंगे ही, आप भी अपनी अवस्थाके योग्य फल-जलसे श्राद्ध करें, पिताजी इसे ही पर्याप्त मानलेंगे।

राम--मैथिलि,

कुशोंपर हमारे अपने हाथोंसे विन्यस्त फलोंको देखते ही हमारे वनवासकी

स्मारितो वनवासं च तातस्तत्रापि रोदिति ॥ ६ ॥

(ततः प्रविशति परिव्राजकवेषो रावणः)

रावणः—एषः भो !

नियतमनियतात्मा रूपमेतद् गृहीत्वा खरवधकृतवैरं राघवं वञ्चयित्वा ।
स्वरपदपरिहीणां हव्यधारामिवाहं जनकनृपसुतां तां हर्तुकामः प्रयामि ॥

तानि निजकरन्यस्तानि न तु भृत्यादिनिहितानि फलानि न तु महार्घवस्तूनि दृष्ट्वा ततो दशरथः वनवासम् अस्माकमत्र वने निवासं स्मारितस्तत्र स्वर्गेऽपि रोदिति विलपिष्यति । अस्माकमशक्तिकृतमुपहारदारिद्र्यमालोक्य वनवासितां स्मृत्वा स्वर्गेऽपि तातो रोदिष्यतीति किमनुष्ठीयतामिति रामस्य चिन्ताया विषयः ॥ ६ ॥

प्रविशति रङ्गमञ्चमवतरति । सीतापहरणं घटयिष्यन् श्राद्धप्रसङ्गेन ब्राह्मण-परिव्राजकवेषस्य रावणस्य प्रवेशमाहानेन प्रसङ्गेन ।

नियतमिति । अनियतात्मा अजितेन्द्रियः अहम् एतद्रूपं वञ्चकपरिव्राजक-वेषं गृहीत्वाहं नियतं जितेन्द्रियं खरवधकृतवैरं खरो नाम मत्प्रियो राक्षसस्तस्य वधेन कृतवैरं कृतापराधम्, राघवं वञ्चयित्वा काञ्चनमृगमाययाऽऽश्रमपदादन्यत्र गमयित्वा तां राघवविरहितां जनकनृपसुतां सीताम्, स्वरपदपरिहीणां स्वरपदविभागवर्जिताम्, स्वरेण पदेन च दुष्टैर्मन्त्रैर्देवेभ्यो दीयमानां हव्यधारां हविराज्यधारामिव हर्तुकामः प्रयामि । अयमाशयः—यथा मन्त्रदोषेण दीयमानाया हव्यधाराया राक्षसा ग्रहीतारो भवन्ति, तथैव खरदूषणादिवधं विधाय कृतवैरं रामं वञ्चयित्वा सीतामहमपहरामीति। एतयोपमया स्वस्य सीताप्राप्त्यनधिकारं सूचयति । अत्र हर्तुं कामो यस्येति विग्रहे 'तुं काममनसोरपी' ति मलापः । 'परिहीणाम्' इति प्रयोगे णत्वं चिन्त्यम्, परेरनुप-सर्गतया णत्वाप्राप्तेः । अनुपसर्गत्वं च 'अभिपरी अनर्थकौ' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञयो-पसर्गसंज्ञाबाधेन बोध्यम् । मालिनीच्छन्दः, लक्षणं पूर्वमुक्तम् ॥ ७ ॥

याद आ जानेसे पिताजी वहाँ भी रो देंगे ॥ ६ ॥

(संन्यासी के वेशमें रावण का प्रवेश)

रावण—अरे यह—

रामने खरका वध करके मेरे साथ वैर बढ़ाया है। मैं आज उसे ठगनेके लिए अविरक्त होकर भी विरक्तका रूप धारण करता हूँ। मैं सीताका हरण करने उस प्रकार जा रहा हूँ, जिस प्रकार स्वर तथा पदसे अशुद्ध मन्त्रोच्चारण होमकी आज्यधारा को हर लेता है ॥ ७ ॥

(परिक्रम्याधो विलोक्य) **इदं रामस्याश्रमपदद्वारम् । यावदवतरामि ।** (अवतरति) **यावदहमप्यतिथिसमुदाचारमनुष्ठास्यामि । अहमतिथिः । कोऽत्र भोः ?**

रामः—(श्रुत्वा) **स्वागतमतिथये ।**

रावणः—**साधु विशेषितं खलु रूपं स्वरेण ।**

रामः—(विलोक्य) **अये भगवन् । भगवान् ! अभिवादये ।**

रावणः—**स्वस्ति ।**

रामः—**भगवन् ! एतदासनमास्यताम् ।**

रावणः—(आत्मगतम्) **कथमाज्ञप्त इवास्म्यनेन ।** (प्रकाशम्) **बाढम्** (उपविशति)

रामः—**मैथिलि ! पाद्यमानय भगवते ।**

साधु स्वभावसुन्दरम्, रूपम् आकृतिः, स्वरेण श्रवणावर्जकेन शब्देन विशेषितं रमणीयतरं कृतमित्यर्थः ।

भगवान् संन्यासिविशेषः ।

आस्यताम् इदमासनम् अलङ्क्रियताम् इति वक्तव्ये आस्यतामिति कथनं कियन्तमाज्ञाभावं व्यञ्जयति, तद्वक्ष्यति आज्ञप्त इवेति ।

पाद्यं पादार्थमुदकम् ।

(घूमकर तथा नीचेकी ओर देखकर) यह है रामाश्रमद्वार । अच्छा, नीचे तो उतर लूँ । (उतरता है) अब मैं अतिथिका रूप धारण करता हूँ । मैं अतिथि आया हूँ, कौन है यहाँ ?

राम—(सुनकर) स्वागत अतिथिका ।

रावण—इसके स्वरने रूपको और चमका दिया है ।

राम—(देखकर) भगवान् हैं ? भगवन् , प्रणाम ।

रावण—कल्याण हो ।

राम—भगवन्, यह है आसन, आप विराजिए ।

रावण—(आत्मगत) यह हुकूमत क्यों कर रहा है ? (प्रकट) बहुत अच्छा । (बैठता है) ।

राम—सीता, महात्माके लिए पाद्य जल लाओ ।

सीता--यदार्यपुत्र आज्ञापयति । (निष्क्रम्य, प्रविश्य) इमा आपः ।

जं अय्यउत्तो आणवेदि । इमा आवो ।

रामः--शुश्रूषय भगवन्तम् ।

सीता—यदार्यपुत्र आज्ञापयति ।

जं अय्यउत्तो आणवेदि ।

रावणः—(मायाप्रकाशनपर्याकुलो भूत्वा) भवतु भवतु ।

इयमेका पृथिव्यां हि मानुषीणामरुन्धती ।
यस्या भर्तेति नारीभिः सत्कृतः कथ्यते भवान् ॥ ८ ॥

रामः--तेन हि आनय, अहमेव शुश्रूषयिष्ये ।

शुश्रूषय पादप्रक्षालनेनोपचरेत्यर्थः ।

मायाप्रकाशनेति--मायायाः स्वकृतस्य कपटपरिव्राजकवेषस्य प्रकाशनेन प्रकटतया (संभावितया) पर्याकुलः व्याकुलः । सीतया हि स्वपादे स्पृश्यमाने अजितेन्द्रियस्य रावणस्य रोमाञ्चोद्गमादिना माया प्रकटीभवेदिति शङ्काकुलीभावः । भवतु शुश्रूषणं परित्यजतु इति ।

इयमेकेति--इयं हि निश्चयेन पृथिव्यां धरित्रीपृष्ठे मानुषीणां मानवीनाम् एका सजातीयद्वितीयरहिता अरुन्धती पतिव्रताशिरोमणिः । अरुन्धती नाम वसिष्ठ-धर्मपत्नी स्वपातिव्रत्यप्रभावेण सप्तर्षिमध्ये वसति, इह तत्प्रयोगः पतिव्रतासामान्य-परः । यस्याः सीताया भर्त्ता स्वामीति हेतोः भवान् नारीभिः सत्कृतः पूजितः सन् कथ्यते वर्ण्यते । पतिव्रतायाः सीताया लोकनमस्यत्वम् । तत्पातिव्रत्यप्रभावेण तत्पति-र्भवानपि यतो लोके पूज्यतेऽतः पतिव्रताप्रधानभूतया सीतया क्रियमाणं पादस्पर्शं नानुमन्य इति भावः ॥ ८ ॥

सीता—जो आज्ञा (बाहरसे जल लाकर) यह है जल ।

राम—महात्माकी शुश्रूषा करो ।

सीता—जो आज्ञा ।

रावण—(भेद खुलनेके भयसे हक्का-बक्का होकर) रहने दो रहने दो ।
यह सीता पृथ्वीपरकी अरुन्धती मानवी है, जिसके स्वामी होने के कारण स्त्रियाँ आपका यश गाती हैं ॥ ८ ॥

राम—लाओ, मैं खुद शुश्रूषा करूँगा ।

रावणः—अयि, छायां परिहृत्य शरीरं न लङ्घयामि। वाचानुवृत्तिः खल्वतिथिसत्कारः। पूजितोऽस्मि। आस्यताम्।

रामः—बाढम्। (उपविशति)

रावणः—(आत्मगतम्) यावदहमपि ब्राह्मणसमुदाचारमनुष्ठास्यामि। (प्रकाशम्) भोः! काश्यपगोत्रोऽस्मि। साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च।

रामः—कथं कथं श्राद्धकल्पमिति।

अयीति—योऽहं भवदीयशरीरस्य सततानुगमनात् छायातुल्यां सीतामपि शुश्रूषार्थस्पर्शदूषणलक्षणाल्लङ्घनात् परिहरामि, स कथं साक्षाद्भवच्छरीरमेव लङ्घयेयमित्यर्थः। वाचा सूनृतया गिरा, अनुवृत्तिः अनुकूलभाषणम्। तदुक्तमातिथ्यप्रस्तावे 'तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता' इति।

शाङ्गोपाङ्गम् अङ्गैः षड्भिः शिक्षाव्याकरणच्छन्दोनिरुक्तज्योतिषकल्पाभिधेयैः। उपाङ्गैः पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्ररूपैश्चतुर्भिश्च सहितम्। मानवीयं मनुना प्रवर्त्तितम्। धर्मशास्त्रं धर्मानुशासनम्। बार्हस्पत्यं बृहस्पतिना प्रोक्तं राजनीतिप्रतिपादनप्रधानं शास्त्रविशेषम्। माहेश्वरं महेश्वराच्छिवादागतं माहेश्वरं योगशास्त्रं पातञ्जलयोगशास्त्रस्य मूलभूतम्। मेधातिथेर्गौतमस्य। प्रचेतसा वरुणेन प्रोक्तं प्राचेतसं, श्राद्धकल्पं श्राद्धप्रक्रियाम्। अधीये इति क्रियायाः सर्वत्र समः सम्बन्धः।

कथं कथमित्यादरातिशयद्योतिका द्विरुक्तिः।

रावण—छायाके समान सीताकी सेवासे निषेध करने वाला मैं शरीरकी सेवा कैसे ग्रहण करूँगा। मीठे वचनोंसे स्वागत ही सच्चा अतिथिसत्कार होता है। मेरी शुश्रूषा हो चुकी। आप विराजिए।

राम—अच्छा, जो आज्ञा। (बैठता है।)

रावण—(स्वगत) तब तक मैं ब्राह्मणका आचार करूँ। (प्रकट) अजी मेरा गोत्र काश्यप है। मैंने साङ्गोपाङ्ग वेद, मानवीय धर्मशास्त्र, माहेश्वर योगशास्त्र, बृहस्पतिका अर्थशास्त्र, मेधातिथिका न्यायशास्त्र और प्रचेताका श्राद्धकल्प इनका अध्ययन किया है।

राम—क्या कहा? श्राद्धकल्प।

रावणः—सर्वाः श्रुतीरतिक्रम्य श्राद्धकल्पे स्पृहा दर्शिता। किमेतत् ?
रामः—भगवन् ! भ्रष्टायां पितृमत्तायामागम इदानीमेषः।
रावणः—अलं हरिहृत्य, पृच्छतु भवान्।
रामः—भगवन् ! निर्वपनक्रियाकाले केन पितॄंस्तर्पयामि।
रावणः—सर्वं श्रद्धया दत्तं श्राद्धम्।
रामः—भगवन् ! अनादरतः परित्यक्तं भवति। विशेषार्थं पृच्छामि।
रावणः—श्रूयताम्। विरूढेषु दर्भाः, ओषधीषु तिलाः, कलायं

श्रुतीः वेदान् तदङ्गभूतानि शास्त्राण्यपि श्रुतिपदेनात्र सङ्गृह्णाति ग्रन्थकृत्।

भ्रष्टायां समाप्तायाम्, पितृमत्तायां जीवत्पितृकतायाम्, एष एव श्राद्धकल्प एव, आगमः शास्त्रम्, प्रमीतपितृकस्य मम श्राद्धकल्प एवोपयोगावहः, प्रयोजनेनापेक्षणात्। अपेक्षोपेक्षे हि प्रयोजनतदभावाभ्यां सृज्येते पदार्थानाम् इति रामाशयः।

श्राद्धमिति—पितॄनुद्दिश्य श्रद्धया दीयमानं श्राद्धम्। येन केनापि श्रद्धया दत्तेन पदार्थेन पितरस्तृप्यन्ति, न तु बहुमूल्यानेव पदार्थानपेक्षन्त इति भावः। श्राद्धप्रसङ्गे मनुराह—'यद्यद्ददाति विधिवत् श्रद्धाभक्तिसमन्वितः। तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम्॥' इति। अनादरतः अश्रद्धया, दत्तं परित्यक्तं भवति, परित्यागमात्रं तत्, न तु श्राद्धमश्रद्धोपहतत्वादिति भावः। विशेषार्थं श्रद्धापूर्वकं दीयमानेषु पदार्थेष्वप्यस्ति कश्चिद्विशेष इति भावः।

विरूढेषु तृणजातिषु, दर्भाः कुशाः, ओषधीषु 'ओषध्यः फलपाकान्ताः' इति परिभाषितासु, कलायं कालशाकः, वार्ध्रीणसः पक्षिभेदः 'नीलग्रीवो रक्तशीर्षः कृष्णपादः

रावण—आपने और सभी शास्त्रोंको छोड़कर श्राद्धकल्पमें अत्यादर प्रकट किया क्या बात है ?

राम—पितृहीन होनेके कारण इस समय हमारे लिए इसीका ज्ञान अपेक्षित है।

रावण—आपको यह विषय छोड़ना न चाहिये। पूछिये।

राम—महाराज, पिण्डदानके समय किस चीजसे पितरोंको तृप्त करूँ।

रावण—जो कुछ श्रद्धासे दिया जाय, वह सब श्राद्ध कहलाता है।

राम—अश्रद्धासे दिया गया तो त्याग कर दिया जाता है। मैं तो विशेष जानने के लिए पूछ रहा हूँ।

रावण—सुनिये। घासोंमें कुश, ओषधियोंमें तिल, शाकोंमें कलाय, मछलियोंमें

शाकेषु, मत्स्येषु महाशफरः, पक्षिषु वार्ध्रीणसः, पशुषु गौः खड्गो वा इत्येते मानुषाणां विहिताः ।

रामः—भगवन्! वाशब्देनावगतमन्यदप्यस्तीति ।

रावणः—अस्ति प्रभावसम्पाद्यम् ।

रामः—भगवन्! एष एव मे निश्चयः ।

उभयस्यास्ति सान्निध्यं यद्येतत् साधयिष्यति ।
धनुर्वा तपसि श्रान्ते श्रान्ते धनुषि वा तपः ॥ ९ ॥

रावणः—सन्ति । हिमवति प्रतिवसन्ति ।

सितच्छदः । वार्ध्रीणसः स्यात् पक्षीशः' इति लक्षितः । मार्कण्डेयोऽपि 'रक्तपादो रक्तशिरा रक्तचक्षुर्विहङ्गमः । कृष्णवर्णेन न तथा पक्षा वार्ध्रीणसो मतः ॥' इति । 'कालशाकं महाशल्का' खड्गलोहामिषं मधु । आनन्त्यायैव कल्पन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥' इति मनुः । खड्गः गण्डकः पशुभेदः ।

वाशब्देन अनुक्तसमुच्चयार्थकतयात्र प्रयुक्तेन वापदेन । एतेनोक्तावशिष्टमपि पितृतृप्तये क्षममस्तीति प्रतीयत इति भावः ।

एष एव प्रभावसम्पादितेन द्रव्येण पितॄंस्तर्पयामीत्येवंरूप एव ।

उभयस्येति—मयि मल्लक्षणे जने उभयस्य साधनभूतस्य तपसो धनुषश्चेति साधकद्वयस्य सान्निध्यं समीपवर्तित्वमस्ति । अहं धनुषा तपसा वा यत्किमपि प्रभावसम्पाद्यमाहर्तुमीशः तपोबलक्षात्रबलातिरिक्ततृतीयबलस्याप्रसिद्धेरुभयोश्च तयोर्मयि सान्निध्यमिति प्रभावसाध्यं नाम ममासाध्यं न भवतीति भावः । तदेवाह—तपसि श्रान्ते प्रयोगातिशयेन खिन्ने धनुषि च तथाभूते तपोवने वा व्यापारणीयमिति मदसाध्यं न प्रत्येमीति भावः ॥ ९ ॥

सन्तीति-प्रभावसम्पाद्यानि द्रव्याणि नालीकानीति भावः। स्थानमाह-हिमवतीति।

महाशफर, पक्षियोंमें वार्ध्रीणस और पशुओंमें गाय या गैंडा, मनुष्योंके लिए ये ही विहित हैं ।

राम—महाराज, क्या कुछ और है ?

रावण—हाँ, है, किन्तु उसे कोई प्रतापी ही प्राप्त कर सकता है ।

राम—यही मेरा भी निश्चय है ।

जो इस कार्यको सिद्ध करेंगे वे दोनों (तप, बल) साधन मेरे पास मौजूद हैं। यदि तपस्या असफल हुई तो बल और बलके असफल होने पर तप ॥ ९ ॥

रावण—हैं तो, परन्तु हिमालय पर रहते हैं ।

राम:—हिमवतीति । ततस्ततः ।

रावण:—हिमवतः सप्तमे शृङ्गे प्रत्यक्षस्थाणुशिरःपतितगङ्गाम्बुपायिनो वैदूर्यश्यामपृष्ठाः पवनसमजवाः काञ्चनपार्श्वा नाम मृगाः यैर्वैखानसवालखिल्यनैमिषीयादयो महर्षयश्चिन्तितमात्रोपस्थितविपन्नैः श्राद्धान्यभिवर्धयन्ति ।

तैस्तर्पिताः सुतफलं पितरो लभन्ते
हित्वा जरां खमुपयान्ति हि दीप्यमानाः ।

शृङ्गे ऊर्ध्वोन्मुखं शिखरं शृङ्गं व्यपदिशन्ति तत्र । प्रत्यक्षस्थाणुशिरःपतितगङ्गाम्बुपायिनः प्रत्यक्षस्य स्वयं लोचनगोचरतामुपगतस्य स्थाणोः शिवस्य शिरसः पतितं स्खलितं यद् गङ्गाम्बु तत् पातुं शीलमेषामिति तथा । हिमवतः सानुषु सततं शिवसान्निध्यात्तत्रस्था मृगाः शिवशिरसः पतन्त्या गङ्गाया अधरास्पृष्टमेव जलं पिबन्तीति । वैदूर्यश्यामपृष्ठाः बालवायदेशोद्भवरत्नभेदो वैदूर्यम्, तद् इव श्यामं पृष्ठं येषां ते तथा । काञ्चनपार्श्वाः स्वर्णवर्णपार्श्वतया तदाख्यया प्रसिद्धाः । यैः काञ्चनपार्श्वमृगैः, वैखानसाः वानप्रस्थाः । वालखिल्यास्तदाख्याः। एते हि प्रमाणतोऽतिह्रस्वा अङ्गुष्ठोदरप्रमाणा ऋषयः श्रूयन्ते । नैमिषीयाः नैमिषारण्यवासिनः तदादयः तत्प्रभृतयः । चिन्तितमात्रोपस्थितविपन्नै चिन्तितमात्रैरेव स्वसमीपे सन्निधाय विपन्नैः मृतैः । श्राद्धानि पितृकार्याणि अभिवर्धयन्ति समेधयन्ति । तदेवाहाग्रिमपद्येन—

तैस्तर्पिता इति-तैः काञ्चनपार्श्वमृगैस्तर्पिताः पितरःसुतफलं पुत्रजन्यप्रयोजनं लभन्ते । किन्तल्लभ्यमित्याह—हि यतः जरां वयोहानिं हित्वा विमुच्य दीप्यमानास्तेजसा भ्राजमानाः खं स्वर्गमुपयान्ति । वार्धक्यमयरहिताः स्वर्गे वसन्तीति

राम—हिमालयपर, और ?

रावण—हिमालयकी सातवीं चोटीपर महादेवके मस्तकसे गिरनेवाली गङ्गाका जल पीनेवाले वैदूर्यके सदृश श्यामपृष्ठ, वायुके समान शीघ्रगामी काञ्चनपार्श्वनामके मृग रहा करते हैं । वैखानस, वालखिल्य¹, नैमिषादि महर्षि ध्यानमात्रसे उन्हें बुलाते तथा उनके मांससे पितरोंको श्राद्ध अर्पित करते हैं ।

उन काञ्चनमृगों से तर्पित पितर पुत्र होनेका लाभ पा लेते हैं, और वार्धक्य

वानप्रस्थश्चतुर्भेदो वैखानास उदुम्बरः ।
वालखिल्यो वनेवासी तल्लक्षणमथोच्यते ।। इति बृहत्पाराशरसंहिता ।

तुल्यं सुरैः समुपयान्ति विमानवास-
मावर्तिभिश्च विषयैर्न बलाद् ध्रियन्ते ॥ १० ॥

रामः—मैथिलि !

आपृच्छ पुत्रकृतकान् हरिणान् द्रुमांश्च,
विन्ध्यं वनं तव सखीर्दयिता लताश्च ।
वत्स्यामि तेषु हिमवद्गिरिकाननेषु
दीप्तैरिवौषधिवनैरुपरञ्जितेषु ॥ ११ ॥

भाव: । तथा च प्रसिद्धि:–'वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति' । किञ्च सुरैस्तुल्यं सदृशं विमानवासं व्योमयानवासं समुपयान्ति लभन्ते । आवर्त्तिभि: जननमरणपूर्णभवभ्रमिप्रदैर्विषयै: इन्द्रियार्थैश्च बलात् आकृष्य न ध्रियन्ते बध्यन्ते । सांसारिकविषयलोभान्मुच्यन्त इत्यर्थ: ॥ १० ॥

एवं काञ्चनपार्श्वमृगसम्पाद्यक्षाद्ध प्रशंसामुपश्रुत्य तदुपलब्धेर्हिमवच्छिखरगमनैकसाध्यतया तत्र गन्तुं निवासं कर्तुं च कृतरुचिराह रामो—मैथिलीत्यादि ।

आपृच्छेति—पुत्रकृतकान् पुत्रभावेन लालितान् हरिणान् मृगान् द्रुमान् वृक्षान्, विन्ध्यं विन्ध्याख्यपर्वतपादविशीर्णं काननम्, तव दयिता: स्नेहशीला: सखी: प्रियवयस्या: लताश्च आपृच्छ गमनकालिकामन्त्रणया सम्भावय । तादृशानुष्ठानादेशहेतुमाह—वत्स्यामीत्युत्तरार्द्धेन । दीप्तैरिव सततशिवसान्निध्योपलब्धतद्भालवर्तिशीतरश्मिभासाग्निप्रदीप्तैरिव ओषधिवनैरुपरञ्जितेषु ज्योतिष्मल्लताप्रकाशितेषु तेषु काञ्चनमृगशालिषु हिमवद्गिरिकाननेषु वत्स्यामि निवासं करिष्यामि । तत्र निवसतो मम वनवासव्रतमपि न हीयते, उत्तमपितृतर्पणं च कृतं भवतीति तत्रैव वासं रोचय इति रामाशय: ॥ ११ ॥

त्यागकर दीप्तिमान् हो सीधे स्वर्ग जाते हैं । वहाँ ये देवोंके साथ विमानमें रहते तथा फिर आवागमनके फेरमें डालनेवाली वासनासे बलपूर्वक आकृष्ट नहीं किये जाते ॥ १० ॥

राम—मैथिलि,

अपने प्यारे पुत्रतुल्य मृगों, वृक्षों, विन्ध्याचलकी वनभूमि और प्यारी लताओं से तुम अब मिलकर विदाई लेलो, मैं अब यहाँसे जाकर चमकने वाली बूटियों से भासित हिमालयपर वास करूँगा, अतः वहाँ जाना है ॥ ११ ॥

सीता—यदार्यपुत्र आज्ञापयति ।

जं अय्यउत्तो आणवेदि ।

रावणः—कौसल्यामातः ! अलमतिमनोरथेन, न ते मानुषैर्दृश्यन्ते ।

रामः—भगवन् ! किं हिमवति प्रतिवसन्ति ?

रावणः—अथ किम् ?

रामः—तेन हि पश्यतु भवान् ।

सौवर्णान् वा मृगांस्तान् मे हिमवान् दर्शयिष्यति ।
भिन्नो मद्बाणवेगेन क्रौञ्चत्वं वा गमिष्यति ॥ १२ ॥

अतिमनोरथेन मानुषोचितसीमातिक्रमणपूर्वकं प्रवृत्तेन काञ्चनमृगकरणपितृश्राद्धानुष्ठानाभिलाषेण । मनोरथस्यास्यातिशयितत्वमेवाह—न त इति ।

प्रतिवसन्ति तिष्ठन्ति । अथ तिष्ठन्ति न शक्यं तैर्मयाऽनुपलब्धैस्तत्र वर्त्तमानैस्तैर्भवितुमिति रामस्य पराक्रमाभिमानः ।

सौवर्णान् इति—हिमवान् हिमवद्गिरिवासिमुनिजनकर्तृकपितृश्राद्धोपयुक्तान् सौवर्णान् काञ्चनपार्श्वाभिधानान् तान् मृगान् मे मम दर्शयिष्यति प्रत्यक्षीकारयिष्यति, वा अथवा मद्बाणवेगेन मदीयबाणरंहसा भिन्नो विदारितान्तरः सन् क्रौञ्चत्वं तदाख्यपर्वतदशां गमिष्यति । यदि तान्मृगान् हिमालयो मम दृष्टिगोचरतां न प्रापयिष्यति तदा तं कुमारः क्रौञ्चगिरिमिवाहं बाणैर्दारयिष्यामीति भावः । पुरा किल शिवाच्छरविद्यामधीयानयोः परशुरामकार्तिकेययोरहमहमिकया स्वबाणविद्योत्कृष्टतां परीक्षितुं बाणान् क्षिपतोः क्रौञ्चगिरौ रन्ध्रं जातमिति कथात्रानुसन्धेया । प्रयुक्तोऽयमर्थो मेघदूते—'हंसद्वारं, भृगुपतियशोवर्त्म तत्क्रौञ्चरन्ध्रम्' ॥ १२ ॥

सीता—जो आज्ञा ।

रावण—कौसल्यानन्दन, ज्यादे मनोरथ मत बढ़ाओ, काञ्चनमृग मनुष्योंके दृष्टिगोचर नहीं हुआ करते हैं ।

राम—क्या ये हिमालय पर रहते हैं ?

रावण—और क्या ?

राम—तब आप देखें—

हिमालय या तो स्वयं उन काञ्चनमृगों को लाकर मेरे सामने हाजिर करेगा या मेरे बाणों द्वारा विदीर्ण होकर क्रौञ्च पर्वत की दशा को प्राप्त होगा ॥ १२ ॥

रावणः—(स्वगतम्) अहो असह्यः खल्वस्यावलेपः । (प्रकाशम्) अये विद्युत्सम्पात इव दृश्यते । कौसल्यामातः ! इहस्थमेव भवन्तं पूजयति हिमवान् । एष काञ्चनपार्श्वः ।

रामः—भगवतो वृद्धिरेषा ।

सीता—दिष्ट्याऽऽर्यपुत्रो वर्धते

दिट्ठिआ अय्यउत्तो वड्ढइ ।

रामः—न न,

तातस्यैतानि भाग्यानि यदि स्वयमिहागतः ।
अर्हत्येष हि पूजायां लक्ष्मणं ब्रूहि मैथिलि ! ॥ १३ ॥

सीता—आर्यपुत्र ! ननु तीर्थयात्रात उपावर्तमानं कुलपतिं प्रत्युद्ग
अय्यउत्त ! णं तित्थअत्तादो उवावत्तमाणं कुलवदिं पच्चुग्ग-

अवलेपः पराक्रमाभिमानः (तदयमर्हति मायाकृतां वञ्चनाम्) इहस्थं हिमवद्गिरिकाननमप्राप्तमेव । पूजयति निजाङ्गणचारिकाञ्चनमृगोपहारेण समर्चयति । एतेन गौरवप्रकर्ष उक्तः । वृद्धिः प्रभावातिशयः ।

तातस्येति—यदि (काञ्चनमृगः) इह मदध्युषितप्रदेशे स्वयमन्तरैव कमपि प्रयासविशेषमागतः प्राप्तः, एतानि तातस्य पितुः (श्वः करिष्यमाणवार्षिकश्राद्धोपयुक्तवस्तुस्वयमुपनिपातहेतुभूतानि) भाग्यानि । एष हि काञ्चनपार्श्वो मृगः पूजायां वार्षिकविधौ अर्हति उपयुज्यते । मैथिलि सीते, लक्ष्मणं ब्रूहि । इममर्थमिति शेषः । तथा च स शीघ्रमेवैनमानयिष्यतीति भावः ॥ १३ ॥

कुलपतिं तत्तपोवनप्रधानमृषिविशेषम् । प्रत्युद्गच्छ प्रत्युद्यानेन सम्भावय ।

रावण—(स्वगत) इसका घमण्ड तो सहा नहीं जाता । (प्रकट) विजलीकी सी चमक मालूम पड़ रही है । कौसल्यानन्दन, तुम्हारे यहीं रहने पर भी हिमालय तुम्हारा आदर कर रहा है, यह है काञ्चनमृग ।

राम—यह आपकी महिमा है ।

सीता—अहोभाग्य, आप बड़े प्रभावी हैं ।

राम—नहीं, नहीं ।

यह पिताजीका भाग्यातिशय है कि यह काञ्चनमृग खुद यहाँ आ पहुँचा है । यह पूजाके लायक है; मैथिलि, लक्ष्मणको खबर दो ॥ १३ ॥

सीता—आर्यपुत्र, लक्ष्मणको तो आपने तीर्थयात्रासे लौटते हुए कुलपति*की

---

* कुलपतिलक्षण—
मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात् ।

च्छति सन्दिष्टः सौमित्रिः ।

च्छेहित्ति सन्दिष्टो सोमित्ती ।

रामः—तेन हि अहमेव यास्यामि ।

सीता—आर्यपुत्र ! अहं किं करिष्यामि ?

अय्यउत्त ! अहं किं करिस्सं ?

रामः—शुश्रूषयस्व भगवन्तम् ।

सीता—यदार्यपुत्र आज्ञापयति ।

ज अय्यउत्तो आणवेदि ।

(निष्क्रान्तो रामः)

रावणः—अये अयमर्घ्यमादायोपसर्पति राघवः । एष इदानीं पूजामनवेक्ष्य धावन्तं मृगं दृष्ट्वा धनुरारोपयति राघवः ।

अहो बलमहो वीर्यमहो सत्त्वमहो जवः

चिरप्रवासात् परावृत्तो हि स्निग्धः प्रत्युद्गम्य कुशलादिकं जिज्ञास्यत इति शिष्टसमुदाचारः ।

अनवेक्ष्य परित्यज्य ।

अहो बलमिति—अहो इत्याश्चर्ये, बलं शारीरिकी शक्तिः, वीर्यमान्तरिकः

अगवानीके लिए भेजा है ।

राम—तब तो मैं ही जाऊँगा ।

सीता—आर्यपुत्र ! मैं क्या करूँगी ?

राम—महाराजकी शुश्रूषा ।

सीता—जो आज्ञा ।

(रामका प्रस्थान)

रावण—अभी तो राम मेरे निमित्त अर्घ्य लिये आ रहे थे, और अभी पूजापराङ्मुख हो भागे जाते हुए काञ्चनमृग को देखकर धनुष चढ़ा रहे हैं । अहा ! कैसा असीम पराक्रम, कैसी अनुपम बहादुरी, कैसा लोकोत्तर पौरुष और कैसा

अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः ॥

वहाँ कुलपतिके होनेमें प्रमाण—

एते ते तापसा देवि ! दृश्यन्ते तनुमध्यमे ।

अत्रिः कुलपतिर्यत्र सूर्यवैश्वानरोपमः ॥ (रामायण युद्धकाण्ड १२३ अ०)

राम इत्यक्षरैरल्पैः स्थाने व्याप्तमिदं जगत् ॥ १४ ॥

एष मृग एकप्लुतातिक्रान्तशरविषयो वनगहनं प्रविष्टः ।

सीता—(आत्मगतम्) आर्यपुत्रविरहिताया भयं मेऽत्रोत्पद्यते ।

अय्यउत्तविरहिदाए भअं मे एत्थ उप्पज्जइ ।

रावणः—(आत्मगतम्)

मायायापहृते रामे सीतामेकां तपोवनात् ।
हरामि रुदतीं बालाममन्त्रोक्तामिवाहुतिम् ॥ १५ ॥

सीता—यावदुटजं प्रविशामि ।

जाव उडजं पविसामि । (गन्तुमीहते)

रावणः—(स्वरूपं गृहीत्वा) सीते ! तिष्ठ । तिष्ठ ।

उत्साहः, सत्त्वं धीरभावः, जवः वेगः (धनुषि बाणयोजनशीघ्रतायामत्र जवः) राम इत्येतैरल्पैस्त्रित्वमप्यभजद्भिरक्षरैर्जगद्व्याप्तमिति स्थाने खलु। एतादृशलोकोत्तरवीर्यादिशालिनोऽस्य रामस्य युक्तं कीर्त्या जगद्व्यापनमिति ॥ १४ ॥

एकप्लुतातिक्रान्तशरविषयः, एकेन प्लुतेन शीघ्रगतिप्रकारभेदेन अतिक्रान्तो लङ्घितः शरविषयो प्राणगोचरो येन स तथाभूतः वनगहनं दुर्गमवनभूमिम् ।

माययेति—मायया काञ्चनमृगोपस्थानरूपया वञ्चनयाऽपहृते दूरदेशं नीते रामे एकाम् असहायाम् (अत एव) रुदतीम् आक्रोशन्तीम् अमन्त्रोक्ताम् अस्वाहाकृताम् आहुतिं हव्यमिव तपोवनात् सीतां हरामि अपनयामि । एतेन रावणस्य रामाद् भयं व्यञ्जितम् ॥ १५ ॥

अद्भुत वेग है । 'राम' इन थोड़ेसे अक्षरोंसे मानो संसार व्याप्त हो रहा है ॥१४॥

वह देखो, यह मृग एक ही छलांगमें शरलक्ष्यतासे बाहर घनी झाड़ीमें घुस गया ।

सीता—(स्वगत) आर्यपुत्रसे रहित मुझ अकेलीको कुछ भय-सा लग रहा है ।

रावण—(स्वगत) मैंने मायाके द्वारा रामको दूर हटा दिया, यहाँ अब निर्जन तपोवन है । अब मैं इस रोती हुई सीताको मन्त्रोच्चारणशून्य आहुति की भाँति हरण करता हूँ ॥ १५ ॥

सीता—तब तक पर्णकुटी में पैठूँ (जाना चाहती है) ।

रावण—(स्वरूप धारण करके) सीते, ठहरो, ठहरो ।

सीता—(भयम्) हं क इदानीमयम् ?

हं को दाणि अअं ?

रावणः—किं न जानीषे ?

युद्धे येन सुराः सदानवगणाः शक्रादयो निर्जिता
दृष्ट्वा शूर्पणखाविरूपकरणं श्रुत्वा हतौ भ्रातरौ ।
दर्पाद् दुर्मतिमप्रमेयबलिनं रामं विलोभ्य च्छलैः
स त्वां हर्तुमना विशालनयने ! प्राप्तोऽस्म्यहं रावणः ॥१६॥

सीता—हं रावणो नाम ।

हं लावणो णाम । (प्रतिष्ठते)

रावणः—आः ! रावणस्य चक्षुर्विषयमागता क यास्यसि ?

युद्धे येनेति । विशाले आयते लोचने नयने यस्याः सा तत्संबुद्धौ विशालनयने, येन दानवानां दैत्यानां गणैः सङ्घैः सहिताः सदानवगणाः शक्रादयः सुरा देवा युद्धे समरे निर्जिताः निरवशेषं परास्ताः सोऽहं रावणः शूर्पणखायाः स्वस्वसुः विरूपकरणं नासाच्छेदादिना वैरूप्यसंपादनं दृष्ट्वा हतौ रामेण निधनं लम्भितौ भ्रातरौ खरदूषणौ श्रुत्वाऽऽकर्ण्य दर्पात् भुजवीर्याभिमानात् दुर्मतिं बुद्धिभ्रंशजुषम् अप्रमेयबलिनं स्वल्पतयाऽगणनीयसैन्यं रामं छलैर्विलोभ्य मायानिर्मितकाञ्चनमृगोपस्थापनेन प्रतार्य त्वां हर्तुमना त्वदपहरणं कर्तुम् इव वनोद्देशे प्राप्तोऽस्मि । अत्र 'भ्रातरौ हतौ श्रुत्वा' इति प्रयोगे भ्रातुः श्रवणकर्मता कथमिति शङ्कायां धर्मधर्मिणोरभेदमुपचर्य तथा प्रयोग इति समाधातव्यम् । तथा च प्रयुज्यते—'राक्षसीरशृणोत् कपिः' इति वाल्मीकीये । 'विलपन्त कपिञ्जलमश्रौषम्' इति कादम्बर्याम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १६ ॥

सीता—(डरकर) हैं, अब यह कौन ?

रावण—क्या नहीं जानती ?

जिसने संग्राममें दानवों और देवोंको परास्त किया जिसने शूर्पणखाका नासाभङ्ग तथा खरदूषण को मारा जाना सुना, वही मैं रावण इस समय दर्पसे उद्धत रामको मायासे वञ्चित कर तुम्हें हर ले जाने को उपस्थित हुआ हूँ ॥१६॥

सीता—हैं, रावण, (चलती है) ।

रावण—रावण की आँखों के सामने से जायगी कहाँ ?

सीता—आर्यपुत्र ! परित्रायस्व परित्रायस्व। सौमित्रे ! परित्रायस्व
अय्यउत्त ! परित्ताआहि परित्ताआहि। सोमित्ती ! परित्ताआहि
परित्रायस्व माम्।
परित्ताआहि म।

रावणः—सीते श्रूयतां मत्पराक्रमः।

भग्नः शक्रः कम्पितो वित्तनाथः कृष्टः सोमो मर्दितः सूर्यपुत्रः।
धिग् भो स्वर्गं भीतदेवैर्निविष्टं धन्या भूमिर्वर्तते यत्र सीता ॥१७॥

सीता—आर्यपुत्र ! परित्रायस्व परित्रायस्व। सौमित्रे ! परित्रायस्व
अय्यउत्त ! परित्ताआहि परित्ताआहि। सोमित्ती ! परित्ताआहि
परित्रायस्व माम्।
परित्ताआहि मं।

रावणः—

रामं वा शरणमुपेहि लक्ष्मणं वा स्वर्गस्थं दशरथमेव वा नरेन्द्रम्।

भग्न इति—शक्र इन्द्रो भग्नो युद्धे पराजितः, वित्तनाथः कुबेरः कम्पितः भयेन चालितः, सोमः चन्द्रः कृष्टः कर्षितः स्वावासदेशादाकृष्य स्वप्रासादशिखरे स्थापितः। सूर्यपुत्रः यमः मर्दितः मानापाकरणेन निस्तेजस्कः कृत इत्यर्थ। एतादृशपराक्रमोऽहमस्मीति रावणस्य गर्वः। नन्वेवं तर्हि स्वर्ग एव त्वया स्वावासभूमिः किमिति न कृतेत्यत्राह—धिगिति। भीतदेवैः, भीरुस्वभावैः सुरैः निविष्टमधिष्ठितं स्वर्गं धिक्, सा भूमिरियं धरित्री धन्या प्रशंसनीया, यत्र सीता (सीतासदृशी रमणीयगुणसौन्दर्या स्त्री) वर्त्तते। शालिनीवृत्तम् ॥ १७ ॥

राम इति—रामं शरणं त्रातारमुपेहि गच्छ, लक्ष्मणं वा शरणमुपेहि त्रातारमाश्रयस्व, स्वर्गस्थं दशरथं तन्नामानं वा नरेन्द्रं शरणमुपेहि त्रातारमाश्रयस्व; नानेन

सीता—आर्यपुत्र, रक्षा करो, रक्षा करो। लक्ष्मण, रक्षा करो, रक्षा करो।

रावण—सीते, सुनो मेरा पराक्रम।

मैंने इन्द्रको परास्त किया, कुबेरको कँपाया, सोमको खींच लिया और यमराजको मर्दित किया है। धिक्कार है उस स्वर्गको जहाँ मेरे भयसे भीत देवगण रहा करते हैं, धन्य तो वह पृथ्वी है, जहाँ सीता रहती है ॥ १७ ॥

सीता—आर्यपुत्र, रक्षा करो, रक्षा करो, लक्ष्मण, मुझे बचाओ, बचाओ।

रावण—तुम चाहे रामकी शरण लो, लक्ष्मणकी अथवा स्वर्गवासी दशरथकी

किं वा स्यात् कुपुरुषसंश्रितैर्वचोभिर्न व्याघ्रं मृगशिशवः प्रधर्षयन्ति॥

सीता—आर्यपुत्र ! परित्रायस्व परित्रायस्व ! सौमित्रे ! परित्रायस्व
अय्यउत्त ! परित्ताआहि परित्ताआहि । सोमित्ती ! परित्ताआहि
परित्रायस्व माम् ।
परित्ताआहि मं ।

रावण:—

विलपसि किमिदं विशालनेत्रे ! विगणय मां च यथा तवार्यपुत्रम् ।
विपुलबलयुतो ममैव योद्धुं ससुरगणोऽप्यासमर्थ एव रामः ॥१९॥

सीता—(सरोषम्) शप्तोऽसि ।
सत्तो सि ।

किमपि साध्यमिति । एतैः कुपुरुषसंश्रितैः कुत्सितपुरुषविषयैः दुर्बलत्वेनातिकुत्सा-पात्ररामलक्ष्मणदशरथविषयैस्त्रायस्वेति वचनैर्मे मम रावणस्य किं स्यात् ? किमपि न च्छिद्येतेति भावः । तत्र दृष्टान्तमाह—न व्याघ्रमिति । व्याघ्रं द्वीपिनं मृगशिशवः हरिणशावकाः न प्रधर्षयन्ति नोत्पीडयन्ति । यथा व्याघ्रस्य कृते हरिणशिशवो न भयदास्तथा ममापि कृते रामलक्ष्मणदशरथाः फल्गव इति वृथा तानाक्रोशसीति भावः । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ १८ ॥

विलपसीति—विशालनेत्रे विशालाक्षि, किमिदं विलपसि ? वृथा तवायं विलापो मत्सकाशात्त्वां त्रातुं कस्याप्यसमर्थत्वादिति भावः । मां तवार्यपुत्रं भर्त्तारं यथा इव विगणय जानीहि । यतोऽहं तव भर्त्तुरप्यधिकबलवानतो मामेव भर्त्तार-मङ्गीकुर्वित्यर्थः । तथा हि एष त्वया त्राणार्थं प्रार्थ्यमानः विपुलेन महता सैन्येन युतः सहितः सुराणां देवानां गणैः समूहैश्च सहितः अपि रामः मम योद्धुं युद्धेऽव-स्थातुम् असमर्थ एव । अशक्त एव । तस्मान्मामेव भर्त्तारं भजेति भावः । एतेन रावणस्य भुजबलावलेपो व्यक्तः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ १९ ॥

ही शरण में जाओ । इन कायर पुरुषों की पुकार से मेरा क्या बिगड़ेगा, क्या मृग के बच्चों से सिंह का पराभव सम्भव है ॥ १८ ॥

सीता—आर्यपुत्र, रक्षा करो, रक्षा करो । लक्ष्मण, मेरा परित्राण करो ।

रावण—हे विशालनेत्रे, अब तुम यह वृथा विलाप क्यों कर रही हो ? अब से अपने आर्यपुत्र की जगह मुझे समझो । समस्त देवों के सहित तथा अपरिमित सेना से युक्त होकर भी राम मुझसे युद्ध करने में असमर्थ ही रहेगा ॥ १९ ॥

सीता—(क्रोध से) मैं तुमको शाप देती हूँ ।

रावणः—अहह ! अहो पतिव्रतायास्तेजः ।

योऽहमुत्पतितो वेगान्न दग्धः सूर्यरश्मिभिः ।
अस्याः परिमितैर्दग्धः शप्तोऽसीत्येभिरक्षरैः ॥ २० ॥

सीता—आर्यपुत्र ! परित्रायस्व परित्रायस्व ।
अज्जउत्त ! परित्ताआहि परित्ताआहि ।

रावणः—(सीतां गृहीत्वा) भोः भोः ! जनस्थानवासिनस्तपस्विनः ! शृण्वन्तु भवन्तः—

बलादेव दशग्रीवः सीतामादाय गच्छति ।
क्षात्रधर्मे यदि स्निग्धः कुर्याद् रामः पराक्रमम् ॥ २१ ॥

सीता—आर्यपुत्र ! परित्रायस्व परित्रायस्व ।
अज्जउत्त ! परित्ताआहि परित्ताआहि ।

अहहेति सीताशापोपहासे ।

योऽहमिति—वेगादुत्पतितः आकाशं गतो योऽहं सूर्यस्य रश्मिभिः भास्करस्य प्रखरैः करैर्न दग्धः परितापितोऽस्मि । सोऽहं सूर्यतेजःपरिभवनसमर्थोऽहम्; अस्याः सीतायाः शप्तोऽसि एभिरेतैः परिमितैः त्रिभिरक्षरैर्वर्णैः दग्धः परितापितोऽस्मि ? अयमुपहासः सीतानुकूलनाय कृतो बोध्यः । जनस्थानवासिनस्तपोधनाः = जनस्थानं दण्डकारण्यमध्यवर्त्ति मुनिजनाधिष्ठितं तपोवनम्, तत्र वसन्तीति ते । तपोधनाः मुनयः ॥ २० ॥

बलादिति । एषः दश ग्रीवाः कण्ठा यस्य सः दशग्रीवः रावणः बलात् पराक्रमात् बलमास्थायेत्यर्थे ल्यब्लोपे पञ्चमी । सीतामादाय गच्छति स्वपुरीमिति शेषः । यदि रामः क्षात्रधर्मे स्निग्धः अनुरागी तदा पराक्रमं कुर्यात् प्रकटयेत् । मया क्रियमाणस्यास्यापराधस्य प्रतिशोधयेदिति भावः ॥ २१ ॥

रावण— ह ह ह !! वाह रे पतिव्रता का तेज !

जो मैं वेग से आकाश में उड़ने के समय सूर्यकिरणों से नहीं जलता, वही मैं इससे 'मैं तुमको शाप देती हूँ' इन गिने अक्षरोंसे झुलस गया ? ॥ २० ॥

सीता—आर्यपुत्र, रक्षा करो, रक्षा करो ।

रावण—(सीता को पकड़कर) हे वनवासी तपस्वियों, आप सुन लें—

सीता को रावण बलपूर्वक हरण कर लिये जा रहा है, यदि राम को क्षात्रधर्म पर कुछ आस्था हो तो अपना पराक्रम प्रकट करे ॥ २१ ॥

सीता—आर्यपुत्र, रक्षा करो, रक्षा करो ।

रावणः—(परिक्रामन् विलोक्य) अये ! स्वपक्षपवनोत्क्षेपक्षुभितवनखण्डश्चण्डचञ्चुरभिधावत्येष जटायुः । आः ! तिष्ठेदानीम् ।

मद्भुजाकृष्टनिस्त्रिंशकृत्तपक्षक्षतच्युतैः ।
रुधिरैरार्द्रगात्रं त्वां नयामि यमसादनम् ॥ २२ ॥

(निष्क्रान्तौ)

इति पञ्चमोऽङ्कः ।

स्वपक्षयोः निजगरुतोः पवनेन शीघ्रचालनप्रसूतेन वातेन, य उत्क्षेप उपरिक्षेपणम्, तेन क्षुभिताः सञ्चालिताः वनखण्डाः वनसमूहा येन तादृशः । एतेन ससम्भ्रमपतनेन जटायोरवसरमित्रत्वं व्यक्तम् । चण्डा भीषणा तीव्रप्रहारा चञ्चूर्यस्य सः । अभिधावति मां लक्ष्यीकृत्यागच्छति । एतेन रावणस्य चिन्तोक्ता । आः कोपे ।

मद्भुजेति—मम भुजेन बाहुना आकृष्टः कोशादुद्धृतो यः निस्त्रिंशः खड्गस्तेन कृत्तयोश्छिन्नयोः पक्षयोर्यत् क्षतं व्रणस्तस्मात् च्युतैर्गलितैः रुधिरैः रक्तैः आर्द्राणि सिक्तानि क्लिन्नानि अङ्गानि गात्राणि यस्य तथाभूतं त्वां यमस्य सदनमेव सादनं गृहं नयामि प्रापयामि । मया क्षतपक्षस्य रुधिरोक्षितस्य तव प्राणानचिरेणाहं हरामीत्यर्थः । प्राणहरणस्य यमसादनप्रापणभङ्ग्याभिधानात् पर्यायोक्तमलङ्कारोऽत्र ॥
इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रकृते 'प्रतिमानाटक–प्रकाशे' पञ्चमाङ्कः ॥५॥

रावण—(घूमकर तथा देखकर) अरे, अपने पंखोंकी तेज वायुसे सारे वनवृक्षोंको कम्पित कर देनेवाला और भयानक चोंचवाला यह जटायु मेरी ही ओर दौड़ा आता है, आः ! ठहर तो अभी :—

मैं अपने हाथोंसे अपनी तीक्ष्ण धारवाली तलवार निकाल कर तेरे पंखोंको काटता हूँ और शोणितसे भिगाकर तुझे यमलोक भेजता हूँ ॥ २२ ॥

(दोनों का प्रस्थान)

पञ्चम अङ्क समाप्त

अथ षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशतो वृद्धतापसौ)

उभौ—परित्रायन्तां परित्रायन्तां भवन्तः !

प्रथमः—

इयं हि नीलोत्पलदामवर्चसा मृणालशुक्लोज्ज्वलदंष्ट्रहासिना ।
निशाचरेन्द्रेण निशार्धचारिणा मृगीव सीता परिभूय नीयते ॥ १ ॥

द्वितीयः—एषा खलु तत्र भवती वैदेही,

विचेष्टमानेव भुजङ्गमाङ्गना विधूयमानेव च पुष्पिता लता ।
प्रसह्य पापेन दशाननेन सा तपोवनात् सिद्धिरिवापनीयते ॥ २ ॥

उभौ—परित्रायन्तां परित्रायन्तां भवन्तः !

इयमिति—नीलोत्पलं कुवलयं तस्य दाम माला तद्वत् श्यामं कृष्णं वर्चस्तेजो यस्यासौ तेन, अतिश्यामलकान्तिशालिनेत्यर्थः, मृणालशुक्ला विषतन्तुधवला उज्ज्वला वर्णान्तरासङ्कीर्णश्वेता दंष्ट्रा यस्मिन् कर्मणि तथा हासिना स्मयमानेन बिसतन्तुधवलदशनरश्मि स्मितेन प्रकाशयतेत्यर्थः । निशार्धचारिणा चोरवत् रात्रिमध्यपर्यंटकेन निशाचरेन्द्रेण इयं सीता जनकतनया मृगी हरिणी इव परिभूय क्लेशयित्वा नीयते स्वसदनं प्रापयितुमपह्रियते । एतेन सादृश्येन सीतायाः कान्दिशीकदशोक्ता । 'नीलोत्पलं कुवलयम्' इति कोशः । उपमालंकारः । वंशस्थं वृत्तम् ॥१॥

विचेष्टमानेति—विचेष्टमाना समुपस्थितविपत्प्रतीकाराय विविधं चेष्टमाना व्याप्रियमाणा भुजङ्गमाङ्गना सर्पिणी इव, विधूयमाना कम्पमाना पुष्पिता पुष्पावृता लता वल्ली इव सा तत्रभवती वैदेही सिद्धिरिव तपःफलसम्पदिव पापेन दुराचारेण

(दो वृद्ध तपस्वियोंका प्रवेश)

दोनों—वनवासियों, रक्षा करो, रक्षा करो ।

पहला—यह देखो, नीलकमलोंकी मालाके समान वर्णवाले और हँसनेके समय मृणालकी तरह श्वेत दन्तपंक्तिवाले निशाचारी रावण द्वारा, सिंहके द्वारा मृगीकी भाँति, सीता बलपूर्वक हरी जा रही है ॥ १ ॥

दूसरा—यह पूजनीय सीता—

छटपटाती हुई नागिनकी तरह, कम्पित पुष्पलताकी तरह, पापी दशानन द्वारा तपोवनसे तपःफलसिद्धिकी तरह बलपूर्वक अपहृत हो रही है ॥ २ ॥

दोनों—वनवासियों, रक्षा करो, रक्षा करो ।

प्रथम.—(ऊर्ध्वमवलोक्य) अये वचनसमकाल एव दशरथस्यानृण्यं कर्तुं 'मयि स्थिते क यास्यसी'ति रावणमाहूयान्तरिक्षमुत्पतितो जटायुः ।

द्वितीय.—एष रोषादुद्वृत्तनयनः प्रतिनिवृत्तो रावणः ।

प्रथमः—एष रावण ।

द्वितीयः—एष जटायुः ।

उभौ—हन्तैतदन्तरिक्षे प्रवृत्तं युद्धम् ।

प्रथमः—काश्यप ! काश्यप ! पश्य क्रव्यादीश्वरस्य सामर्थ्यम् ।

पक्षाभ्यां परिभूय वीर्यविषयं द्वन्द्वं प्रतिव्यूहते
तुण्डाभ्यां सुनिघृष्टतीक्ष्णमचलः संवेष्टनं चेष्टते ।

दशाननेन रावणेन तपोवनात् नीयते वाभीष्टं स्थानान्तरं प्राप्यते । अत्र प्रथमोपमया सीतायाः क्रोधातिशयस्तेन च तस्याश्चरित्रोत्कर्षः, द्वितीयोपमयाऽस्तव्यस्तशरीरता, पतदलङ्करणगता च सिद्धिरिति चरमोपमया च रक्ष्यसर्वस्वता चेत्यादयोऽर्था व्यज्यन्ते । अत्रैकस्याः सीताया अनेकोपमानसम्बन्धान्मालोपमाऽलङ्कारः, तथा च तल्लक्षणम्—'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दर्शितम्' इति ॥ २ ॥

दशरथस्यानृण्यम् दशरथेन सख्योपकृतस्य प्रत्युपकारम्=विपद्ग्रस्ततत्पुत्रवधूमोचनाय यावत्सामर्थ्यं प्रयत्नलक्षणम् । उद्वृत्तनयनः मण्डलावर्त्तितचक्षुः । प्रतिनिवृत्तः जटायोराह्वानेन तदभिमुखं परावृत्तः । अन्तरिक्षे व्योम्नि । क्रव्यादीश्वरस्य क्रव्यादाम् आममांसभक्षकाणाम् (अत्र गृद्ध्राणाम्) ईश्वरस्य प्रभोः जटायोः ।

पक्षाभ्यामिति—अयं जटायुः पक्षाभ्याम् परिभूय रावणं प्रहृत्य वीर्यविषयं पराक्रमसापेक्षं द्वन्द्वं युद्धं प्रतिव्यूहते प्रतियुध्यते, द्वन्द्वस्य वीर्यविषयमिति विशेषणेन

पहला—(ऊपर देखकर) अरे हमारे पुकारते ही दशरथसे उऋण होनेके लिए 'मेरे रहते तू कहाँ जायगा' इस तरह रावणको ललकारकर जटायु आकाशमें उड़ा।

दूसरा—यह देखो - रोषसे आँखोंको चढ़ाकर रावण पीछे की ओर लौटा।

पहला—यह देखो रावण।

दूसरा—यह देखो जटायु।

दोनों—ओहो, आकाशमें ही युद्ध छिड़ गया।

पहला—काश्यप, काश्यप, देखो, देखो, गृध्रराज जटायुके पराक्रम को। यह जटायु किस प्रकार अपने पंखोंसे रावणपर प्रहार करता हुआ उससे बहादुरी

तीक्ष्णैरायसकण्टकैरिव नखैर्भीमान्तरं वक्षसो
वज्राग्रैरिव दार्यमाणविषमाच्छैलाच्छिला पाट्यते ॥ ३ ॥

द्वितीयः—हन्त ! सक्रुद्धेन रावणेनासिना क्रव्यादीश्वरः स दक्षिणांसदेशे हतः ।

उभौ—हा धिक् । पतितोऽत्रभवान् जटायुः ।

प्रथमः—भोः कष्टम् । एष खलु तत्रभवान् जटायुः—

कृत्वा स्ववीर्यसदृशं परमं प्रयत्नं क्रीडामयूरमिव शत्रुमचिन्तयित्वा ।
दीप्तं निशाचरपतेरवधूय तेजो नागेन्द्रभग्नवनवृक्ष इवावसन्नः ॥४॥

महता पराक्रमेण युध्यते इत्यर्थोऽभिमतः, अथवा वीर्यविषयम् इति परिभूयेत्यस्य कर्म, तथा च वीर्यविषयं स्वबललक्ष्यभूतं रावणं परिभूयेत्यर्थः । अचलः स्थिरः सन् तुण्डाभ्यां चञ्चूभ्यां सुनिघृष्टं तीक्ष्णं च यथा स्यात्तथा संवेष्टनं चेष्टते सम्यग् वेष्टनयुक्तं यथा स्यात्तथा चेष्टते । एवं च तुण्डाग्रेण तीक्ष्णेन प्रतियोद्धारं निपत्य निघर्षति पुनर्वलयाकारेण वेष्टते चेत्यर्थः । आयसकण्टकैरिव लौहमयैः कण्टकैरिव तीक्ष्णैः निशिताग्रभागैः नखैः नखरैः वक्षसः रावणोरसः भीममतिभयानकं भयोत्पादकम् आन्तरम् मांसादिवज्राग्रैः कुलिशकोटिभिः दार्यमाण विषमात् पाटितत्वेनान्तरपदार्थप्रत्यक्षीभावभीषणात् शैलात् पर्वतात् शिलाप्रस्तरशकलमिव पाट्यते पाटयित्वा गृह्यते । अत्र कर्तृप्रत्ययकर्मप्रत्ययकृतः प्रक्रमभङ्गो दोषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३ ॥

कृत्वेति—स्ववीर्यसदृशं निजभुजबलानुरूपं परममुत्तमं प्रयत्नं प्रयासं सीतापरित्राणविषयं कृत्वा, शत्रुं रावणसदृशं विपक्षं क्रीडामयूरमिव क्रीडनकशिखावलमिव अचिन्तयित्वा अविगणय्य पराक्रमवत्तयाऽविभाव्येति भावः । निशाचरपतेः राक्षस-

---

के साथ द्वन्द्व युद्ध कर रहा है, किस प्रकार खूब डटकर अपने तीक्ष्ण चञ्चुयुगल द्वारा उसे काट खानेकी चेष्टा कर रहा है । वह लौहकण्टकतुल्य नखों से रावणकी छातीपर भयानक तथा विस्तृत घाव इस तरह पैदा कर रहा है, मानो वज्राग्रद्वारा कठोर शिला फाड़ी जा रही हो ॥ ३ ॥

दूसरा—शोक ! क्रुद्ध रावणने गृध्रराजके दाहिने कन्धेपर तलवारका प्रहार कर दिया ।

दोनों—हा शोक !! जटायु गिर गया ।

पहला—खेद ! यह पुण्यात्मा जटायु—

अपने पराक्रमके अनुरूप आखिरी दम तक लड़कर, शत्रुके बलवीर्यकी चिंता न कर और राक्षसराजके प्रचण्ड पराक्रमको दबाकर, इस समय वनगजके द्वारा

उभौ—स्वर्ग्योऽयमस्तु ।

प्रथमः—काश्यप ! आगम्यताम् । इमं वृत्तान्तं तत्रभवते राघवाय निवेदयिष्यावः ।

द्वितीयः—बाढम् । प्रथमः कल्पः । (निष्क्रान्तौ)

(विष्कम्भः)

(ततः प्रविशति काञ्चुकीयः)

काञ्चुकीयः—क इह भोः ! काञ्चनतोरणद्वारमशून्यं कुरुते ?

(प्रविश्य)

प्रतिहारी—आर्य ! अहं विजया । किं क्रियताम् ?

अय्य ! अहं विजया । किं करीअदु ?

काञ्चुकीयः—विजये ! निवेद्यतां निवेद्यतां भरतकुमाराय—'एष खलु

राजस्य दीप्तम् सुसमिद्धम् तेजः पराक्रमप्रतापम् अवधूय स्वपराक्रमप्रदर्शनेनाघः कृत्वा नागेन्द्रभग्नवनवृक्ष इव वारणभज्यमानकाननतरुरिव अवसन्नः अवसादं प्राप्य पतितः । अत्रैष जटायुरिति पूर्वोक्तेन सम्बन्धः । एवञ्च नास्ति सीतोद्धारं प्रत्याशीति खेदो व्यक्तः, वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४ ॥

स्वर्ग्यः स्वर्गार्हः, परोपकारत्यक्तदेहत्वात् पुण्यगत्यर्हः । प्रथमः कल्पः आद्यो विधिः सर्वप्रथममनुष्ठेयः ।

विष्कम्भ इति—वृत्तवर्तिष्यमाणकथांशनिदर्शकः । स चात्र शुद्धो बोध्यः मध्यमपात्रप्रयोजितत्वात् ।

काञ्चनतोरणद्वारम् सुवर्णरचितं बहिर्द्वारम् 'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्' इत्यमरः

उत्पाटित वनवृक्षकी तरह उखाड़ फेंका गया है ॥ ४ ॥

दोनों—इसको स्वर्ग मिले ।

पहला—काश्यप, आओ इस समाचारकी सूचना रामको दें ।

दूसरा—बहुत अच्छा ! यह तो सबसे पहला कार्य है । (दोनोंका प्रस्थान)

(मिश्रविष्कम्भक)

(कन्चुकीका प्रवेश)

कन्चुकी—कान्चनद्वार तोरणपर कौन नियुक्त है ? (प्रतिहारीका प्रवेश)

प्रतीहारी—आर्य, मैं हूँ विजया, कहिये क्या आज्ञा है ।

कन्चुकी–विजये, राजकुमार भरतको सूचित कर दो कि वनमें रामके दर्शनार्थ

रामदर्शनार्थं जनस्थानं प्रस्थितः प्रतिनिवृत्तस्तत्रभवान् सुमन्त्र' इति।

प्रतिहारी—आर्य ! अपि कृतार्थस्तातसुमन्त्र आगतः ?

अय्य ! अवि किदत्थो तादसुमन्तो आअदो ?

काञ्चुकीयः—भवति ! न जाने।

हृदयस्थितशोकाग्निशोषिताननमागतम्।

दृष्ट्वैवाकुलमासीन्मे सुमन्त्रमधुना मनः॥ ५॥

प्रतिहारी—आर्य ! एतच्छ्रुत्वा पर्याकुलमिव मे हृदयम्।

अय्य ! एदं सुणिअ पय्याउलं विअ मे हिअअं।

काञ्चुकीयः—भवति ! किमिदानीं स्थिता ? शीघ्रं निवेद्यताम्।

प्रतिहारी—आर्य ! इयं निवेदयामि। (निष्क्रान्ता)

अय्य ! इअं णिवेदेमि।

काञ्चुकीयः—(विलोक्य) अये ! अयमत्रभवान् भरतकुमारः सुम-

जनस्थानम् तपोवनाश्रमपदम्। प्रस्थितः गतः।

कृतार्थः कृतः सम्पादितः, अर्थः रामदर्शनलक्षणं प्रयोजनं येन तादृशः, रामदर्शनसन्तुष्ट इति भावः।

हृदयस्थितेति—हृदये स्थितेन वर्तमानेन शोकरूपेणाग्निना शोषितमाननं मुखं यस्य तथाभूतम् (अधुना) आगतं सुमन्त्रं दृष्ट्वा एव दर्शनकालमेव मम मन आकुलमासीत् अभवत्। एतेन तन्मुखभङ्गिप्रभृतिभिः कृतार्थता न विद्यते, तेन न जाने कृतार्थोऽकृतार्थो वा प्रत्यावृत्तः सुमन्त्र इति भावः॥ ५॥

स्थिता कुण्ठिता।

सुमन्त्रागमनजनितकुतूहलहृदयः सुमन्त्रस्यागमनेन जनितमुत्पादितं कुतूहलम्

गये हुये सुमन्त्र लौट आये हैं।

प्रतिहारी—आर्य, क्या बात सुमन्त्र अपना कार्य करके लौटे हैं।

कन्चुकी—अजी, मुझे ठीक नहीं मालूम।

सद्यः परावृत्त सुमन्त्र का, हृदयस्थित शोकानल से झुलसा हुआ मुखमण्डल देखकर मेरा हृदय तो भयभीत हो उठा॥ ५॥

प्रतिहारी—आर्य, यह सुनकर मेरा हृदय तो सन्न हो रहा है।

कन्चुकी—खड़ी क्यों हो ? शीघ्र निवेदन करो।

प्रतिहारी—ये लीजिये, अभी निवेदन करती हूँ। (प्रस्थान)

कन्चुकी—ऐं, यह हैं भरत कुमार, जिनके शरीरपर वल्कल और शिरपर भूरी

सुमन्त्रः—(सशोकम्) कष्टं भोः ! कष्टम् ।

नरपतिनिधनं मयानुभूतं नृपतिसुतव्यसनं मयैव दृष्टम् ।
श्रुत इह स च मैथिलीप्रणाशो गुण इव बह्वपराद्धमायुषा मे ॥ ८ ॥

प्रतिहारी—(सुमन्त्रमुद्दिश्य) एत्वेत्वार्यः । एष भर्ता । उपसर्पत्वार्यः ।
एदु एदु अय्यो । एसो भट्टा । उपसप्पदु अय्यो ।

सुमन्त्रः—(उपसृत्य) जयतु कुमारः ।

भरतः—तात ! अपि दृष्टस्त्वया लोकाविष्कृतपितृस्नेहः । अपि दृष्टं द्विधाभूतमरुन्धतीचारित्रम् । अपि दृष्टं त्वया निष्कारण-

---

नरपतीति—नरपते राज्ञो दशरथस्य निधनं मरणम् मया सुमन्त्रेणानुभूतम् प्रत्यक्षीकृतम्, नृपतिसुतानां रामभरतलक्ष्मणानां व्यसनं दुःखम् (रामस्य वनगमनम्, भरतस्य ततोऽप्यधिककष्टसाध्यव्रतधारणम्, लक्ष्मणस्य रामानुगमनजन्यवनवासात्मकम्) मयैव दृष्टम् । इह अत्रायुषि सीताप्रणाशः सीतापहारश्च श्रुतः, (तदेवम्) मे आयुषा गुणे बह्वपराद्धम् आयुषो दीर्घत्वं गुणस्य एव चात्र दोषो जात इति भावः । विशेषजिज्ञासायां द्रष्टव्या चतुर्थाङ्कगताष्टादशपद्यव्याख्या ॥ ८ ॥

लोकाविष्कृतपितृभक्तिः लोके प्रकटितपितृभक्तिः, कीर्त्तितपितृभक्तिर्वा, अर्थतः राम एव विवक्षितः, तस्यैव तथात्वात्प्रकृतत्वाच्च । अरुन्धतीचारित्र तदभिधानाया वसिष्ठभार्यायाः प्रसिद्धं पातिव्रत्यम् । द्विधाभूतम् अपरेण रूपेण सीतालक्षणेन वर्तमानम् । एतेन सीतापातिव्रत्यस्यारुन्धतीपातिव्रत्यसादृश्यं प्रतिपादितम् । निष्कारणविहि-

---

सुमन्त्र—(शोकपूर्वक) शोक, हा शोक !

मेरे फूटे भाग्यने महाराजकी मृत्यु देखनेको मुझे बाध्य किया, रामवनगमनका खेद भी भोगना पड़ा, और अब सीताका हरण भी सुन रहा हूँ। हाय, मेरी इस लम्बी आयुने गुणके बदले अपराध ही अधिक किये ॥ ८ ॥

प्रतिहारी—(सुमन्त्रको लक्ष्य करके) आइये आइये, ये हैं भर्त्ता, इनसे मिल लें ।

सुमन्त्र—(समीप जाकर) जय हो कुमार की ।

भरत—तात, क्या आपने लोकविख्यात पितृभक्तके दर्शन किये ? आपको द्वितीय अरुन्धतीचरित्र देखनेका अवसर मिला ? क्या आपने अकारण वनवास

विहितवनवासं सौभ्रात्रम् ।

(सुमन्त्रः सचिन्तस्तिष्ठति)

प्रतिहारी—भर्तृदारकः खल्वार्यं पृच्छति ।

भट्टिदारओ खु अय्यं पुच्छदि ।

सुमन्त्रः—भवति ! किं माम् ?

भरतः—(स्वगतम्) अतिमहान् खल्वायासः । सन्तापाद् भ्रष्टहृदयः । (प्रकाशम्) अपि मार्गात् प्रतिनिवृत्तस्तत्रभवान् ?

सुमन्त्रः—कुमार ! त्वन्नियोगाद् रामदर्शनार्थं जनस्थानं प्रस्थितः कथमहमन्तरा प्रतिनिवर्तिष्ये ।

तवनवासम् । पित्राज्ञादिकारणमन्तरेणैव वनवासभाजनम् । मूर्त्तिमान् भ्रातृस्नेहो लक्ष्मण इति प्रष्टुराशयः (स हि लक्ष्मणो भ्रातृस्नेहमात्रेण वनवासमाश्रितवानिति तथोक्तिः) ।

आर्यं पृच्छति एतेनावश्यकं तत्र भवतो ध्यानदानमिति सुमन्त्र उद्बोधितः ।

मामिति—पृच्छतीति शेषः, एतेन प्रश्नेन सुमन्त्रस्य नितान्तचिन्ताचुम्बितस्वान्ततोक्ता ।

आयासः खेदः । भ्रष्टहृदयः भ्रष्टं स्थानाच्चलितं हृदयं चित्तं यस्य तादृशः एतेनासावधानताहेतुतया सन्ताप ऊहितः, स च रामदर्शनार्थवनगमनाज्ञापालनासामर्थ्यकृत एव । तथा चाग्रिमः प्रश्नः ।

रामदर्शनार्थम् केवलं रामदर्शनार्थमेव वनगमनं कष्टकरं मे, तत्र तदर्था त्वदाज्ञाप्यासीत्, अतोऽप्यहं प्रस्थाय मध्ये मार्गात् परावर्तेयेति सर्वथाऽसम्भाव्यमित्यर्थः ।

स्वीकार करनेवाले भ्रातृस्नेहसे साक्षात्कार किया ?

(सुमन्त्र चिन्ताग्रस्त-सा खड़ा रहता है)

प्रतिहारी—राजकुमार आपसे ही पूछते हैं ।

सुमन्त्र—मुझसे ?

भरत—(स्वगत) बड़ी तकलीफ है । शोकसे इनका हृदय अपने स्थान पर नहीं है । (प्रकट) क्या आप बीचमें से ही लौट आये ?

सुमन्त्र—कुमार, तुम्हारे आदेशसे रामको देखने वनको चला था, बीचसे कैसे लौट आता ?

भरतः—किन्नु खलु क्रोधेन वा लज्जया वात्मानं न दर्शयन्ति ?

सुमन्त्रः—कुमार !

कुतः क्रोधो विनीतानां लज्जा वा कृतचेतसाम् ।
मया दृष्टं तु तच्छून्यं तैर्विहीनं तपोवनम् ॥ ९ ॥

भरतः—अथ क्व गता इति श्रुताः ।

सुमन्त्रः—अस्ति किल किष्किन्धा नाम वनौकसां निवासः । तत्र गता इति श्रुताः ।

भरतः—हन्त ! अविज्ञातपुरुषविशेषाः खलु वानराः । दुःखिताः प्रतिवसन्ति ।

सुमन्त्रः—कुमार ! तिर्यग्योनयोऽप्युपकृतमवगच्छन्ति ।

क्रोधेन राज्यभ्रंशनादिकारणीभूतास्मद्द्वेषेण । लज्जया वनवासस्वरूपस्वजीवनस्तरह्रासोद्भवया ह्रिया ।

कुत इति—विनीतानाम् विनयावनतानाम्, कृतं सुसंस्कृतं चेतः येषां तेषां लज्जा कुतः ? नोपपद्यत इति भावः । एवं च तददर्शनं न क्रोधेन न लज्जया वा जनितम्, किन्तु स्थानपरित्यागेनेत्याह—मयेति । तैर्विहीनं विरहितम्, अत एव शून्यं रिक्तमिव प्रतीयमानम्, अश्रीकमित्यर्थः तद्वनं मया दृष्टं विलोकितम् ॥ ९ ॥

अविज्ञातपुरुषविशेषाः अविज्ञातः अविदितः पुरुषविशेषः पुरुषश्रेष्ठो यैस्तथाभूताः । अथवा पुरुषविशेषः पुरुषवैशिष्ट्यम् ।

उपकृतमवगच्छन्ति कृतज्ञा भवन्ति ।

भरत—कहीं वे लोग क्रोध और संकोचके कारण अपनेको छिपाकर तो नहीं रहते ?

सुमन्त्र—कुमार,—

विनयीजनोंको क्रोध कहाँ और निर्मल अन्तःकरणमें लज्जाका प्रवेश कहाँ ? किन्तु मैंने जब तपोवन देखा तब वह उन लोगोंसे रहित तथा सुनसान था ॥ ९ ॥

भरत—तो फिर वे चले कहाँ गये, कुछ खबर है ?

सुमन्त्र—वनवासी वानरोंका किष्किन्धा नामक एक स्थान है । सुना है—वहीं चले गये ।

भरत—वानरोंको पुरुष परिचय नहीं होता । कष्टसे रहते होंगे ।

सुमन्त्र—पशु-पक्षी भी उपकार मानते हैं ।

भरतः--तात ! कथमिव ?

सुमन्त्रः--सुग्रीवो भ्रंशितो राज्याद् भ्रात्रा ज्येष्ठेन वालिना ।
हृतदारो वसञ्छैले तुल्यदुःखेन मोक्षितः ॥ १० ॥

भरतः--तात ! कथं तुल्यदुःखेन नाम ?

सुमन्त्रः--(स्वगतम्) हन्त ! सर्वमुक्तमेव मया । (प्रकाशम्) कुमार । न खलु किञ्चित् । ऐश्वर्यभ्रंशतुल्यता ममाभिप्रेता !

भरतः--तात ! किं गूहसे ? स्वर्गं गतेन महाराजपादमूलेन शापितः स्याः, यदि न सत्यं ब्रूयाः ।

सुग्रीव इति । ज्येष्ठेन अग्रजन्मना भ्रात्रा वालिना राज्याद् भ्रंशितः अपहृत-राज्यलक्ष्मीकः हृतदारः स्वायत्तीकृतपत्नीकः शैले ऋष्यमूकाभिधाने पर्वते वसन् सुग्रीवः तुल्यं समानं दुःखं हृतदारत्वलक्षणं यस्य तेन रामेण मोक्षितः मोक्षं गमितः । बालिनं हत्वा तारानामस्त्रिया राज्येन च योजित इत्यर्थः । अत्र रामस्य सुग्रीवतुल्यदुःखतोक्त्या तस्यापीहाभ्यन्तरे भार्याऽपहृतेरुक्तम् ॥ १० ॥

सुमन्त्रोक्तं 'हृतदारो वसञ्छैले तुल्यदुःखेन मोक्षितः' इति वचः श्रुत्वा साशङ्को भरतस्तं पृच्छति--तातेति । तुल्यदुःखेन समानकष्टेन इत्याहेति ।

सुमन्त्रः स्वोक्तिमनुचितां मन्यमानो मनसि विचारयति--हन्तेति । हन्तेति खेदे । तुल्यदुःखेनेत्यादि कथितवता मया सर्वमुक्तप्रायमिति नोचितं कृतमिति पुनस्तदन्यथा समर्थयन्नाह--कुमारेत्यादिना । ऐश्वर्यतुल्यभ्रंशता राज्यसम्पदो द्वयोर्भ्रष्टतया तुल्यतेति मत्कथनस्याशय इति ।

स्ववाक्यमन्यथाकृत्य समर्थितवन्तं सुमन्त्रं भरतस्तथ्यभाषणायोपायान्तरशून्यतया पितृशपथं दत्त्वा पृच्छति तातेत्यादि । गूहसे गोपयसि । स्वर्गं गतेन मृतेन, महाराज

भरत—तात, सो कैसे ?

सुमन्त्र—सुग्रीवको उसीके बड़े भाई बालिने राज्यच्युत कर दिया था और उसकी स्त्री भी छीन ली थी । उस सुग्रीवको तत्समानधर्मा रामने क्लेशमुक्त कर दिया है ॥ १० ॥

भरत—तात, 'सुग्रीवसमानधर्मा राम' इसका क्या आशय ?

सुमन्त्र—(स्वगत) हाँ ! मैंने सब बात खोल दी (प्रकट) कुछ नहीं, मेरा अभिप्राय राज्यच्युति की समानता है ।

भरत—तात, सच्ची बात क्यों छिपाते हो ? तुमको स्वर्गवासी महाराजकी शपथ है, यदि मिथ्या बताया ।

सुमन्त्रः—का गतिः । श्रूयतां,

वैरं मुनिजनस्यार्थे रक्षसा महता कृतम् ।
सीता मायामुपाश्रित्य रावणेन ततो हृता ॥ ११ ॥

भरतः—कथं हृतेति ? (मोहमुपगतः)

सुमन्त्रः—समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।

भरतः—(पुनः समाश्वस्य) भोः कष्टम् ।

पित्रा च बान्धवजनेन च विप्रयुक्तो दुःखं महत् समनुभूय वनप्रदेशे ।
भार्यावियोगमुपलभ्य पुनर्ममार्यो जीमूतचन्द्र इव खे प्रभया वियुक्तः ॥

पादमूलेन मत्पितृचरणेन शापितः शपथं लम्भितः ।

भरतेनैवं दशरथशपथं लम्भितः सुमन्त्रः सम्प्रति सीतापहरणगोपनस्याशक्यत्वात्सानुतापमाह—केति गतिरवस्था मम तव भरतस्य वेति शेषः ।

वैरमिति—मुनिजनस्य ऋषिजनस्यार्थे कृते (रामेण) महता बलिना रक्षसा निशाचरेण रावणेनेत्यर्थः, वैरं विरोधः कृतम् । ततस्तस्माद्रावणेन दशाननेन मायां कपटम्, उपाश्रित्य सीता राघवकुलवधूर्मैथिली हृता चोरिता ॥ ११ ॥

सीताहरणमुपश्रुत्य भृशमाहतो भरत आह—कथमिति ।

पित्रेति—मम आर्यः रामः पित्रा बान्धवजनेन च विप्रयुक्तो दूरीकृतो वनप्रदेशे काननोद्देशे महत् दुस्सहं दुःखं क्लेशमनुभूय लब्ध्वा भार्यावियोगं सीताविप्रवासजन्यपत्नीविरहमुपलभ्य आसाद्य पुनः खे जीमूतचन्द्र इव मेघावृतशशीव प्रभया ज्योत्स्नया वियुक्तो जात इति शेषः। यथाऽऽकाशे वर्त्तमानस्य शशिनो मेघेनावरणे तत्प्रभा वियुज्य तं तापयति तथैव पित्रा बान्धवैश्च वियुज्य खेदमनुभवतो रामस्य सीताविरहो भूयः परितापकरो जात इति भावः । अत्रोपमाऽलङ्कारेण मेघावरणे चन्द्रस्य प्रभयेव

सुमन्त्र—लाचारी है। सुनिये—

मुनियोंकी रक्षाके कारण बलवान् राक्षसोंसे शत्रुता हो गयी थी । इसी कारण रावणने कपटवेष धारणकर सीताका हरण कर लिया ॥ ११ ॥

भरत—क्या सीता हर ली गई ! (मूर्च्छित होता है)

सुमन्त्र—धैर्य धरें, धैर्य धरें ।

भरत—(फिर संभलकर) हा शोक !

मेरे आर्य राम पिता तथा बान्धवों से बिछुड़े, वनों में दारुण दुःख सहे और अब भार्यावियोग प्राप्त कर गगनमण्डल में मेघावृत चन्द्रमाके समान प्रभाहीन हो गये ॥

भोः ! किमिदानीं करिष्ये ? भवतु, दृष्टम् ! अनुगच्छतु मां तातः !

सुमन्त्रः—यदाज्ञापयति कुमारः ।

(उभौ परिक्रामतः)

सुमन्त्रः—कुमार ! न खलु न खलु गन्तव्यम् । देवीनां चतुश्शालमिदम् ।

भरतः—अत्रैव मे कार्यम् । भोः ! क इह प्रतिहारे ?

(प्रविश्य)

प्रतिहारी—जयतु भर्तृदारकः । विजया खल्वहम् ।

जेदु भट्टिदारओ । विजआ खु अहं ।

भरतः—विजये ! ममागमनं निवेदयात्र भवत्यै ।

प्रतिहारी—कतमस्यै भट्टिन्यै निवेदयामि ?

कदमाए भट्टिणीए णिवेदेमि ?

भरतः—या मां राजानमिच्छति ।

रामस्य पुनः सम्भवति सीतया संयोगरूपं वस्तुव्यज्यते । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥१२॥

चतुश्शालम् गृहप्रकारभेदः । अन्योन्याभिमुखशालाचतुष्टयम् ।

राजानमिच्छति—कस्यै देव्यै त्वदागमनं निवेदयामीति प्रश्नस्य भरतेनेत्थमुत्तरणे मद्राज्यकामनाकमनर्थमुपस्थापितवतीति मया वक्तुं कैकेय्येव द्रष्टव्येति गूढो भावः ।

हाय ! अब क्या किया जाय ? अथवा सोच लिया, आप मेरे साथ आवें ।

सुमन्त्र—जो आज्ञा ?

(दोनों घूमते हैं)

सुमन्त्र—(भरतको अन्तःपुरकी ओर जाते देखकर) कुमार, मत जाइये, यह देवियोंका अन्तःपुर है ।

भरत—यहीं मुझे कार्य है । अरे, यहाँ द्वार पर कौन है ?

(प्रतिहारीका प्रवेश)

प्रतिहारी—कुमारकी जय हो । मैं हूँ विजया ।

भरत—विजया, माताजीको मेरे आनेकी सूचना दो ।

प्रतिहारी—कौन-सी महारानीजीको सूचना दूँ ।

भरत—जो मुझे राजा देखना चाहती हैं ।

प्रतिहारी—(आत्मगतम्) हं किन्नु खलु भवेत् ? (प्रकाशम्) भर्तः ! तथा !
हं किणु खु भवे ? भट्टा ! तह ।

(निष्क्रान्ता)

(ततः प्रविशति कैकेयी प्रतिहारी च)

कैकेयी—विजये ! मां प्रेक्षितुं भरत आगतः ?
विजए ! मं पेक्खिदुं भरदो आअदो ?

प्रतिहारी—भट्टिनि ! तथा भर्तृदारकस्य रामस्य सकाशात्
भट्टिणि ! तह । भट्टिदारअस्स रामस्स सआसादो
तातसुमन्त्र आगतः । तेन सह भर्तृदारको भरतो
तादसुमन्तो आअदो । तेन सह भट्टिदारओ भरदो
भट्टिनीं प्रेक्षितुमिच्छति किल ।
भट्टिणि पेक्खिदुं इच्छति किल ।

कैकेयी—(स्वगतम्) केन खलूद्घातेन मामुपालप्स्यते भरतः ?
केण खु उग्घादेण मं उवालम्भिस्सदि भरदो ?

प्रतिहारी—भट्टिनि ! किं प्रविशतु भर्तृदारकः ?
भट्टिणि ! किं पविसदु भट्टिदारओ ?

कैकेयी—गच्छ । प्रवेशयैनम् ।
गच्छ । पवेसेहि णं ।

प्रतिहारी—भट्टिनि ! तथा (परिक्रम्योपसृत्य) जयतु भर्तृदारकः ।
भट्टिणि ! तह जेदु भट्टिदारओ ।

उद्घातेन प्रस्तावेन । उपालप्स्यते धिक्करिष्यति ।

प्रतिहारी—(स्वगत) न जाने क्या बात हो ? (प्रकट) आपकी जो आज्ञा । (जाती है)

(बाद कैकेयी तथा प्रतिहारी का प्रवेश)

कैकेयी—विजया, क्या भरत मुझसे मिलने आया है ?

प्रतिहारी—रानीजी, जी हाँ । राजकुमार रामके पाससे सुमन्त्र लौट आये हैं । सम्भव है उनके साथ राजकुमार रानीजी से मिलना चाहते हों ।

कैकेयी—न जाने किस उपक्रमसे भरत मुझे उलहना दे ?

प्रतिहारी—रानीजी, क्या राजकुमार आवें ?

कैकेयी—जाओ भीतर बुला लाओ ।

प्रतिहारी—रानीजी जो आज्ञा । (चलकर तथा पास आकर) जय हो

प्रविशतु किल ।
पविसदु किल ।

भरतः—विजये, किं निवेदितम् ?

प्रतिहारी—आम् ।

भरतः—तेन हि प्रविशावः । (प्रविशतः)

कैकेयी—जात ! विजया मन्त्रयते—रामस्य सकाशात् सुमन्त्र आगत इति ।
जाद ! विअआ मन्तेदि—रामस्य सआसादो सुमन्तो आअद त्ति ।

भरतः—अतः परं प्रियं निवेदयाम्यत्रभवत्यै ।

कैकेयी—जात ! अपि कौसल्या सुमित्रा च शब्दयितव्ये ।
जाद ! अपि कोसल्ला सुमित्ता अ सद्दावइदव्वा ।

भरतः—न खलु ताभ्यां श्रोतव्यम् ।

कैकेयी—(आत्मगतम्) हं किन्नु खलु भवेद् ? (प्रकाशम्) भण जात !
हं किं णु हु भवे ? भणाहि जादे !

शब्दयितव्या आकारयितव्या, रामसकाशादागतजनातीतवृत्तान्तस्य तयापि श्रोतुमिष्यमाणत्वान्मातृभावेनौचित्याच्च । ताभ्याम् कौसल्यासुमित्राभ्याम् । भवत्या एव रामनिष्कासनपुण्योपचयशालितया तत्र रामदुःखगाथाश्रवणेऽधिकारो न तयोरिति भरतस्य सोपालम्भं तात्पर्यम् ।

राजकुमार की, आप भीतर चलें ।

भरत—विजया, क्या सूचना दे दी ?

प्रतिहारी—जी हाँ,

भरत—तो भीतर चलें ।

(दोनों भीतर जाते हैं)

कैकेयी—वत्स, विजया कहती है—रामके पाससे सुमन्त्र आये हैं ?

भरत—आपको इससे भी अधिक प्रिय बात सुनाता हूँ ।

कैकेयी—वत्स, तो क्या कौसल्या और सुमित्राको भी बुला लिया जाय ?

भरत—नहीं, उनके सुननेकी बात नहीं ।

कैकेयी—(स्वगत) हाय, न जाने, ऐसी कौन-सी बात है ? (प्रकट) सुनाओ बेटा ।

भरतः—श्रूयतां,

यः स्वराज्यं परित्यज्य त्वन्नियोगाद् वनं गतः।

तस्य भार्या हृता सीता पर्याप्तस्ते मनोरथः॥ १३॥

कैकेयी—हं !

भरतः—**हन्त भोः ? सत्त्वयुक्तानामिक्ष्वाकूणां मनस्विनाम्।**

वधूप्रधर्षणं प्राप्तं प्राप्यात्रभवतीं वधूम्॥ १४॥

कैकेयी—(आत्मगतम्) भवतु, इदानीं कालः कथयितुम्। (प्रकाशम्)

भोदु दाणि कालो कहेउं।

जात ! त्वं न जानासि महाराजस्य शापम्।

जाद ! तुवं ण जाणासि महाराअस्स सावं।

यः राज्यमिति—यः रामः त्वन्नियोगात् त्वत्प्रेरणावशात् स्वस्यात्मनो राज्यं परित्यज्य वनं गतस्तस्य भार्या सीता (रावणेन) हृता, (इति) ते तव मनोरथः पर्याप्तः अभिलाषः पूरितः। रामस्य वनवासे हेतुत्वं गतायास्तव तद्भार्याहरणवृत्तान्तोऽपि श्रोतुमिष्टः स्यादिति भरतस्य सोल्लुण्ठनं वचनम्॥ १३॥

'हम्' सीताहरणश्रवणे खेदप्रकाशकमव्ययपदमिदम्।

हन्तेति—अत्रभवतीम् पूजनीयाम्भवतीम् (विपरीतलक्षणया निन्दनीयाचरणां त्वाम्) वधूं प्राप्य वधूभावेन लब्ध्वा सत्त्वयुक्तानां पराक्रमशालिनां मनस्विनाम् मानवताम् (पूर्वं कदापि मानभङ्गावसरमीदृशमप्राप्तवताम्) इक्ष्वाकूणां तदाख्य वंशोद्भवानाम् वधूप्रधर्षणं स्त्रीहरणं प्राप्तमुपनतम्। अतो धिक् त्वामिति भावः॥

शापम् श्रवणस्य पित्रा प्रदत्तम्! रामस्य वनगमने सः शाप एव कारणं नाहमिति त्वत्कर्तृकं मदुपालम्भनं सर्वं त्वदज्ञानमूलकमित्याशयः।

भरत—सुनो—

जो राम तुम्हारी आज्ञा से राजपाट छोड़कर बन चला गया था, उसकी भार्या सीता (रावण द्वारा) हर ली गई है। अब तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हुआ॥१३॥

कैकेयी—अहो ?

भरत—हा शोक ? तुम जैसी बहू को पाकर महापराक्रमी और मानवाले इक्ष्वाकुवंश को बधूहरण के दिन भी देखने पड़े॥ १४॥

कैकेयी—(स्वगत) अच्छा, अब रहस्य कह देने का मौका आ गया। (प्रकट) वत्स, तुम महाराज के शाप की बात नहीं जानते।

भरत.—किं शप्तो महाराजः ?

कैकेयी—सुमन्त्र ! आचक्ष्व विस्तरेण ।

सुमन्त ! आअक्ख विस्थरेण ।

सुमन्त्रः—यदाज्ञापयति भवती । कुमार ! श्रूयताम्—पुरा मृगयां गतेन महाराजेन कस्मिंश्चित् सरसि कलशं पूरयमाणो वनगज-बृंहितानुकारिशब्दसमुत्पन्नवनगजशङ्कया शब्दवेधिना शरेण विपन्नचक्षुषो महर्षेश्चक्षुर्भूतो मुनितनयो हिंसितः ।

भरतः—हिंसित इति । शान्तं शान्तं पापम् । ततस्ततः ?

सुमन्त्रः—ततस्तमेवंगतं दृष्ट्वा,

तेनोक्तं रुदितस्यान्ते मुनिना सत्यभाषिणा ।
यथाहं भोस्त्वमप्येवं पुत्रशोकाद् विपत्स्यसे ॥१५॥ इति ।

मृगयाम् आखेटकम् । बृंहित करिगर्जितम् । तदनुकरोति सादृश्येनानुहरति भूतेन शब्देन हेतुभूतेन उत्पन्नो वनगजोऽयमिति शङ्काभ्रमः तया । शब्दवेधिना शब्दानुसारेण लक्ष्यमदृष्ट्वैव लक्ष्यवेधिना । विपन्नचक्षुषोऽन्धस्य महर्षेः ।

तेनोक्तमिति—सत्यं भाषितुं शीलं यस्य तेन अवितथवचनेन रुदितस्य रोदनस्यान्ते यथाऽहं पुत्रशोकाद् (विपद्ये) एवं त्वमपि विपत्स्यसे मरिष्यसि । इत्येवमुक्तम् अभिशप्तम् । तथा चात्र संवदति कालिदासः—'दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोकादन्ते वयस्यहमिवेति' ॥ १५ ॥

भरत—क्या महाराज को शाप था ?

कैकेयी—सुमन्त्र, विस्तारपूर्वक कह दो ।

सुमन्त्र—महारानी की जो आज्ञा । कुमार, सुनिये—महाराज एक समय शिकार को गये थे, उन्होंने अन्धमुनि के नयनरूप पुत्र श्रवण को वनगज के भ्रम से मार डाला, जब कि वह जलाशय में घड़ा भर रहा था, जिससे गड़गड़ाहट की धुन आती थी । महाराज ने उसे ही लक्ष्यकर शब्दवेधी बाण छोड़ दिया ।

भरत—मार दिया । महापाप ! इसके बाद क्या हुआ ?

सुमन्त्र—तब उस पुत्र को इस स्थिति में देखकर—

उस सत्यवचन अन्धमुनि ने खूब रो लेने के बाद महाराजको शाप दिया कि—राजन् , मेरी ही तरह तुम भी पुत्रशोक में तड़प-तड़प कर प्राण दोगे॥१५॥

भरतः—नन्विदं कष्टं नाम !

कैकेयी—जात ! एतन्निमित्तमपराधे मां निक्षिप्य पुत्रको रामो वनं
जाद ! एतण्णिमित्तं अवराहे मां णिक्खिविअ पुत्तओ रामो वणं

प्रेषितः, न खलु राज्यलोभेन। अपरिहरणीयो महर्षिशापः
पेसिदो, ण हु रज्जलोहेण । अपरिहरणीओ महरिसिसाओ

पुत्रविप्रवासं विना न भवति ।
पुत्तविप्पवासं विणा ण होइ ।

भरतः—अथ तुल्ये पुत्रविप्रवासे कथमहमरण्यं न प्रेषितः ?

कैकेयी—जात ! मातुलकुले वर्तमानस्य प्रकृतीभूतस्ते विप्रवासः ।
जात ! मादुलकुले वत्तमाणस्स पइदीहूदो दे विप्पवासो ।

भरतः—अथ चतुर्दश वर्षाणि किं कारणमवेक्षितानि ।

कैकेयी—जात ! चतुर्दश दिवसा इति वक्तुकामया पर्याकुलहृदयया
जाद ! चउद्दस दिअस त्ति वतुकामाए पय्याउलहिअआए

एतन्निमित्तम् मुनिशापश्चरितार्थः स्यादित्येतदर्थम् । माम् आत्मानम्, अपराधे निक्षिप्य अपराधिनी भूत्वा । रामवनप्रेषणे मुनिशापसार्थक्यकरणमेव कारणं न तु राज्यलोभ इति भावः ।

नन्वेवं पुत्रवियोगस्य राजमरणसाधनत्वेऽहमेव किमिति न वनं प्रेषित इत्यत्राह प्रकृतीति । प्रकृतीभूतः स्वाभाविकतामापन्नः, तव मातुलकुलवासस्य सार्वदिकतया राजमरणकारणत्वापगमाद्राम एव वनं गमित इत्यर्थः ।

अल्पकालिकेनापि पुत्रप्रवासेन राज्ञो मरणे सिद्धयति किमिति रामश्चतुर्दश-वर्षव्यापिवनवासक्लेशेन कदर्थित इति पृच्छति भरतः—अथेति ।

पर्याकुलहृदयया सम्भावितप्रियपुत्ररामवियोगाद् भ्रान्तचित्तया ।

भरत—यह कष्टकर कथा है ।

कैकेयी—इसीलिए मैंने अपनेको दोषी बनाकर बेटा रामको वन भेजा, राज्य के लोभसे नहीं । अवश्यंभावी महर्षिशाप पुत्रवियोगके बिना सफल कैसे होता ?

भरत—पुत्रवियोग तो तुल्य ही था, फिर मुझको ही क्यों न वन भेजा ?

कैकेयी—मातामह कुलमें रहनेके कारण तुम्हारा वियोग महाराजके लिए सह्य-सा हो रहा था ।

भरत—अच्छा तो फिर चौदह वर्षों की अवधि किस लिये लगा दी ?

कैकेयी—मैं तो चौदह दिन कहना चाहती थी, किन्तु मानसिक व्याकुलतासे चौदह वर्ष कहा गया ।

चतुर्दश वर्षाणीत्युक्तम् ।
चउद्दस वरिसाणि त्ति उत्तं ।

भरतः--अस्ति पाण्डित्यं सम्यग् विचारयितुम् । अथ विदितमेतद् गुरुजनस्य ?

सुमन्त्रः--कुमार ! वसिष्ठवामदेवप्रभृतीनामनुमतं विदितं च ।

भरतः--हन्त त्रैलोक्यसाक्षिणः खल्वेते । दिष्ट्यानपराद्धात्रभवती । अम्ब ! यद् भ्रातृस्नेहात् समुत्पन्नमन्युना मया दूषितात्रभवती, तत् सर्वं मर्षयितव्यम् । अम्ब ! अभिवादये ।

कैकेयी--जात ! का नाम माता पुत्रकस्यापराधं न मर्षयति ?
जात ! का णाम माता पुत्तअस्स अवराहं ण मरिसेदि ?
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । कोऽत्र दोषः ।
उट्ठेहि उट्ठेहि । को एत्थ दोसो ।

भरतः--अनुगृहीतोऽस्मि । आपृच्छाम्यत्रभवतीम् । अद्यैवाहमार्यस्य साहाय्यार्थं कृत्स्नं राजमण्डलमुद्योजयामि । अहमिदानीम्—
वेलामिमां मत्तगजान्धकारां करोमि सैन्यौघनिवेशनद्धाम् ।

अनुमतं सम्मतम्, न केवलं गुरुजनस्यैतत्सर्वं मदुक्तं विदितमात्रमपि तु सम्मतमपीति भावः ।

एवमवगतेन प्रकरणेन मातुर्निरपराधतां प्रतीदन्नाह-- हन्तेति । सुगमम् ।

वेलामिति--इमां वेलां समुद्रतटभूमिं मत्तगजान्धकारां मत्तन्मदवारिकरि-

---

भरत—इसीको कहते हैं बात मिला देने की (स्त्रियों की) चातुरी । तो क्या यह बात गुरुजनों को ज्ञात थी ?

सुमन्त्र—कुमार, वसिष्ठ, वामदेव आदि को यह ज्ञात तथा सम्मत थी ।

भरत—अहो भाग्य, ये लोग त्रैलोक्यसाक्षी हैं । भाग्यवश मेरी माँ बेकसूर है । माँ, मैंने भ्रातृस्नेह के कारण क्रुद्ध होकर जो तुम्हारा अपमान किया, उसे क्षमा करो ! माँ, मैं तेरे चरणों पर पड़ता हूँ ।

कैकेयी—बेटा, भला ऐसी कौन माता होगी जो अपने पुत्रका अपराध न क्षमा कर दे । उठो, बेटा, उठो, इसमें तुम्हारा अपराध ही क्या है ?

भरत—मैं तुम्हारा बड़ा अनुगृहीत हुआ । मुझे जाने की आज्ञा दो । आर्यकी सहायताके लिए मैं आज ही सम्पूर्ण राजमण्डलको सन्नद्ध करता हूँ । अभी मैं – इस सागरतटको अपने मतवाले हाथियोंसे अन्धकारमय बना दूँगा, तथा अपनी

बलैस्तरद्भिश्च नयामि तुल्यं ग्लानिं समुद्रं सह रावणेन ॥१६॥

अये शब्द इव । तूर्णं ज्ञायतां शब्दः ।

(प्रविश्य)

प्रतिहारी—जयतु कुमारः । इमं वृत्तान्तं श्रुत्वा ज्येष्ठभट्टिनी मोहं गता ।

जेदु कुमारो । इमं वुत्तन्तं सुणिअ जेट्ठभट्टिणी मोहं गआ ।

कैकेयी—हम् ।

भरतः—कथं मोहमुपगताम्बा ?

कैकेयी—एहि ! जात ! आर्यामाश्वासयिष्यावः ।

एहि ! जाद ! अय्यां अस्सासइस्सामो ।

भरतः—यदाज्ञापयत्यम्बा । (निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति षष्ठोऽङ्कः ।

पृतनयाऽप्रकाशाम् सैन्यौघस्य बलसमूहस्य निवेशैः शिविरैः नद्धाम् व्याप्तां च करोमि । अधुनैव मदीययुद्धवारणाः समुद्रतटमावृण्वन्तु सैन्यानि च तत्र शिविरेषु वसन्तु इत्यर्थः । तरद्भिः समुद्रं प्लवमानैः बलैः सैनिकैश्च रावणेन सह समुद्रं सागरम् तुल्यं समकालं ग्लानिन्नयामि, स्वाधीनं कृत्वा हर्षक्षयमाजं करोमीत्यर्थः । एतेन भरतस्य रावणेऽमर्षातिशयो व्यक्तः ? उपजातिर्वृत्तम् ॥ १६ ॥

इति मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रमिश्रकृते प्रतिमानाटक 'प्रकाशे' षष्ठोऽङ्कः ।

अनन्त सेनाके पड़ावसे भर दूँगा । समुद्र पार करती हुई मेरी सेना रावण के साथ ही समुद्र को भी ध्वस्त कर देगी ॥ १६ ॥

भरे, कुछ कोलाहल सा मालूम पड़ता है, जल्दी पता लगाओ, क्या बात है ?

(प्रतिहारी का प्रवेश).

प्रतिहारी—कुमारकी जय हो । इस दुःखद समाचारको सुनकर बड़ी रानी मूर्च्छित हो गई ।

कैकेयी—अहो ?

भरत—क्या माताजी मूर्च्छित हो गईं ।

कैकेयी—आओ बेटा, आर्याको धीरज बँधावें ।

भरत—जो माताजी की आज्ञा । (सबका प्रस्थान)

छठा अङ्क समाप्त

अथ सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति तापसः)

तापसः—नन्दिलक ! नन्दिलक !

(प्रविश्य)

नन्दिलकः—आर्य ! अयमस्मि ।

अय्य । अअं ह्मि ।

तापसः—नन्दिलक ! कुलपतिविज्ञापयति—एष खलु स्वदारापहारिणं त्रैलोक्यविद्रावण रावणं नाशयित्वा राक्षसगणविरुद्धवृत्तं गुणगणविभूषणं विभीषणमभिषिच्य देवदेवर्षिसिद्धविमलचारित्रां तत्रभवतीं सीतामादाय ऋक्षराक्षस-

---

अथ रावणं जितवतो रामस्य सीतया सह तपोवनं प्रति गमनम्, तत्र मातृसहितस्य भरतस्य समागमः, मिलितानां सर्वेषां पुनरयोध्यां प्रतिनिवर्त्तनमित्यादिकथावस्तु निवेश्य प्रबन्धमुपसंहर्त्तुं सप्तमाङ्कमारभते—ततः प्रविशतीति ।

कुलपतिः तपोवनाधिष्ठाता मुनिवरः । विज्ञापयति बोधयति ।

स्वदारापहारिणम् स्वस्य दाराणां पत्न्याः अपहारिणम् अपहर्त्तारम् , त्रयो लोका एव त्रैलोक्यम्, चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ् । तत् विद्रावयति भयद्रुतं करोतीति त्रैलोक्यविद्रावणस्तम् । गुणगणविभूषणं गुणानां दयादाक्षिण्यविवेकादीनां गणास्समूहास्ते विभूषणानि तदाश्रितत्वेन शोभाजनकानि यस्य तादृशः, अथवा गुणगणानां विभूषणम् अलङ्कर्त्तारम्, तमाश्रितवतां गुणगणानां शोभासमृद्धेः अभिषिच्य लङ्काराज्याभिषिक्तं कृत्वा । देवर्षिसिद्धविमलचारित्रां देवैर्ऋषिभिः प्रमाणभूतैः साक्षिभिः सिद्धं निश्चित्य प्रत्यायितं निष्कलङ्कतया विमलं शुद्धं चारित्रं शीलं यस्यास्ताम् । ऋक्ष-

---

(तपस्वी का प्रवेश)

तपस्वी—नन्दिलक, नन्दिलक,

(नन्दिलक का प्रवेश)

नन्दिलक—आर्य, यह आया ।

तपस्वी—नन्दिलक, कुलपति आदेश देते हैं कि अपनी स्त्री को हरकर ले जाने वाले तथा तीनों भुवनों को प्रताप से तबाह करनेवाले रावण का नाश कर, दुराचारी राक्षसों के प्रतिकूल आदर्शचरित्र विभीषण को लङ्काराज्य पर अभिषिक्त कर, ऋषियों के समक्ष परीक्षित निष्कलङ्क सीता को साथ लेकर, ऋक्षराज तथा

वानरमुख्यैः परिवृतः सम्प्राप्तस्तत्रभवान् शरद्विमलगगन-
चन्द्राभिरामो रामः। तदद्यास्मिन्नाश्रमपदेऽस्मद्विभवेन यत्
सङ्कल्पयितव्यम्, तत् सर्वं सज्जीक्रियतामिति।

नन्दिलकः—आर्य ! सर्वं सज्जीकृतम्। किन्तु,
अय्य ! सव्वं सज्जीकिदं। किन्तु,

तापसः—किमेतत् ?

नन्दिलकः—अत्र विभीषणसम्बन्धिनो राक्षसाः। तेषां भक्षणनिमित्तं
एत्थ विभीषणकेरआ रक्खसा। तेसं भक्खणणिमित्तं
कुलपतिः प्रमाणम्।
कुलवदी पमाणं।

तापसः—किमर्थम् ?

नन्दिलकः—ते खलु खादन्ति।
ते खु खज्जन्ति।

राक्षसवानरमुख्यैः ऋक्षमुख्या जाम्बवादयः, राक्षसमुख्या विभीषणादयः, वानर-मुख्याः सुग्रीवादयस्तैः। शरद्विमलचन्द्राभिरामः शरदि तदाख्यर्तुविशेषे विमलः निर्मलप्रकाशो यश्चन्द्रस्तद्वदभिरामो रमणीयदर्शनः। अस्मद्विभवेन आरण्यकसुलभेन। सङ्कल्पयितव्यं तत्स्वागतार्थमुपकल्पनीयम्।

किमेतत् 'किन्तु' इत्यग्रे किं भवता विवक्षितं तदुच्यतामिति भावः।

विभीषणसम्बन्धिनः तदुपचारकाः परिजनाः। राक्षसाः क्रव्यादाः। भक्षण-निमित्तम् भक्षणार्थे। कुलपतिः अरण्यवासिमुनिमुख्यः। प्रमाणं राक्षसभक्षणीयवस्तु-निर्णयप्रभुः।

वानराधीश के दलबलों के सहित निर्मल शरदिन्दुसदृश अभिराम राम यहीं आ रहे हैं। आज इस अरण्य में अरण्यसुलभ भोग वैभव के अनुसार उनका स्वागत करने के लिए जो अभीष्ट है, वह सब सज्जित करके रखा जाय।

नन्दिलक—सब ठीक कर लिया गया है। किन्तु···

तपस्वि—वह क्या ?

नन्दिलक—जहाँ विभीषण के साथी राक्षस भी आये हुए हैं, उनके भोजन के विषय में कुलपति ही जानें।

तपस्वी—क्यों ?

नन्दिलक—वे खाते हैं (नर) मांस।

तापसः—अलमलं सम्भ्रमेण । विभीषणविधेयाः खलु राक्षसाः ।

नन्दिलकः—नमो राक्षससज्जनाय । (निष्क्रान्तः)

णमो रक्खससज्जणाअ ।

तापसः—(विलोक्य) अये अत्रभवान् राघवः । य एषः—

जय नरवर ! जेयः स्याद् द्वितीयस्तवारि-
स्तव भवतु विधेया भूमिरेकातपत्रा ।
इति मुनिभिरनेकैः स्तूयमानः प्रसन्नैः
क्षितितलप्रवतीर्णो मानवेन्द्रो विमानात् ॥ १ ॥

जयतु भवान् जयतु । (निष्क्रान्तः)

(मिश्रविष्कम्भकः ।)

विभीषणविधेयाः तदधीनाः एतेनात्र तेषामनुपद्रावकत्वं बोधितम् ।

राक्षससज्जनाय राक्षसेषु मुख्याय सत्पुरुषाय ।

जयेति—नरवर पुरुषेषु श्रेष्ठ जय सर्वोत्कर्षेण वर्त्तस्व, द्वितीयः रावणापेक्षया परस्तव अरिर्जेयो जेतुमर्हः शक्त्या पराभवितुं योग्यः स्यात्, रावणस्य जितत्वाद् द्वितीयारिजयाशंसनम् । भूमिर्धरणी एकातपत्रा अप्रतिद्वन्द्वशासना तवैकस्य राज्ञः पालनेऽवस्थिता स्यादित्यन्वयः । इति एवं प्रकारेण प्रसन्नैः रावणवधसन्तुष्टैरनेकैर्भूरिभिः मुनिभिः सन्निकटवनवासिभिस्तपस्विभिः स्तुयमानः वन्द्यमानो मानवेन्द्रो मनुजेश्वरो रामो विमानात् पुष्पकाख्यात् व्योमयानात् रावणजयप्राप्तात् क्षितितलं धरणीमागमवतीर्णः अवरूढः ॥ १ ॥

तपस्वी—नहीं, नहीं, डरो मत, सब राक्षस विभीषण के वशवर्त्ती हैं ।

नन्दिलक—इस सज्जन राक्षस को नमस्कार ।

(प्रस्थान)

तपस्वी—(देखकर) अहा । ये हैं राघव, जो यह—

हे नरश्रेष्ठ, आपकी जय हो, आप अपने दूसरे शत्रुओंपर भी विजय प्राप्त करें, एकच्छत्र महीमण्डलपर आपका अधिकार हो, आनन्दित-मुनिजन उपर्युक्त प्रकार से अभिनन्दन कर रहे हैं और आप पुष्पक विमानसे पृथ्वी पर आ गये हैं ॥ १ ॥

आपकी जय हो । (प्रस्थान)

(ततः प्रविशति रामः)

रामः—भोः !

समुदितबलवीर्यं रावणं नाशयित्वा
जगति गुणसमग्रां प्राप्य सीतां विशुद्धाम् ।
वचनमपि गुरूणामन्तशः पूरयित्वा
मुनिजनवनवासं प्राप्तवानस्मि भूयः ॥ २ ॥

तापसीनामभिवादनार्थमभ्यन्तरं प्रविष्टा चिरायते खलु मैथिली । (विलोक्य) अये ! इयं वैदेही ।

सखीति सीतेति च जानकीति यथावयः स्निग्धतरं स्नुषेति ।

मिश्रविष्कम्भकः नीचमध्यमोभयविधपात्रप्रयोजितत्वात् सङ्कीर्णो विष्कम्भकः । तल्लक्षणमन्यत्रोक्तम् ।

समुदितेति—समुदितमेकत्राहृतम् बलवीर्यं सैन्यसाहसं यस्य तादृशम् (रामेण युद्धे त्रिलोकार्जितयशसः संशयतुलाऽऽरूढतामवगत्य सर्वमपि स्वं बलं साहसं च विन्ययुङ्क्त, तादृशमपि रामो जिगाय तमिति रामबलप्रशंसा बोध्या) रावणं नाशयित्वाऽऽमूलचूलं विनाश्य जगति गुणसमग्रां दारोचितगुणपरिपूर्णाम् विशुद्धाम् अग्निप्रवेशपरीक्षाप्रमाणितनिष्कलङ्कचरित्राम् प्राप्य पुनरासाद्य गुरूणां तातपादानाम् वचनम् आज्ञाम् 'वने वस समाश्चतुर्दश'इत्येवंलक्षणाम् अन्तशः अक्षरशः अन्तं यावत् पूरयित्वा परिपाल्य भूयः पुनरपि मुनिजनवनवासं मुनिजनाध्युषितवनवर्तिप्राचीनस्वनिवासदेशम् प्राप्तवानस्मि । एतेन रामस्य कृतकृत्यताजनितः प्रमोदो व्यज्यते । मालिनीवृत्तम् ॥ २ ॥

अभ्यन्तरम् उटजाभ्यन्तरम् । चिरायते विलम्बते ।

सखीति—सखीति तुल्यवयोभिः सीतेति जानकीति च वयसाऽधिकाभिः, वृद्धा-

---

(राम का प्रवेश)

राम—अहा !

अतुलबलपराक्रम रावणका संहार करके सर्वगुणसम्पन्ना और निष्कलङ्का सीता को प्राप्त कर और पिताजीकी आज्ञाका अन्त तक पूर्णरूपसे पालन कर मैं फिर अब उसी मुनिके आश्रममें आ गया हूँ ॥ २ ॥

मुनिपत्नियोंकी वन्दनाके लिए भीतर गई हुई सीताको बहुत विलम्ब हुआ जाता है, (देखकर) अरे यही तो सीता है ।

ऋषिपत्नियाँ इसके साथ मधुर वार्तालाप कर रही हैं और सभी इधर आ रही

तपस्विदारैर्जनकेन्द्रपुत्री सम्भाष्यमाणा समुपैति मन्दम् ॥ ३ ॥

(ततः प्रविशति सीता तापसी च)

तापसी—हला ! एष ते कुटुम्बिकः । उपसर्पैनम् । न शक्यं त्वामे-
हला ! एसो देव कुटुम्बिओं । उपसप्प णं । ण सक्कं तुमं ए-
काकिनीं प्रेक्षितुम् ।
आइणि पेक्खिदुं ।

सीता—हम् अद्याप्यविश्वसनीयमिव मे प्रतिभाति । (उपसृत्य)
हं अज्ज वि अविस्ससणीअं मं पडिभादि ।
जयत्वार्यपुत्रः ।
जेदु अय्यउत्तो ।

रामः—मैथिलि ! अपि जानासि, पूर्वाधिष्ठानमस्माकं जनस्थानमासीत् । अप्यत्र ज्ञायन्ते पुत्रकृतका वृक्षाः ।

मिश्र स्नुषेति तपस्विदारैर्मुनिपत्नीभिः स्निग्धतरमतिमधुरं सम्भाष्यमाणा व्याह्रियमाणा जनकेन्द्रपुत्री मन्दं शनैः शनैः समुपैति मामुपसर्पति ॥ ३ ॥

कुटुम्बिको भर्ता ।

एकाकिनीम् सहायान्तररहिताम् । तथाविधा भूत्वा त्वमपह्रियसे तेन त्वां तथाविधां कर्तुं नेच्छामि तेनोपसर्प प्रियपतिमिति भावः ।

अद्यापि प्रियसम्प्रयोगकालेऽपि । अविश्वसनीयं विश्वासानर्हम् , मन्दभागिन्याः प्रियप्राप्तिर्न संभविनीति धारणा चिरविरहकदर्थनया जनिता, तदाधारीकृत्येत्थमुच्यते ।

अपि जानासि स्मरसि किम् ? पुत्रकृतकाः पुत्रनिर्विशेषं परिवर्द्धितत्वात् कृत्रिमपुत्रकाः ।

हैं । अपनी अपनी अवस्थाके अनुसार कोई मुनिपत्नी सीताको 'सखी', कोई 'सीता', कोई 'जानकी' और कोई 'बहू' कहकर पुकारती है ॥

(सीता और तापसीका प्रवेश)

तापसी—सखी, ये हैं तुम्हारे पतिदेव, उनके पास जाओ । तुम्हें अकेली नहीं देख सकती हूँ ।

सीता—आज भी मुझे विश्वास नहीं होता । (समीप जाकर) जय हो आर्य पुत्र की ।

राम—मैथिली, क्या जानती हो कि पहले हम इस जनस्थान में रहा करते थे और पहचानती हो इन कृतकपुत्र वृक्षों को ?

सीता—जानामि जानामि। अवलोकितपत्रका उल्लोकयितव्या इदानीं संवृत्ताः।
जाणामि जाणामि। ओलोइअपत्तआ उल्लोअइदव्वा दाणिं संवुत्ता।

रामः—एवमेतत्। निम्नस्थलोत्पादको हि कालः। मैथिलि! अप्युपलभ्यतेऽस्य सप्तपर्णस्याधस्ताच्छुक्लवाससं भरतं दृष्ट्वा परित्रस्तं मृगयूथमासीत्।

सीता—आर्यपुत्र! दृढं खलु स्मरामि।
अय्यउत्त! दिढ़ खु सुमरामि।

रामः—अयं तु नस्तपसः साक्षिभूतो महाकच्छः। अत्रास्माभिरासीनैस्तातस्य निर्वापनक्रियां चिन्तयद्भिः काञ्चनपार्श्वो नाम मृगो दृष्टः।

अवलोकितपत्रकाः अतिबालतया द्वित्रपत्रा अत एव च अवक्षिप्तचक्षुषा दृष्टाः, (इदानीम्) उल्लोकयितव्याः सन्नतत्वादूर्ध्वनिक्षिप्तचक्षुषा द्रष्टव्याः। अत्युन्नतं हि वस्तु वीक्षितुं चक्षुरूर्ध्वं व्यापारणीयं भवतीति भावः।

निम्नस्थलोत्पादकः निम्नं च स्थलं च तयोरुत्पादकः निम्नोत्पादकः स्थलोत्पादकश्चेति। कश्चिद्धि देशः स्थलरूपः कालतो निम्नभावं भजते, कश्चिच्च निम्नरूपः स्थलतामापद्यत इत्याशयः। अप्युपलभ्यते स्मर्यते, परित्रस्तं भयकातरम्, मृगयूथं हरिणकुलम्। शुक्लवाससं भरत दृष्ट्वाऽनारण्यकोऽयमस्मानुपद्रवेदिति चिन्तया तेषां भीतिः।

महाकच्छः महान् जलाशयः, (जलप्रायं हि कच्छमाहुः)।

सीता—याद है, खूब याद है, जिन वृक्षों को नन्हें-नन्हें पत्तों वाली अवस्था में देखा था, अब वे आँखें ऊपर करके देखने योग्य हो गये हैं।

राम—बिलकुल ऐसी ही बात है, समय ही उत्थान-पतन का कारण है। मैथिली, याद है-इस सप्तपर्ण वृक्षके नीचे श्वेतवस्त्रधारी भरत को देखकर मृगगण भयभीत हो उठे थे?

सीता—आर्यपुत्र, खूब याद है!

राम—यह हमारे तप का साक्षी महासरोवर है, यहाँ बैठकर हमने पिताजी की श्राद्धक्रिया की चिन्ता करने के समय काञ्चनपार्श्व मृग को देखा था।

सीता—हम् आर्यपुत्र ! मा खलु मा खल्वेवं भणितुम् । (भीता वेपते) हं अय्यउत्त । मा खु मा खु एवं भणिदुं ।

रामः—अलमलं सम्भ्रमेण । अतिक्रान्तः खल्वेष कालः । (दिशो विलोक्य) अये कुतो नु,

रेणुः समुत्पतति लोध्रसमानगौरः
सम्प्रावृणोति च दिशः पवनावधूतः ।
शङ्खध्वनिश्च पटहस्वनघोरनादैः
सम्मूर्च्छितो वनमिदं नगरीकरोति ॥ ४ ॥

(प्रविश्य)

लक्ष्मणः—जयत्वार्यः आर्य !

'मा खलु' इत्यादि । अत्र प्रसङ्गे काञ्चनपार्श्वाभिधानस्मरणेन रावणकृतापहारस्मरणात्सीताया भयमिति तच्चर्चां प्रतिषेधति ।

अतिक्रान्तः व्यतीतः, तादृशदुरदृष्टस्यावसितत्वात् । सैन्यैः परिवारेण च सहितस्य भरतस्यागमनात् समुद्भूतं रजो दूरात् पश्यन् तदुत्पत्तिकारणापरिज्ञानादाह—अये कुतो न्विति ।

रेणुरिति—लोध्रसमानगौरः लोध्रपुष्पतुल्यगौरवर्णयुतः रेणुः समुत्पतति भुव उत्तिष्ठति, (स च रेणुः पवनेन वायुनाऽवधूतः प्रसारितः दिशः सम्प्रावृणोति समाच्छादयति । पटहस्वनैः घोरनादैः वीरगर्जितैश्च सम्मूर्च्छितः सम्यग्वर्द्धितः शङ्खध्वनिश्च इदं वनं नगरीकरोति नगरभावं नयति । किन्निमित्तमिदं सर्वासु दिशासु प्रसरति शङ्खध्वनिर्विविधप्रकारका वीरनादाश्च जायमाना वनस्य ग्रामतामर्यादशान्तिमुत्पादयन्तीति भावः । स्वप्नवासवदत्तेऽप्येतादृश्युक्तिरस्य कवेः 'कोऽयं भो निभृतं तपोवनमिदं ग्रामीकरोत्याज्ञया' इति । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ४ ॥

सीता—आर्यपुत्र, न, न, अब इस प्रसङ्ग को मत छेड़िये । (डर जाती है)

राम—डरो मत, अब वे दिन बीत गये । (चारों ओर देखकर) अरे कहाँ से-यह लोध्रपुष्पसदृश धवल धूल उड़ती आ रही है, जो वायुवेग से सकल दिशाओं को आच्छादित करती आ रही है । यह शङ्खध्वनि, वाजे तथा बहादुरोंके गर्जन से उपबृंहित होकर इस शांत तपोवन को नगर का रूप दे रहे हैं ॥ ४ ॥

(लक्ष्मण का प्रवेश)

लक्ष्मण—जय हो आर्य की । आर्य,

अयं सैन्येन महता त्वद्दर्शनसमुत्सुकः ।
मातृभिः सह सम्प्राप्तो भरतो भ्रातृवत्सलः ॥ ५ ॥

रामः—वत्स लक्ष्मण ! किमेवं भरतः प्राप्तः ?

लक्ष्मणः—आर्य ! अथ किम् ।

रामः—मैथिलि ! श्वश्रूजनपुरोगं भरतमवलोकयितुं विशालीक्रियतां ते चक्षुः ।

सीता—आर्यपुत्र ! एष्टव्ये काले भरत आगतः ।
अय्यउत्त ! इच्छिदव्व काले भरदो आअदो ।

(तत प्रविशति भरतः समातृकः)

भरतः—तैस्तैः प्रवृद्धविषयैर्विषमैर्विमुक्तं
मेघैर्विमुक्तममलं शरदीव सोमम् ।

अयमिति—अयं भरतस्त्वद्दर्शनसमुत्सुकस्त्वदवलोकनार्थमुत्कण्ठितः महता सैन्येन भ्रातृभिश्च सह सम्प्राप्त इहागतः । तस्येहागमनकारणमाह भ्रातृवत्सल इति ।

श्वश्रूजनपुरोगम् श्वश्रूजनपुरस्सरम् । विशालीक्रियताम् दीर्घीक्रियताम् । अतिप्रियं हि वस्तु विशालाभ्यां दृग्भ्यां द्रष्टुमिष्यते, तथा च प्रयुक्तं कालिदासेन—'विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः' इति । पण्डितराजेनापि—'विशालाभ्यामाभ्यां किमिव नयनाभ्यामिह फलं, न याभ्यामालीढा परमरमणीया तव तनुः ।' इति ।

एष्टव्ये—अभीष्टे ।

तैस्तैरिति—अद्य तुष्टहृदयः प्रसन्नमनाः स्वजनानुबद्धः स्वजनानुयतः अहम् शरदि मेघापगमे मेघैः मुक्तम् अपगतावरणम् अमलं दीप्तिशालिनम् सोमं चन्द्रमस-

---

यह देखिये, आपके दर्शनों के लिए लालायित, भ्रातृवत्सल भरत माताओं को साथ लेकर बड़ी भारी सेना से अन्वित यहीं आ गये ॥ ५ ॥

राम—लक्ष्मण, क्या ऐसी बात ? भरत आ गये ?

लक्ष्मण—आर्य, और क्या ?

राम—मैथिली, भरत के साथ तुम्हारी सासें आ रही हैं उनके दर्शन के लिए आँखों को विशाल बना लो ।

सीता—आर्यपुत्र, ऐन मौके पर भरत आ गये ।

(माताओं के साथ भरत का प्रवेश)

राम—मेघनिर्मुक्त शरत्कालिक चन्द्रमा के समान नाना प्रकार के संकटोंसे

आर्यासहायमहमद्य गुरुं दिदृक्षुः
प्राप्तोऽस्मि तुष्टहृदयः स्वजनानुबद्धः ॥ ६ ॥

रामः—अम्बाः ! अभिवादये।

सर्वाः—जात ! चिरं जीव। दिष्टया वर्धामहे अवसितप्रतिज्ञं त्वां कुशलिनं सह वध्वा प्रेक्ष्य।
जाद ! चिरं जीव। दिट्ठिआ वड्ढामो अवसिदपडिण्णं तुमं कुसलिणं सह बहुए पेक्खिअ।

रामः—अनुगृहीतोऽस्मि।

लक्ष्मणः—अम्बाः ! अभिवादये।

सर्वाः—जात ! चिरं जीव।
जाद ! चिरं जीव।

लक्ष्मणः—अनुगृहीतोऽस्मि।

सीता—आर्याः ! वन्दे।
अय्या ! वन्दामि।

मिव तैस्तैर्वाचापि प्रकाशयितुमशक्यैरयोग्यैश्च प्रवृद्धविषयैः नानाप्रकारैः विषमैः सङ्कटैः विमुक्तम् आर्यासहायम् सीतासनाथवामभागम् गुरुम् पितृतुल्यम् पूजनीयम् दिदृक्षुः द्रष्टुमुत्सुकः प्राप्तोऽस्मि। सङ्कटमुक्तस्य रामस्य मेघनिर्मुक्तचन्द्रसादृश्यवर्णनादुपमालङ्कारः, तथा चोपमया यथा चन्द्रेण जगदाह्लाद्यते तथा रामेणापि भुवनं स्वगुणैः प्रसादं प्रापयिष्यत इति वस्तु व्यज्यते। वृत्तमनुपदोक्तम् ॥ ६ ॥

अवसितप्रतिज्ञम् पूर्णप्रतिज्ञम्, नियतसमयावधिवनवासनिश्चयोऽत्र प्रतिज्ञा।

उत्तीर्ण तथा सीता सहित अपने गुरुवर के दर्शनार्थ मैं अतिप्रसन्न हृदय से आत्मीयजनों के साथ यहाँ आया हूँ ॥ ६ ॥

राम—पूज्य माताओं को प्रणाम।

सब—प्रियपुत्र, चिरञ्जीव हो। हमारे धन्यभाग्य, जो हम चौदह वर्षों के अनन्तर सीता सहित तुमको सानन्द देखती हैं।

राम—बड़ी कृपा।

लक्ष्मण—माताओं को प्रणाम।

सब—चिरञ्जीवी रहो।

लक्ष्मण—अनुगृहीत हूँ।

सीता—पूज्य जनों को प्रणाम।

सर्वाः—वत्से ! चिरमङ्गला भव ।

वच्छ ! चिरमङ्गला होहि ।

सीता—अनुगृहीतास्मि ।

अणुग्गाहिदम्हि ।

भरतः—आर्य ! अभिवादये, भरतोऽहमस्मि ।

रामः—एह्येहि वत्स ! इक्ष्वाकुकुमार ! स्वस्ति, आयुष्मान् भव ।

वक्षः प्रसारय कवाटपुटप्रमाणमालिङ्ग मां सुविपुलेन भुजद्वयेन ।
उन्नामयाननमिदं शरदिन्दुकल्पं प्रह्लादय व्यसनदग्धमिदं शरीरम् ।७।

भरतः—अनुगृहीतोऽस्मि । आर्ये ! अभिवादये भरतोऽहमस्मि ।

सीता—आर्यपुत्रेण चिरसञ्चारी भव ।

अय्यउत्तेण चिरसञ्चारी होहि ।

भरतः—अनुगृहीतोऽस्मि । आर्य ! अभिवादये ।

लक्ष्मणः—एह्येहि वत्स ! दीर्घायुर्भव । परिष्वजस्व गाढम् । (आलिङ्गति)

भरतः—अनुगृहीतोऽस्मि । आर्य ! प्रतिगृह्यतां राज्यभारः ।

चिरमङ्गला—अनल्पकालस्थायिसौभाग्या ।

वक्षः प्रसारयेति—व्याख्यातमिदं पद्यं पूर्वं (पृ० १११) चतुर्थेऽङ्के ।।७।।

सब—बेटा, सदा सुहागिन रहो ।

सीता—कृपा से अनुगृहीत हुई ।

भरत—आर्य, मैं भरत आपको अभिवादन करता हूँ ।

राम—आओ, आओ, इक्ष्वाकुकुमार, तुम्हारा कल्याण हो, चिरजीवी रहो ।

किवाड़की चौखटके समान चौड़ी अपनी छाती फैलाओ, अपने विशाल बाहुओंसे मुझसे मिलो । शरद्‌ऋतुके चाँदसे तुलित अपने मुखड़ेको ऊपर उठाओ और शोकसन्तप्त मेरे हृदयको आह्लादित करो ॥ ७ ॥

भरत—मैं आपका अतिअनुगृहीत हूँ । आर्ये, मैं भरत आपको अभिवादन करता हूँ ।

सीता—आर्यपुत्रके चिरसङ्गी बनो ।

भरत—बड़ी कृपा । आर्य, नमस्कार ।

लक्ष्मण—आओ अओ, चिरजीवी रहो, जी भरकर गले लगो । (भेंटता है)

भरत—बड़ी कृपा । आर्य, अपना राज्यभार संभालिए ।

रामः---वत्स ! कथमिव ?

कैकेयी---जात ! चिराभिलषितः खल्वेष मनोरथः ।

जाद ! चिराहिलसिदो खु एसो मणोरहो ।

(ततः प्रविशति शत्रुघ्नः)

शत्रुघ्नः---**विविधैर्व्यसनैः क्लिष्टमक्लिष्टगुणतेजसम् ।**
द्रष्टुं मे त्वरते बुद्धी रावणान्तकरं गुरुम् ॥ ८ ॥

(उपगम्य) आर्य ! शत्रुघ्नोऽहमभिवादये ।

रामः---एह्येहि वत्स ! स्वस्ति, आयुष्मान् भव ।

शत्रुघ्नः---अनुगृहीतोऽस्मि । आर्ये ! अभिवादये ।

सीता---वत्स ! चिरंजीव ।

वच्छ ! चिरं जीव ।

शत्रुघ्नः---अनुगृहीतोऽस्मि । आर्य ! अभिवादये ।

लक्ष्मणः---स्वस्ति, आयुष्मान् भव ।

चिराभिलषितः सुदीर्घकालवाञ्छितः । एषः त्वत्कर्तृकराज्यभारग्रहणरूपः ।

विविधैरिति---विविधैर्नानाप्रकारकैः व्यसनैः सङ्कटैः क्लिष्टं सम्पीडितम् (तथापि) अक्लिष्टगुणतेजसम् अनुपहतगुणप्रभावम् रावणान्तकरम्, तं गुरुम् पूज्यमार्यरामं द्रष्टुं मे बुद्धिर्मनस्त्वरते शीघ्रतां करोति बलादुत्कण्ठत इत्यर्थः ॥८॥

राम---क्यों ?

कैकेयी---बेटा, यह हमलोगों का चिरमनोरथ है ।

(शत्रुघ्न का प्रवेश)

शत्रुघ्न---नाना प्रकारके संकटोंसे सताये जानेपर भी अतिगुणी तथा तेजस्वी और रावणसंहारकारी अपने गुरुदेवके दर्शनार्थ मेरा मन उतावला हो रहा है ॥

(पास जाकर) मैं शत्रुघ्न आपको अभिवादन करता हूँ ।

राम---आओ आओ वत्स, तुम्हारा कल्याण हो, तुम चिरायु होवो ।

शत्रुघ्न---बड़ी कृपा । आर्ये, प्रणाम ।

सीता---तुम्हारा कल्याण हो ।

शत्रुघ्न---बड़ा अनुग्रह, आर्य प्रणाम ।

लक्ष्मण---तुम्हारा चिरजीवन मङ्गलमय हो ।

शत्रुघ्नः—अनुगृहीतोऽस्मि । आर्य ! एतौ वसिष्ठवामदेवौ सह प्रकृतिभिरभिषेकं पुरस्कृत्य त्वद्दर्शनमभिलषतः ।

तीर्थोदकेन मुनिभिः स्वयमाहृतेन
नानानदीनदगतेन तव प्रसादात् ।
इच्छन्ति ते मुनिगणाः प्रथमाभिषिक्तं
द्रष्टुं मुखं सलिलसिक्तमिवारविन्दम् ॥ ६ ॥

कैकेयी—गच्छ जात ! अभिलषाभिषेकम् ।

गच्छ जाद ! अभिलसेहि अभिसेअं ।

रामः—यदाज्ञापयत्यम्बा । (निष्क्रान्तः)

(नेपथ्ये)

जयतु भवान् । जयतु स्वामी । जयतु महाराजः । जयतु देवः । जयतु भद्रमुखः । जयत्वार्यः । जयतु रावणान्तकः ।

एतौ सन्निहितौ, वसिष्ठवामदेवौ कुलगुरुपुरोहितौ । प्रकृतिभिः प्रजाभिः । अभिषेकं पुरस्कृत्य अभिषेचनमुद्दिश्य ।

तीर्थोदकेनेति—मुनिगणाः ऋषयस्तव प्रसादात् रावणवधकृतसुलभसञ्चारलब्धान्तरानन्दात् स्वयमाहृतेन नानानदीनदगतेन भिन्नभिन्नपुण्यसलिलधारासम्बन्धिना तीर्थोदकेन प्रथमाभिषिक्तं प्राक्कृताभिषेकं तव मुखं सलिलसिक्तं जलाभ्युक्षितं कमलमिव द्रष्टुमिच्छन्ति । अचिराभिषिक्तस्य जलकणशालिवदनं जलसिक्तपद्ममिवेत्युपमा । वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

शत्रुघ्न—मैं आपका आभारी हूँ । ये महर्षि वसिष्ठ और वामदेव, प्रजावर्ग तथा अमात्योंके साथ राज्याभिषेकके उद्देश्यसे आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

मुनिजन स्वयं जाकर छोटे-बड़े नदों और नदियोंसे तीर्थजल लाए हैं । उनकी इच्छा है कि कृपया आप पहले अभिषेक ग्रहण कर लें । उसके बाद अभिषेक जल से सिक्त आपके मुखको वे लोग जलसिक्त कमलकी तरह देखें ॥ ६ ॥

कैकेयी—जाओ बेटा, राज्याभिषेक स्वीकार करो ।

राम—माताजी की जो आज्ञा ।

(नेपथ्य में)

आपकी जय, स्वामीकी जय, महाराजाधिराजकी जय, देवकी जय, भद्रमुखकी जय, आर्यकी जय, रावणके संहारककी जय ।

कैकेयी—एते पुरोहिताः कञ्चुकिनः पुत्रकस्य मे विजयघोषं वर्ध-
एदे पुरोहिता कञ्चुइणो पुत्तअस्स मे विजअघोसं वड्ढ-
यन्त आशीर्भिः पूजयन्ति ।
अन्तो आसीहि पूजअन्ति ।

सुमित्रा—प्रकृतयः परिचारकाः सज्जनाश्च पुत्रकस्य मे विजयं
पइदीओ परिचारआ सज्जणा अ पुत्तअस्स मे विजअं
वर्धयन्ति ।
वड्ढअन्ति ।

(नेपथ्ये)

भो भो जनस्थानवासिनस्तपस्विनः ! शृण्वन्तु शृण्वन्तु भवन्तः ।

हत्वा रिपुप्रभवमप्रतिमं तमौघं
सूर्योऽन्धकारमिव शौर्यमयैर्मयूखैः ।
सीतामवाप्य सकलाशुभवर्जनीयां
रामो महीं जयति सर्वजनाभिरामः ॥ १० ॥

हत्वेति—अप्रतिमम् अतुलनीयं रिपोः शत्रोः प्रभव उत्पत्तिर्यस्य तम् तमसः सङ्कटस्य ओघं समूहं सूर्यः अन्धकारमिव शौर्यमयैः पराक्रमरूपैः मयूखैः किरणैः हत्वा विनाश्य सकलैः अशुभैरमङ्गलैर्वर्जनीयां रहितां सीतां प्राप्य सर्वजन भिरामः सकललोकप्रियः रामः महीं पृथ्वीं जयति स्वायत्तीकरोति । यथा—सूर्योऽशुभिस्तमस ओघं विनाश्य प्रकाशेन भुवं व्याप्नोति तथैव रामोऽपि शत्रुकृतान् क्लेशान् शौर्येणातिक्रम्य सीतां पुनरासाद्य तेजसा भुवं व्याप्नोति । उपमाऽत्र स्फुटा । तमस

कैकेयी—अहा, ये पूज्य पुरोहित, कञ्चुकी वगैरह मेरे पुत्रका जयघोष, आशीर्वाद तथा अभिनन्दन कर रहे हैं ।

सुमित्रा—अहा ! अमात्य, परिचारक तथा अन्य सज्जन वृन्द मेरे पुत्रकी जयाशंसा कर रहे हैं ।

(नेपथ्य में)

ओ जनस्थाननिवासी तपस्वियों, आप लोग सुन लें ।

जिस तरह सूर्य अपनी प्रखर किरणोंसे अन्धकारका नाश करता है, उसी तरह शत्रुसे फैलाए हुए अतुल तमःपटलको अपने पराक्रमसे नाशकर मङ्गलमयी सीताको प्राप्तकर नयनाभिराम रामने समूची पृथ्वीपर अधिकार कर लिया है ॥

कैकेयी—अम्महे ! पुत्रस्य मे विजयघोषणा वर्धते ।
अम्महे ! पुत्तस्स मे विजअघोषणा बढ्ढइ ।

(ततः प्रविशति कृताभिषेको रामः सपरिवारः)

रामः—(विलोक्याकाशे) भोस्तात !

स्वर्गेऽपि तुष्टिमुपगच्छ विमुञ्च दैन्यं
कर्म त्वयाभिलषितं मयि यत् तदेतत् ।
राजा किलास्मि भुवि सत्कृतभारवाही
धर्मेण लोकपरिरक्षणमभ्युपेतम् ॥ ११ ॥

भरतः—अधिगतनृपशब्दं धार्यमाणातपत्रं
विकसितकृतमौलिं तीर्थतोयाभिषिक्तम् ।

ओघमिति समासे सन्धिरपाणिनीयः । केचित्तु 'ये ये सान्तास्ते तेऽदन्ता' इत्यभिमानेनेदमित्याहुः ॥ १० ॥

स्वर्गेपीति—स्वर्गे अपि (लोके तु त्वं नालब्धास्तुष्टिम्) इदानीं दिव्यपि तुष्टिं मद्राज्याभिषेकजन्यमानन्दमुपगच्छ लभस्व, दैन्यं खेदं मनोरथापूर्त्तिकृतम् विमुञ्च जहीहि । त्वया मयि यत्कर्म राज्यारोहणरूपमभिलषितमिष्टमासीत् एतत सम्प्रति मत्कर्म राज्याभिषेकरूपमेतत् तत् । त्वयामीष्यमाणं मद्राज्याभिषेकरूपं कार्यमधुना सम्पन्नमिति स्वर्गस्थस्य तव प्रसादः खेदत्यागश्च प्राप्तावसर इति भावः । तदेवोपपादयति राजेति । भुवि सत्कृतभारवाही समाहृतराज्यरूपभारवाही राजा अस्मि, धर्मेण धर्मपूर्वकम् लोकपरिरक्षणम् (मया) अभ्युपेतम् अङ्गीकृतम् । किलेति वाक्यालङ्कारे ॥ ११ ॥

अधिगतेति—अधिगतः नृपशब्दः राजशब्दवाच्यता येन तम्, धार्यमाणमातपत्रं छत्रं यस्मिन् त ममालम्बितराजधार्यश्वेतातपत्रं विकसितकृतमौलिम् उन्न-

---

कैकेयी—अहा, मेरे पुत्रकी जयघोषणा बढ़ रही है ।

(कृताभिषेक रामका परिवारके साथ प्रवेश)

राम—(आकाशकी ओर देखकर) पितृदेव,

आप अब स्वर्गमें ही आनन्द प्राप्त करें और कष्ट भूल जाँय । आपने मेरा राज्याभिषेक करना चाहा था, वह अब पूरा हुआ । अब मैं पृथ्वीपर पुण्यभारका वहन करनेवाला राजा बन गया हूँ । मैंने न्यायपूर्वक प्रजापालनका उत्तरदायित्व उठा लिया है ॥ ११ ॥

भरत—आज अपने पूज्य भ्राता को देखनेसे मेरी आँखें नहीं थकतीं । उन्होंने

गुरुमधिगतलीलं वन्द्यमानं जनौघै-
र्नवशशिनमिवार्यं पश्यतो मे न तृप्तिः ॥ १२ ॥

शत्रुघ्नः—एतदार्याभिषेकेण कुलं मे नष्टकल्मषम् ।
पुनः प्रकाशतां याति सोमस्येवोदये जगत् ॥ १३ ॥

रामः—वत्स लक्ष्मण ! अधिगतराज्योऽहमस्मि !

लक्ष्मणः—दिष्ट्या भवान् वर्धते ।

(प्रविश्य)

काञ्चुकीयः—जयतु महाराजः । एष खलु तत्रभवान् विभीषणो विज्ञापयति—सुग्रीवनीलमैन्दजाम्बवद्धनूमत्प्रमुखाश्चातु-

---

मितमूर्द्धानम् तीर्थतोयाभिषिक्तं गुरुं पूज्यम् अधिगतलीलम् आसादितश्रीकम् जनौघैः लोकसमूहैर्वन्द्यमानं प्रणम्यमानम् नवशशिनं प्रत्यग्रोदितमिन्दुमिव आर्यं रामं पश्यतो विलोकयतो मे तृप्तिः सन्तोषो न । भवतीति शेषः । यथा सम्भृतशोकस्य लोकैः प्रणम्यमानस्याचिरोदितस्य चन्द्रमसो दर्शनेन चक्षुषी न तृप्यतस्तथैवार्यरामदर्शनान्ममापि चक्षुषी न तृप्यत इत्युपमा । मालिनीवृत्तम् ॥ १२ ॥

एतदार्येति—आर्यस्य पूज्यस्य रामस्याभिषेकेण राज्यारोहणेन नष्टं कल्मषं कलङ्को (न्यायप्राप्तज्येष्ठभ्रात्रभिषेकाभावावसरसमुत्थः) यस्य तदेतन्मे कुलं सोमस्य चन्द्रस्योदये जगदिव पुनः प्रकाशतां दीप्तिशालितां याति । स्पष्टमन्यत् ॥ १३ ॥

'महाराज' की पदवी पाई, राजच्छत्र ग्रहण किया, शिर पर प्रकाशमान मुकुट पहना, पावन तीर्थजलसे अभिषेक स्वीकार किया और राजगौरव पाया । चारों ओर प्रजाएँ उनका जयकार करती हैं, नये चाँदकी भाँति उनका अभिनन्दन किया जा रहा है ॥ १२ ॥

शत्रुघ्न—जिस प्रकार चन्द्रमाके उदयसे सारा संसार प्रकाशित होने लगता है, उसी प्रकार आर्यके राज्याभिषेकसे निष्कलङ्क मेरा यह रघुकुल फिरसे प्रकाशमान हो रहा है ॥ १३ ॥

राम—वत्स लक्ष्मण, अब मैंने राज्य पा लिया ।

लक्ष्मण—अहोभाग्य, आपको बधाई ।

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—जय हो महाराज की । यह लङ्काधिपति विभीषण निवेदन करते हैं,

गच्छन्तो विज्ञापयन्ति—'दिष्ट्या भवान् वर्धत' इति ।

रामः—'सहायानां प्रसादाद् वर्धत' इति कथ्यताम् ।

काञ्चुकीयः—यदाज्ञापयति महाराजः ।

कैकेयी—धन्या खल्वस्मि । इममभ्युदयमयोध्यायां प्रेक्षितुमिच्छामि ।

धण्णा खु म्हि । इदं अब्भुदअं अओज्जाअं पेक्खिदं, इच्छामि ।

रामः—द्रक्ष्यति भवती । (विलोक्य) अये ! प्रभाभिन्नमिदमखिलं सूर्यवत् प्रतिभाति । (विभाव्य) आः ज्ञातम् । सम्प्राप्तं पुष्पकं दिवि रावणस्य विमानम् । कृतसमयमिदं स्मृतमात्रमुपगच्छतीति । तत् सर्वैरारुह्यताम् ।

(सर्वे आरोहन्ति)

रामः—अद्यैव यास्यामि पुरीमयोध्यां
सम्बन्धिमित्रैरनुगम्यमानः ।

सूर्यवत् सूर्ययुक्तम्, अत्र सादृश्यार्थकवत्प्रत्ययो न, किन्तु आश्रयार्थो मतुवेव । कृतसमयं कृतसिद्धान्तम् । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इति कोशः ।

अद्यैवेति—सम्बन्धिमित्रैः सम्बन्धिभिर्भरतप्रभृतिभिर्मित्रैः सुग्रीवविभीषणादिभिश्च अनुगम्यमानोऽहम् अद्यैव अस्मिन्नेवाह्नि (विलम्बमकृत्वैव) अयोध्या तन्नामस्ववंशराजधानीं यास्यामि प्राप्स्यामीति मात्राज्ञां पिपालयिषो रामस्योक्तिः । तदेव

सुग्रीव, नील, मैन्द, जाम्बवान् तथा हनुमान् वगैरह आपके अनुचर निवेदन करते हैं—अहोभाग्य, आपको बधाई ।

राम—'सहायकों की कृपा से सब विजय है' ऐसा कह दो ।

कञ्चुकी—जो आज्ञा ।

कैकेयी–मैं धन्य हूँ । इस अभ्युदयको मैं अब अयोध्यामें भी देखना चाहती हूँ ।

राम—आप वहाँ भी देखेंगी । (देखकर) प्रभापुञ्जसे यह समस्त कानन सूर्यकी भाँति चमक रहा है । (विचार कर) अच्छा, समझ गया, आकाश में रावण वाला पुष्पक विमान आ रहा है । स्मरणमात्र करनेसे वह ठीक समय पर उपस्थित हो जाता है । अब आप लोग इसपर चढ़िये ।

(सब सवार होते हैं)

राम—मैं आज ही अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ मित्रोंको लेकर अयोध्या जा रहा हूँ ।

लक्ष्मणः—अद्यैव पश्यन्तु च नागरास्त्वां
चन्द्रं सनक्षत्रमिवोदयस्थम् ॥ १४ ॥

(भरतवाक्यम्)

तथा रामश्च जानक्या बन्धुभिश्च समागतः ।
तथा लक्ष्म्या समायुक्तो राजा भूमिं प्रशास्तु नः ॥ १५ ॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति सप्तमोऽङ्कः ।

लक्ष्मणः समर्थयति—अद्यैवेति । नागराः अयोध्यानगरनिवासिनः च त्वाम् उदयस्थम् उदयाचलशिखरारूढम् अभ्युदयप्रवणं च सनक्षत्रं नक्षत्रगणपरिवृतं सुहृद्वन्धुवृत्तं च चन्द्रमिव अद्यैव पश्यन्तु । चन्द्रसाम्यादुपमाऽलङ्कारः । इन्द्रवज्रावृत्तम् ॥ १४ ॥

भरतवाक्यम्—भरतस्य नटस्य वाक्यं नान्दीकाभ्युदयाशासनरूपम् । एष हि समुदाचारो यत्प्रयोगान्ते भरतेन सामाजिकतत्प्रमुखादीनां शुभाशंसनमाचर्यते । सा चेयं प्रशस्तिः निर्वहणसन्धिचरमाङ्गम् ।

यथा रामश्चेति—रामो यथा जानक्या बन्धुभिश्च समागतः तथा लक्ष्म्या समायुक्तो नोऽस्माकं राजा भूमिं धरणीं प्रशास्तु परिपालयतु ॥ १५ ॥

'निष्क्रान्ताः सर्वे' इति समाप्तिं सप्तमाङ्कस्य सूचयति ।

शरदि रामवियदंबरलोचनमानमितायां, मासि तपसि नागाधिनाथशुभतिथौ सितायाम् ।
प्रतिमानाटकमिदं 'प्रकाशं' युतं सम्पन्नं, क्षन्तव्यं कृपया विद्वद्भिरिहानुपपन्नम् ॥१॥

इति मुजफ्फरपुरमण्डलान्तर्वर्ति 'पकडी' संज्ञकग्रामवासिना मुजफ्फरपुरस्थधर्मसमाज-संस्कृतमहाविद्यालये वेदान्तदर्शनाध्यापकेन व्याकरणवेदान्तसाहित्याचार्याद्युपाधिना मैथिलपण्डितश्रीरामचन्द्रशर्मणा प्रणीतः प्रतिमानाटक 'प्रकाशः' सम्पूर्णः ॥

लक्ष्मण—और आज ही सभी नगरवासी उदयाचलगत नक्षत्रसहित चन्द्रमा की भाँति आपके दर्शन प्राप्त करें ॥ १४ ॥

(भरत वाक्य)

जिस प्रकार भगवान् राम जानकी तथा बन्धुओंके साथ राज्य करते रहे, उसी तरह राजलक्ष्मी से युक्त हमारे महाराज (राजसिंह) पृथ्वीका पालन करें ॥ १५ ॥

(सबका प्रस्थान)

प्रतिमानाटक समाप्त

परिशिष्टम्

नोट्स

१ नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः (पृ. १)

इस नाटक में और भास के अन्य कतिपय नाटकों में भी सर्वप्रथम लिखा मिलता है—नान्द्यन्ते इत्यादि । परन्तु अन्य कविकृत नाटकों में पहले यथायोग्य एक या तदधिक श्लोकों में मङ्गलाचरण निबद्ध करके तब लिखा जाता है—नान्द्यन्ते इति० । यह परिपाटी भास के समय में नहीं थी, भास के मतानुसार सब नट मिल कर पहले नान्दी कर लेते थे, जो परदे के पीछे ही कर ली जाती थी, बाद में केवल सूत्रधार प्रवेश करता था, जो कथाज्ञापक श्लोक कहता था । यही क्रम भास के नाटकों में सर्वत्र पाया जाता है । इसीलिए नान्दी का आधुनिक लक्षण इनके मङ्गल श्लोकों में नहीं पाया जाता, क्योंकि इनकी नान्दी तो ग्रन्थ में निबद्ध होती ही नहीं, वह तो पहले ही कर ली जाती है ।

२ प्रतिहाररक्षी (पृ. ४)

यह शब्द स्त्रीलिङ्ग है, 'प्रतिहार रक्षति' इस विग्रह में 'कर्मण्यण्' इस सूत्र से अण् प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग होने से टिड्ढाणञ् ङीप् । णिनि प्रत्यय करने पर तो प्रतिहाररक्षिणी यह रूप होगा, अतः अण् ही करना चाहिये ।

३ स्थापना (पृ. ५)

इस स्थापना शब्द से प्रस्तावना विवक्षित है । नाट्यशास्त्र में लिखा है—'प्रसाद्य रङ्गं विधिवत्कवेर्नाम च कीर्त्तयेत् । प्रस्तावनां ततः कुर्यात्काव्यप्रख्यापनाश्रयाम्' ।। इसके अनुसार प्रस्तावना में काव्य की प्रशंसा और उससे पूर्व कविनामनिर्देश हो जाना चाहिये, परन्तु इस प्रथा को भास आदि प्राचीन नाटककारों ने मान्यता नहीं दी थी । उस पद्धति को कालिदास ने प्रवृत्त किया, तदनुसार परवर्त्ती कवियों ने भी आचरण किया । पीछे चलकर वह लीक-सी बन गई ।

भास के समय तक स्थापना शब्द से जो प्रस्तावना समझी जाती रही उसमें केवल कथावतारणा ही लक्ष्य होती थी, कवि का नामादि उसमें नहीं रहा करता था। इसी से तो नाटकों के मिलने पर भी उनके कर्त्ता के विषय में अन्धकार ही रहा करता था। भासनाटकचक्रों के लिए जो इतना विवाद चला उसका भी सम्भवतः यही कारण था। अस्तु, कारण जो भी हो, स्थिति यही थी।

४ सङ्कल्पितम् (पृ. ६)

सङ्कल्प शब्द का अर्थ इच्छा है। एतदनुसार सङ्कल्पित शब्द का अर्थ होगा—चिन्तित, इष्ट मनोरथ विषय। इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कालिदास ने किया भी है, जैसे—'सङ्कल्पितं प्रथममेव मया त्वदर्थे भर्तारमात्मसदृशं स्वगुणैर्गतासि'। भास ने यहाँ 'सङ्कल्पित' शब्द का 'कल्पित' (जुटाया गया) अर्थ किया है, जिसे अवाचकत्व दोषाक्रान्त कहा जा सकता है, परन्तु मेरी सम्मति में भास के समय में भाषा गढ़ी जा रही थी, प्रयोग को नियत रूप नहीं प्राप्त हो सका था, अतः उनका तादृश प्रयोग निन्दनीय नहीं माना जाना चाहिये।

५ परिशङ्कितवर्णा (पृ. १०)

परिशङ्कितवर्णा का अर्थ यहाँ 'डरी हुई' (शङ्कितों के समान चेहरा वाली) ही विवक्षित है 'भयभीताकारसदृशाकारा। परिशङ्कितायाः वर्ण इव वर्णो यस्याः सा तादृशी' इसी विग्रह से यह अर्थ निकल सकता है, परन्तु इस विग्रह में सभी पदों की प्रथमान्तता सम्पन्न करने के लिए परिशङ्कित शब्द में 'परिशङ्कित-सम्बन्धिवर्णं' इस अर्थ को लक्षणा करनी होगी, उसके बिना काम ही नहीं चलेगा। यह अप्रचलित प्रयोग होगा।

६ प्रहृषितानि (पृ. १३)

यहाँ पर 'हृषेर्लोमसु' इस सूत्र से इट् हुआ है। हृष् धातु दो हैं—'हृषु अलीके' 'हृष् तुष्टौ'। हृष्टं हृषितं लोम। इस प्रसङ्ग में एक वार्तिक भी है—'विस्मितप्रतिघातयोश्च'। यहाँ बालमनोरमाकार ने स्पष्टीकरण यों किया है—'तत्र लोमसु विस्मितप्रतिघातयोश्च 'हृषु अलीके' इत्यस्मात् 'यस्य विभाषा' इति

नित्यमिण्निषेधे प्राप्ते विभाषेयम्, 'हृष् तुष्टौ' इत्यस्मात् नित्यमिट्प्राप्तौ विभाषा' इति ॥

७ द्वन्द्वानि (पृ. २१)

द्वन्द्व शब्द का अर्थ होता है जोड़ा, जोड़े के लिए कई तरह का प्रयोग संस्कृत में आया है, मिथुन, युग आदि, उनमें मिथुन और द्वन्द्व ऐसे हैं जिनका प्रयोग पदान्तर प्रयोग निरपेक्ष भाव से भी होता है। शेष शब्दों को प्रयोग में अलग नहीं लाया जाता है। द्वन्द्व से 'जाड़ा-गर्मी' 'स्त्री-पुरुष' यह दोनों अर्थ मुख्यत: प्रतीत होते हैं। 'सर्वर्तुनिर्वृतिकरे निवसन्नुपैति न द्वन्द्वदुःखमिह किञ्चिद-किञ्चनोऽपि' यहाँ द्वन्द्व शब्द 'जाड़ा-गर्मी' अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, और 'द्वन्द्वं दक्ष-मरीचिसंभवमिदं तत्स्रष्टुरेकान्तरम्' (शाकुन्तल) यहाँ द्वन्द्व शब्द से 'स्त्री-पुरुष' यह अर्थ लिया गया है। यहाँ 'द्वन्द्वानि' का अर्थ 'स्त्री-पुरुष' से है।

८ शत्रुघ्नलक्ष्मणगृहीतघटे (पृ. २२)

राम का राज्याभिषेक हो रहा है, लक्ष्मण और शत्रुघ्न जलघट लिए खड़े हैं, यही इसका अर्थ है। यहाँ एक बात खटकती है, वह यह है कि जब रामराज्याभिषेक हो रहा था, उस समय सभी रामायणों के अनुसार शत्रुघ्न भरत के साथ उनकी ननिहाल में थे, फिर यहाँ शत्रुघ्न का नाम कैसे घड़े उठाने वालो में गिनाया गया है ? इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि शत्रुघ्न यह नाम नहीं है किन्तु लक्ष्मण का विशेषणमात्र है, तदनुसार इसका यह अर्थ होगा कि शत्रुहन्ता लक्ष्मण घड़ा लिये खड़े थे। शत्रुघ्न की बात इस पक्ष में नहीं है। मैं तो यही समझता हूँ कि रामायण की सभी कथायें जब इनके नाटकों में ठीक ठीक नहीं मिलती हैं तब यहाँ भी शत्रुघ्न पद विशेषण नहीं, व्यक्तिवाचक ही माना जाय। लक्ष्मण और शत्रुघ्न दोनों ही घड़े लिये हैं यही अर्थ किया जाय। भास के अनुसार भरत मात्र ही ननिहाल में थे, क्योंकि आने के समय में भी भरत के साथ शत्रुघ्न की कहीं चर्चा नहीं की गई है। यह कोई आवश्यक चीज नहीं है कि रामायणोक्त कथानक का अक्षरश: अनुवर्तन किया जाय, अतः हमारी समझ में शत्रुघ्न शब्द विशेषण नहीं, यहाँ नाम ही है।

९ सुमित्रामातः (पृ. ३५)

'सुमित्रा माता यस्य' इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होने पर 'सुमित्रामातृ' शब्द का अर्थ होगा लक्ष्मण। उसी शब्द के सम्बोधन का यह रूप है। यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि प्रोक्तविग्रह में 'नद्यृतश्च' इस सूत्र से नित्य कप् होने पर सुमित्रामातृक शब्द होना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि— 'मातन्मातृकमातृषु वा' इस वार्त्तिक में मातृ शब्द से कप् को वैकल्पिकत्व हो गया, कोई दोष नहीं रहा, देखिये—'अत एव निपातनात् मातृशब्दस्य मातजादेशः कब्विकल्पश्च' (कौमुदी, समासाश्रयप्रकरण)

१० नियतीव व्यवस्थिता (पृ० ३७)

यहाँ 'नियतिः' की जगह 'नियती' ऐसा रूप लिया गया है जो प्रचलित व्याकरण नियमानुसार अशुद्ध मालूम होता है, क्योंकि क्तिन्प्रत्ययान्त से ङीप् अविहित है। इसी शङ्का को देखकर कुछ लोग 'वियति' (आकाशे) ऐसा पाठभेद कल्पित करते हैं, परन्तु इस पाठ में 'वियति' का कोई उपयोग नहीं देखने में आता है, 'नियति' के अर्थ में जो दृढ़ता व्यक्त होती है वह उसके बदलने पर हट जाती है और उसके हटते ही काव्यकृत चमत्कार भाग खड़ा होता है, ऐसी हालत में वियति यह पाठ ठीक नहीं कहा जा सकता। नियति इस पाठ में जो व्याकरण की त्रुटि है, उसे कवि नहीं मानें तो कोई हर्ज नहीं, अर्थचमत्कार अक्षत रहना चाहिये उसे ठीक रखने के लिए व्याकरण को नमस्कार किया जा सकता है। तथापि यदि व्याकरणशुद्धि आवश्यक प्रतीत हो तो क्तिजन्त बनाकर या बाहुलकादि की शरण में जाया जा सकता है।

११ अनुचरतीत्यादि (पृ. ४१)

अनुचरति—'अनुचर इव आचरति' इस विग्रह में क्विप् अथवा अनुचरति, सामान्य तिजन्त, अर्थ तो वही होगा अनुचरण-अनुसरण-अनुगमन सभी पर्याय ही हैं। इसी श्लोक में 'पङ्कलग्नम्' का अर्थ 'पङ्कमग्नम्' करना चाहिये, न जाने पङ्कमग्नम् छोड़कर क्यों कवि ने पङ्कलग्नम् यह लिखना पसन्द किया। यह भी हो सकता है कि लेखनप्रमाद से 'पङ्कलग्नम्' यह पाठ हो गया हो।

१२ निर्योगात् (पृ. ४२)

'निर्योग' शब्द का अर्थ है पहने जाने वाले कपड़े—धोती, कुरता आदि। इसमें योगार्थ मालूम नहीं पड़ता है, परन्तु रूढ़ि के अनुसार यही माना गया है।

१३ तपःसंग्रामेत्यादि (पृ. ४३)

लक्ष्मण वन जाने का उत्सुक होकर बार-बार प्रार्थना करते हैं कि मुझे भी वल्कल दीजिए, मैं भी वन चलने की तैयारी कर लूँ, राम बार-बार उन्हें रोकते हैं, अन्त में रामजी उन्हें वन की कठिनाई बताने के ख्याल से वल्कलों का स्वरूप बताते हैं, जिसमें उस वल्कल का कठोर तपोरूपत्व भी निहित है, यही वह श्लोक है, इसमें राम ने तीन परम्परितरूपक बाँधे हैं, १. तपःसङ्ग्रामकवच, यह वल्कल क्या है, तपस्यारूप युद्ध का जिरहबख्तर है। जो व्यक्ति ठीक से जिरहबख्तर नहीं पहन सकेगा वह युद्ध में सफल नहीं होगा। जिस तरह युद्ध में सतत सतर्कता अपेक्षित रहती है, उसी तरह तपस्या में भी सतत जागरूक रहना होगा। इसी अभिप्राय से तपस्या को संग्राम रूपक दिया है और वल्कल को इसलिए कहा है कि जिस प्रकार युद्ध का प्रथम उद्योग कवचधारण है उसी प्रकार तपस्या का भी प्रथम सोपान वल्कल-परिधान होगा। इसे पहन कर इधर-उधर करने का मौका नहीं रहेगा। २. नियमद्विरदाङ्कुश—नियम नितान्त स्वाधीन होते हैं जैसे हाथी। उनको वश करना कठिन कार्य है। इनको स्वायत्त करने में वल्कल अङ्कुश का काम करेंगे। इससे यह कहना है कि नियमों का पालन अति सावधानता से करना होगा। ३. 'खलीनमिन्द्रियाश्वानाम्' इन्द्रिय अश्व हैं जो स्वभावतः चपल हैं। इन्हें वश में करने लिए लगाम की जरूरत है वही यह वल्कल है। इससे कहना है कि दुर्जय इन्द्रियों पर कठोर संयम रखना हो तो उस वल्कल को ग्रहण करो। लक्ष्मण ने यह चुनौती स्वीकार की, खुशी-खुशी कहा— 'अनुगृहीतोऽस्मि'।

१४ वधूसहायम् (पृ. ४१)

'वधूः सहायो यत्र तादृशम्' ऐसा विग्रह करके इस 'वधूसहायम्' पद को 'वनगमनम्' का विशेषण माना गया है। 'वधूसहायम्' कहने से सहायान्तर का

अभाव व्यङ्ग्य होता है। 'श्रुत्वा-उत्थाय' इन क्रियाओं में पौर्वापर्य विवक्षित है, परन्तु उनका पौर्वापर्य नितान्त सान्निध्यद्योतक है।

१५ युगक्षयसन्निकर्षे (पृ. ४७)

युगक्षय समीप आने पर—यही इसका अर्थ है। युगक्षय हो जाने पर तो मेरु भी ध्वस्त हो जायगा, फिर चलेगा कौन ? जब प्रलय समीप आता है तब मेरु चलता है जिससे गृह, वृक्ष आदि नष्ट हो जाते हैं। यहाँ की उपमाओं से राजा की विकलता प्रतीत होती है।

१६ हेषाशून्यमुखाः (पृ. ४८)

हेषा शब्द का अर्थ है अश्व की हिनहिनाहट। घोड़े जब प्रसन्नता या किसी चीज की लिप्सा आदि प्रकट करना चाहते हैं तब जो हिनहिनाहट होती है उसे ही हेषा कहते हैं। 'बहिर्द्वारे तेषां भवति हयहेषा कलकलः'

१७ छाययेवानुगम्यते (पृ. ५५)

'वने रघुकुलश्रेष्ठो रामो लक्ष्मणेन छायया इव अनुगम्यते' यही अन्वय है। यहाँ कुछ लोग यह शङ्का करते हैं कि इसमें उपमा दुष्ट है क्योंकि छाया स्त्रीलिङ्ग है और लक्ष्मण पुंलिङ्ग। इसका उत्तर यह है कि यह दोष तब माना जाता है जब साधारण धर्म के अन्वय होने में कोई बाधा हो, जैसे—'सुधेव विमलश्चन्द्रः' इस उदाहरण में साधारणधर्मवाचक 'विमलः' पद का उपमानभूत सुधा में अन्वय नहीं हो सकता। यहाँ तो साधारण धर्म है अनुगमन, जो क्रियोपस्थापित है, उभयत्र अन्वययोग्य है। अतः यह दोष यहाँ नहीं होगा। इसी बात को दृष्टि में रखकर आचार्यों ने निर्णय किया है कि—

'न लिङ्गवचने भिन्ने न न्यूनाधिकते तथा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्' ॥

१८ धन्याः खलु (पृ.५७)

इस श्लोक को देखकर इसी के समान होने के कारण अधोलिखित श्लोक याद आ जाता है—

'धन्याः खलु वने वाताः कह्लारस्पर्शशीतलाः ।
राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः ॥

१९ शोकार्णवकरम् (पृ. ५८)

शोकरूप समुद्र पैदा करने वाला, जिस वचन को सुनकर शोकसागर उमड़ पड़े, वैसा वचन । यहाँ 'शोककर' इसी अर्थ की अधिकता व्यक्त करने के लिए 'शोकार्णवकरम्' कहा है ।

२० हृदयातुरौषधेः (पृ. ५९)

'हृदयरूप बीमार के लिए औषधरूप' यह नाम के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है जिन नामों को सुनकर हृदय रूप बीमार स्वस्थ हो उठता है । यह उन नामों की महिमा है, या स्नेह की महिमा है ।

२१ आगताः पितरः (पृ. ६४)

दशरथ मरने पर आ गये हैं, राम का वियोग उनके प्राणों पर पड़ा, वह मुमूर्षु दशा में कहते हैं—'आगताः पितरः' मैं अपने मृतपूर्वजों को देख रहा हूँ । यह प्रेतजनदर्शन मृत्युसूचक है । आयुर्वेदवालों ने इसे अरिष्ट कहा है—

... ... प्रेतानां यक्षरक्षसाम् ।
पिशाचोरगनागानां भूतानां विकृतामपि ॥
यो वा मयूरकण्ठाभं विधूमं वह्निमीक्षते ।
आतुरस्य भवेन्मृत्युः स्वस्थो व्याधिमवाप्नुयात् ॥

२२ कपोतसन्दानकम् (पृ. ६८)

कपोतसन्दानक शब्द से कबूतरों के घोंसले का तात्पर्य है । सन्दानक का अर्थ बन्धन है । सन्दानित=बद्ध । देखिये कादम्बरी, शुकनासोपदेश—'दृढगुणसन्दानिताऽपि पलायते' ।

२३ रजश्चाश्वोद्भूतं पतति (पृ. ७१)

घोड़े तेजी से भागते जा रहे हैं, उनके द्वारा उड़ाई गई धूल घोड़ों पर नहीं पड़ती क्योंकि तब तक वे आगे बढ़ गये रहते हैं । इसी अर्थ को ऐसे ही अवसर

पर कालिदास ने भी कहा—'स्वेषामपि प्रसरतां रजसामलङ्घ्याः' (शाकुन्तल, १,८)। इस तुलना को देखने पर यह कल्पना कि कालिदास ने भास का यह श्लोक देखा था—क्या नितान्त असङ्गत कहा जायगा ?

२४ त्वरता (पृ. ७२)

त्वरत इति त्वरम्, यद्वा त्वरास्ति अस्येति वा त्वरम्, आद्ये पचाद्यच् अन्त्ये अर्श आद्यच्। तस्य भावस्त्वरता। वस्तुतः यह पाठ ठीक नहीं है, सत्वरता यह पाठ होना चाहिये।

२५ विश्रमः (पृ. ७५)

विश्राम अर्थ में विश्रम शब्द का प्रयोग होता है, वही शब्द ठीक भी है, क्योंकि—'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' इससे वृद्धि का निषेध हो जाता है। अनुदात्तोपदेश धातुओं में चार ही धातु माने गये हैं—यम्, रम्, नम्, गम्। श्रम् धातु उदात्तोपदेश ही हुआ। अत एव कहा है—'विश्रम इति त्वपाणिनीयम्'।

२६ क्रियामाधुर्यम् (पृ. ७६)

क्रियया उत्खननादिमूर्त्तिनिर्माणकलया माधुर्यम् रमणीयता। इन पत्थरों पर जो मूर्त्तियाँ बनी हैं वे कितनी रमणीय हैं। यहाँ माधुर्य शब्द सुन्दरतापर्यवसायी हो गया है।

२७ मानुषविश्वासताम् (पृ. ७६)

मानुषविश्वासताम्—मनुष्यत्वप्रकारकप्रतीतियोग्यताम्। ये मूर्त्तियाँ इतनी अच्छी खुदी हैं कि इन्हें देखने से यह प्रतीति हो आती है कि ये मनुष्य ही हैं। इनमें मनुष्यता का विश्वास हो आता है। यह शब्द कुछ अप्रयुक्त-सा है।

२८ प्रतिमानामल्पान्तराकृतिः (पृ. ७७)

'यादृशी प्रतिमानामाकृतिस्तदाकारा' जैसी यहाँ की प्रतिमायें हैं उसी आकार का किन्तु छोटा। भरतजी दशरथ आदि राजाओं के सदृश थे किन्तु अल्पवयस्क होने से छोटे थे, इससे रूपसाम्य तो था किन्तु परिणाहसाम्य नहीं था।

२९ ब्राह्मणजनस्य प्रणामं परिहरामि (पृ. ७८)

इन्हें आप ब्राह्मण समझ कर प्रणाम करने चले थे उसका निषेध करता हूँ।

इसका कारण यह है—आप इन्हें ब्राह्मण समझते हैं किन्तु ये ब्राह्मण नहीं हैं, क्षत्रिय हैं।

३० अभिसरीम् (पृ. ७८)

'अभिसरी' शब्द अति अप्रसिद्ध है। इसका अर्थ यहाँ युद्धार्थ यात्रा, अथवा युद्ध में आगे रहना, यही कुछ किया जा सकता है। भास ने जो कुछ शब्द अपने मन से गढ़े थे, उनमें से यह भी एक है।

३१ प्रियावियोगनिर्वेदपरित्यक्तम् (पृ. ८०)

अज की स्त्री का नाम इन्दुमती था। वह अति सुन्दर थी, उसकी मृत्यु देवकुसुमदर्शन द्वारा शापवश हो गई। उसके मरने पर महाराज विरक्तवत् रहने लगे। इसी पीड़ा को यहाँ उनका निर्वेद कहा गया है। निर्वेद की परिभाषा यह है—

'तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादिनिर्वेदः स्वावमाननम्।
दैन्यचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत् ॥'

आपत्ति स्त्रीनाश रूप कारण से निर्वेद हुआ अज को, और उन्होंने इतनी चिन्ता की कि उनकी स्वस्थता जाती रही; कुछ ही दिनों में चल बसे।

३२ धरमाणानाम् (पृ. ८१)

धरमाणानाम् का अर्थ है जीते हुए लोगों का। यहाँ 'धृङ् प्राणधारणे' धातु से शानच् करने पर 'ध्रियमाणानाम्' रूप होगा, वह दिवादि का है। माघ में आया है—'ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुः'। धरमाण शब्द बनाने के लिए 'धृञ् धारणे' इस भौवादिक धातु से शानच् करना चाहिये।

३३ सर्वसमुदाचारसन्निकर्षः (पृ. ८८)

सभी प्रकार के व्यवहारों का होना। यहाँ तात्पर्य यह है कि आपके सामने जो सभी प्रकार के व्यवहार किये जा रहे हैं उन्हें देखकर यही विश्वास करना पड़ता है कि आप सुमन्त्र हैं। यदि आप सुमन्त्र नहीं होते तो मातायें आपके सामने घूँघट नहीं दूर करतीं। उनके इस व्यवहार से आपकी सुमन्त्रता प्रमाणित होती है।

३४ अभिवादनक्रममुपदेष्टुमिच्छामि (पृ. ८९)

माताओं को किस क्रम से प्रणाम किया जाय, कौन बड़ी माता है जिनको पहले, उसके बाद मझली माँ को, उसके बाद छोटी माँ को पहचान कर ही तो क्रमशः प्रणाम किया जायगा, तदर्थ आप उन्हें परिचित करा दें जिससे यथोचित क्रम से प्रणाम किया जाय। यही इस वाक्य का अर्थ है। इस अर्थ में यह वाक्य अवाचक है, क्योंकि यहाँ 'उपदेष्टुम्' का सम्बन्ध ठीक नहीं बैठ रहा है अतः उसकी जगह—'अभिवादनक्रममुपदिष्टमिच्छामि' ऐसा पाठ मानना चाहिये। बहुत सम्भव है यही पाठ रहा भी हो, पीछे लेखनप्रमाद से वर्त्तमान पाठ प्रचलित हो गया होगा।

३५ आक्रुष्ट इवास्म्यनेन (पृ. ९०)

कौसल्या ने भरत से कहा—निःसन्तापो भव। इसका अर्थ स्पष्ट है तुम्हारे सन्ताप दूर हों। यहाँ सन्ताप कैसा? यह विचारणीय है, सभी अपने मन की सोचेंगे। कौसल्या ने कहा कि राम-वनगमन से जो सन्ताप तुमको है वह छूट जाय, उससे तुम्हें त्राण प्राप्त हो। भरत को दूसरा ही अभिप्राय ज्ञात हुआ। उन्होंने समझा कि ये मुझे ताने दे रही हैं—रामरूप विरोधी के रहने से जो राज्याप्राप्तिरूप सन्ताप था वह अब दूर हो गया, निश्चिन्त हो जाओ। कौसल्या के कथन का यही मतलब भरत ने लगाया।

३६ अतिसन्धितः (पृ. ९०)

अतिसन्धा अतिसन्धानम्, वञ्चनमित्यर्थः, देखिये शाकुन्तल—'परातिसन्धानमधीयते ये विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः' सा अतिसन्धा सञ्जाता अस्येति अतिसन्धितः, 'तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्' यही इसकी सिद्धि का उपाय है। धा से सीधे क्त प्रत्यय करने पर तो 'अतिसंहितः' यह रूप होगा। अतिसन्धित= वञ्चित। लक्ष्मण ने जिसे वञ्चित कर रखा है अर्थात् उन्होंने स्वयं राम की सेवा का अवसर प्राप्त कर लिया, भरत को वैसा नहीं करने दिया, यही लक्ष्मण द्वारा यहाँ भरत की अतिसन्धा है।

३७ इदं प्रयतिष्ये (पृ. ९०)

यत् धातु प्रयत्नार्थक तथा अकर्मक है, इसके योग में इदं पद का किसी प्रकार समन्वय नहीं होता है । यहाँ 'इह प्रयतिष्ये' ऐसा पाठ हो जाय तो सब ठीक हो जायगा ।

३८ अभिषेकं पुरस्कृत्य (पृ. ९६)

'अभिषेकं पुरस्कृत्य' इसमें अभिषेक शब्द से क्रिया नहीं, क्रिया की सामग्री ली गई है, क्रिया लेकर कोई क्या जायेगा, उसकी सामग्री जल, छत्र आदि लेकर जाने का प्रसङ्ग भी है ।

३९ प्रत्यादेशो राज्यलुब्धायाः कैकेय्याः (पृ. १०१)

राम राज्यलुब्धा कैकेयी के लिए तिरस्कार स्वरूप थे । राम राज्य से एकदम निरपेक्ष थे और कैकेयी ने राज्य के लिए अति अकर्त्तव्य किया, ऐसी दशा में कैकेयी के विषय में कुछ नहीं कह कर राम का बन जाना ही कैकेयी का पर्याप्त तिरस्कार हो गया । इसी व्यवहार को प्रत्यादेश-तिरस्कार का रूप दे दिया गया है । ऐसे उदाहरण बाण की कादम्बरी में भी अधिक आये हुए हैं—'प्रत्यादेशो धनुष्मताम्, धौरेयः साहसिकानाम्, अग्रणीर्विदग्धानाम्, धौरेयः साहसिकानाम् ।'

४० इक्ष्वाकुकुलन्यङ्गभूतः (पृ. १०३)

न्यङ्ग शब्द का अर्थ है 'कलंक' । न्यङ्ग शब्द अप्रचलित है । इसका 'नि–अङ्ग' निकृष्ट भाग इस अवयवार्थ का बहुत थोड़ा भाव आशयार्थ में आता है ।

४१ पितृवचनकराय (पृ. १०३)

करोति इति करः, पितृवचनस्य करः इति पितृवचनकरः, तस्मै पितृवचनकराय । पितृवचनं करोति यः स तस्मै इस विग्रह में पितृवचनकाराय, ऐसा रूप होगा, क्योंकि कर्मण्यण् से अण् प्रत्यय हो जायगा । इसीलिए कौमुदी में लिखा है । 'कथं तर्हि गङ्गाधरभूधरादयः, कर्मणः शेषत्वविवक्षायां भविष्यन्ति ।'

४२ विशालीक्रियतां ते चक्षुः (पृ. १०७)

भरत को देखने के लिए तुम अपनी आँखें विशाल कर लो । अच्छी वस्तु

देखने के लिए बड़ी आँखों का होना वर्णित है, देखिए—'विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः' (रघुवंश)।

४३ गुरुरयम्, आर्य ! अभिवादये, आयुष्मान् भव (पृ. १०७)

भरत ने लक्ष्मण के विषय में कहा—'गुरुरयम्' आप श्रेष्ठ हैं; फिर लक्ष्मण के प्रति कहा—'आर्य अभिवादये', लक्ष्मण ने आशीर्वाद दिया—'आयुष्मान् भव।' इस कथोपकथन के सिलसिले से प्रकट होता है कि लक्ष्मण बड़े थे और भरत छोटे। भरत ने प्रणाम किया, लक्ष्मण ने श्रेष्ठजनोचित आशीर्वाद दिया। परन्तु यह बात संदिग्ध है, सभी रामायणकार या रामायणाश्रित साहित्यग्रन्थकार भरत को ज्येष्ठ मानते हैं, लक्ष्मण को छोटा। फिर भास को क्या सूझा कि उन्होंने उल्टा लिख दिया ? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा सकता है कि राम तथा लक्ष्मण समान-चरु-भाग-प्रसूत थे, अतः राम की तरह लक्ष्मण भी भरत से ज्येष्ठ हुए। यह भी कहा जा सकता है कि चरुभाग जो पुत्रेष्टियज्ञोपरान्त रानियों को दिया गया था उसमें लक्ष्मणजनक चरुभाग प्रथमार्पित रहा हो। इन उत्तरों में सन्तोषक्षमता नहीं है। रामायण की कथा में इस तरह की गलती क्षम्य नहीं है। नाटकीय चमत्कारार्थ कवि ने परिवर्त्तन किया है यह बात भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि नाटकीयांश में कोई चमत्कार उससे नहीं बढ़ पाया है। मैं समझता हूँ कि भास के समय में कोई रामायण ऐसा भी प्रचलित रहा होगा जिसमें लक्ष्मण को भरत से ज्येष्ठ कहा गया होगा। कालक्रम से वह रामायण लुप्त हो गया है। इस तरह की बातें अति असम्भव नहीं कही जा सकती हैं।

४४ आत्मजविशिष्टगुणः (पृ. ११८)

आत्मज (पुत्र) के विशिष्ट (अद्भुत) गुण। इस वाक्य में समास न करके आत्मजस्य विशिष्टगुणः ऐसा कहने से साहित्यिक चमत्कार कम हो जाता, इसलिए व्याकरण की परवाह न करके समास कर दिया गया है।

४५ कः समयः ? (पृ. १२०)

यहाँ समय शब्द का अर्थ है 'शर्त्त' 'सिद्धान्त' 'समया'—'शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' (इत्यमरः) 'शर्त्त पर आपका राज्य चला दूँगा' ऐसा भरत ने स्वीकार किया, जिस पर राम ने पूछा कि कौन शर्त ?

४६ प्रतिग्रहीतुम् (पृ. १२०)

यहाँ 'प्रतिग्रहीतुम्' पद अन्तर्भावितण्यर्थ मानने पर ही प्राकरणिक सङ्गत अर्थ हो सकेगा, नहीं तो विवक्षितार्थ प्रतीति नहीं होगी। 'प्रतिग्रहीतुम्' का साधारण अर्थ है—लेने के लिए। देखिये, कुमारसम्भव—'प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च'। इसीलिए यहाँ 'प्रतिग्रहीतुम्' में ग्रहधातु को अन्तर्भावितण्यर्थ मान लेने से 'ग्रहण कराना चाहता हूँ' यह अभीष्ट अर्थ होगा।

४७ अवस्थाकुटुम्बिनीम् (पृ. १२६)

'कुटुम्बिनी' शब्द से स्त्री या सहायक स्त्री, यही अर्थ प्रतीत होता है, उसके साथ अवस्था पद जोड़कर राम सीता की प्रशंसा कर रहे हैं। उनके कहने का अर्थ यह होता है कि सीता साधारण विलासलुब्धा स्त्री नहीं, वह हमारी भी दशा की सहायिका स्त्री है।

४८ निवपनक्रियाम् (पृ. १२९)

निवपन शब्द का अर्थ है पितरों के उद्देश्य से किया गया श्राद्धतर्पण आदि। कालिदास ने भी इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। देखिये शाकुन्तल—

'अस्मत्परं बत यथाश्रुति संभृतानि। को नः कुले निवपनानि नियच्छतीति ॥'

निवपन, निवाप दोनों समानार्थक हैं। 'येभ्यो निवापाञ्जलयः पितृणाम् निवाप शब्द से 'नैवाप' भी बनकर प्रयुक्त हुआ है—'दशरथदुरवापं प्राप नैवापमम्भः' ॥

४९ स्वरपदपरिहीणाम् (पृ. १३१)

स्वर तथा पद से रहित। यहाँ हीन और परिहीन में कोई अर्थभेद नहीं है, क्योंकि परि निरर्थक है। निरर्थक परि को 'अधिपरी अनर्थकौ' इससे कर्मप्रवचनीय संज्ञा होगी, उपसर्गसंज्ञा का उससे बोध हो जायगा, अतः परिहीण पद में णत्व अयुक्त है, अत एव—कारिकावली में 'सामान्यपरिहीनास्तु सर्वे जात्यादयो मताः' ऐसा दन्त्यघटित ही पाठ है।

५० 'माहेश्वरं योगशास्त्रम्, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम् प्राचेतसं श्राद्धकल्पम्' (पृ १३४)

महेश्वरकृत योगशास्त्र। यह माहेश्वर योगशास्त्र कौन है इस विषय में बड़ा सन्देह है, प्रसिद्ध योगशास्त्र तो पातञ्जल ही है। महेश्वरकृत योगशास्त्र, हो सकता है पहले रहा हो, अब तो उसकी प्रसिद्धि नहीं रही। यह भी सम्भव है वह माहेश्वर योगशास्त्र प्रचलित पातञ्जल योगशास्त्र का मूलभूत रहा हो, समय की गति से उसका लोप हो गया है। आज सर्वत्र जिस पाणिनीय व्याकरण की ख्याति है उसका भी मूलभूत अन्य बहुविध व्याकरण था, जो अब नहीं रहा।

मेधातिथि को न्यायशास्त्र का प्रवर्त्तक कहा गया है। मेधातिथि प्रसिद्ध हैं उनका ग्रंथ तो धर्मशास्त्र में ही मिलता है। ये मेधातिथि कौन थे ? इस प्रश्न का उत्तर अब यही दिया जा सकता है कि ये भी कोई प्राचीन आचार्य रहे होंगे जिनसे प्रेरणा प्राप्त कर गौतम का न्याय बना होगा, जो आज प्रचार में है। इन बातों पर अनुसन्धान होना चाहिये। वरुणकृत श्राद्धकल्प की भी यही स्थिति है।

५१ क्रौञ्चत्वं वा गमिष्यति (पृ. १३९)

परशुराम और कार्त्तिकेय महादेव से अस्त्रवेद का सविधि अध्ययन कर रहे थे। दोनों में विद्या के तारतम्य का सङ्घर्ष उपस्थित हुआ। महादेव ने परीक्षा के लिए तय किया कि इस पर्वत को बाणों द्वारा जो भिन्न कर देगा उसे प्राथम्य प्राप्त होगा। परशुराम ने वैसा किया, इसीलिए उनको यश के साथ गुरुकृपा भी मिली। इन्हीं कारणों से उस शरदलित पर्वत को कालिदास ने—'हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म तत्क्रौञ्चरन्ध्रम्' कहा है।

५२ क्रव्यात् (पृ. १५०)

'राक्षसः कौणपः क्रव्यात्'। 'अदोऽनन्ने' इस सूत्र से क्रव्योपपदक अद् धातु से विट् प्रत्यय, उसका सर्वापहार, क्रव्य—आम मांस।

५३ गुण इव बह्वपराद्धमायुषा मे (पृ. १५५)

अधिक दिनों तक जीना गुण माना जाता है, परन्तु मेरी चिरजीविता गुण की जगह दोष हो रही है क्योंकि जीते रहने से ही मुझे अप्रिय घटनायें देखनी

पड़ी हैं। इस पद्यांश में किस प्रकार अन्वय किया गया है समझ में नहीं आता। 'गुण इव' इतना अंश नहीं रहे तब तो ठीक बैठता है, अन्यथा वह मेघ की तरह लटक जाता है। हम तो इसे कवि की अशक्ति ही मानते हैं।

५४ शब्दयितव्या (पृ. १६२)

यहाँ शब्द पद से णिच् प्रत्यय करके उससे तव्य प्रत्यय किया गया है। शब्दयितव्या आह्वातव्या (पुकारी जाय)।

५५ दूषिताऽत्र भवती (पृ. १६६)

इसका अर्थ है—मैंने आपका तिरस्कार किया, निन्दा की। ऐसे शब्द का प्रयोग कुछ दूसरे ही अर्थ में अब होता है। भास का तात्पर्य निन्दा से ही था।

५६ अन्तशः (पृ. १७१)

अन्तशः—अन्त तक, आसमाप्ति। यहाँ का शस् प्रत्यय चिन्तनीय है।

५७ निम्नस्थलोत्पादको हि कालः (पृ. १७३)

समय सभी खाइयों का पाटनेवाला होता है। समय से सभी घाव भर जाते हैं। किसी भारी दुःख को भी समय सह्य बना देता है।

५८ एष्टव्ये काले (पृ. १७५)

इष्टे काले—उचित समय में। यह इसका भाव है परन्तु एष्टव्य शब्द से यह अर्थ नहीं निकल सकता है।

५९ उन्नामयाननमिदम् (पृ. १८१)

उत् नम् णिच् लोट् मध्यम पुरुष का एकवचन। मुख उठाओ। व्याकरण के अनुसार 'उन्नमय' होना चाहिये। उन्नामय अशुद्ध है।

प्रतिमानाटकगतानि सुभाषितानि

१. अनुचरति शशाङ्कं राहुदोषेऽपि तारा ।
२. अलमिदानीं व्रणे प्रहर्त्तुम् ।
३. अल्पं तुल्यशीलानि द्वन्द्वानि सृज्यन्ते ।
४. विधिरनतिक्रमणीयः ।
५. किं ब्रह्मघ्नानामपि परेण निवेदनं क्रियते ?
६. कुतः क्रोधो विनीतानां लज्जा वा कृतचेतसाम् ।
७. गङ्गायमुनयोर्मध्ये कुनदीव प्रवेशिता ।
८. गोपहीना गावो विलयं यान्ति ।
९. छायां परिहृत्य शरीरं न लङ्घयामि ।
१०. तिर्यग्योनयोऽप्युपकृतमवगच्छन्ति ।
११. न न्याय्यं परदोषमभिधातुम् ।
१२. न व्याघ्रं मृगशिशवः प्रधर्षयन्ति ।
१३. निम्नस्थलोत्पादको हि कालः ।
१४. निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च ।
१५. पतति च वनवृक्षे याति भूमिं लता च ।
१६. पिपासार्त्तोऽनुधावामि क्षीणतोयां नदीमिव ।
१७. पुरुषाणां मातृदोषो न दोषः ।
१८. बहुवृत्तान्तानि राजकुलानि नाम ।
१९. भर्तृनाथा हि नार्यः ।
२०. राज्यं नाम मुहूर्त्तमपि नोपेक्षणीयम् ।
२१. शरीरेऽरिः प्रहरति, स्वजनो हृदये ।
२२. सर्वशोभनीयं सुरूपं नाम ।
२३. सर्वोऽपि मृदुः परिभूयते ।
२४. सुलभापराधः परिजनो नाम ।
२५. स्वः पुत्रः कुरुते पितुर्यदि वचः कस्तत्र भो विस्मयः ?
२६. हस्तस्पर्शो हि मातॄणामजलस्य जलाञ्जलिः ।

नाटकीय-वस्तुलक्षणानि

नाटकम्—वीरशृङ्गारयोरेकः प्रधानं यत्र वर्ण्यते ।
प्रख्यातनायकोपेतं [1]नाटकं तदुदाहृतम् ॥

जिसमें वीर, शृङ्गार में अन्यतर रस प्रधान हो, अन्य रस अङ्गभूत रहें और प्रख्यात नायक हो, वह नाटक कहा जाता है ।

पूर्वरङ्गः—यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥

नाटकीय कथा की अवतारणा से पहले रङ्गभूमि के विघ्नों को दूर करने के उद्देश्य से नर्त्तक लोग जो कुछ करते हैं, उसे पूर्वरङ्ग कहते हैं ।

नान्दी—आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥

देवगण, ब्राह्मण और राजादिकों की आशीर्वाद सहित स्तुति इसके द्वारा की जाती है इसलिए लोग इसे नान्दी कहते हैं ।

सूत्रधारः—आसूत्रयन् गुणान् नेतुः कवेरपि च वस्तुनः ।
रङ्गप्रसाधनप्रौढः सूत्रधार इहोदितः ॥

नायक, कवि और कथावस्तु के गुणों को संक्षेप में (नान्दी द्वारा) सूचित करने वाला सूत्रधार नाम से विदित कराया जाता है । इसका रङ्गमञ्च को सजाने की कला में प्रवीण होना भी आवश्यक है ।

---

१. 'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसुसंयुतम् ।
विलासद्धर्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥
सुखदुःखसमुद्भूतिर्नानारसनिरन्तरम् ।
पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्त्तिताः ॥
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान् नायको मतः ।
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यं निर्वहणेऽद्भुतम् ।
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्त्तितम्' इति । (सा० द०)

प्रयोगातिशयः—यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा॥

यदि एक ही प्रयोग में अन्य प्रयोग प्रारम्भ हो जाय और उसी के द्वारा पात्र का प्रवेश कराया गया हो तो उसे 'प्रयोगातिशय' कहते हैं। यह पाँच प्रकार वाली प्रस्तावना का एक भेद है। जैसे कि साहित्यदर्पण में कहा गया है—
उद्घात्यकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा। प्रवर्त्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः॥

नेपथ्यम्—कुशीलवकुटुम्बस्य गृहं नेपथ्यमुच्यते।

अभिनेता लोग जहाँ ठहर कर नाटकोचित भूमिका धारण करते हैं, वह नेपथ्य कहा जाता है। इसी को आजकल 'ग्रीन हाउस' कहते हैं।

प्रस्तावना—सूत्रधारो नटीं ब्रूते मारिषं वा विदूषकम्।
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम्॥

जहाँ सूत्रधार विचित्र ढङ्ग से नटी, मारिष या विदूषक से ऐसी बातें कहे, जिससे प्रस्तुत नाटक की कथा का सूचन हो जाय, उसे आमुख कहते हैं। इसी का 'प्रस्तावना' यह नामान्तर है। इसी की जगह में पुराने कविगण भास आदि 'स्थापना' शब्द का व्यवहार करते हैं।

अङ्कः—अङ्क इति रूढिशब्दो भावैश्च रसैश्च रोहयत्यर्थान्।
नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद् भवेदङ्कः॥
यत्रार्थस्य समाप्तिर्यस्य च बीजस्य भवति संहारः।
किञ्चिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क इति सदाऽवगन्तव्यः॥

जो भाव और रसों के द्वारा अर्थों को अंकुरित करता है, जिसके अन्दर नाना प्रकार के विधान हों, जहाँ एक अर्थका अवसान तथा [1] बीजका उपसंहार और अंशतः बिन्दुका[2] सम्बन्ध होता है उसे अङ्क कहते। यह शब्द 'प्रकरण' अर्थ में रूढ है।

---

१. अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति। फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजमित्यभिधीयते॥
जो अल्पमात्रा में कहा जाय और आगे चलकर विस्तृत हो, वह बीज कहा जाता है। यह फलसिद्धि का प्रथम कारण माना जाता है।

२. अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्।
मध्यापाती कथा के विच्छेद होने पर भी प्रधान कथा के प्रक्रांत रहने में जो कारण होता है, उसे बिन्दु कहते हैं।

मिश्रविष्कम्भकः--वृत्तवर्त्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः।
शुद्धः स्यात् स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः॥

बीती हुई और आगे वाली कथाओं की सूचना तथा कथांश का संक्षेप करने वाला (छोटा अंक) विष्कम्भक कहा गया है। उसके प्रयोग का स्थान अंक का आदि माना गया है। जहाँ विष्कम्भक में एक अथवा दो मध्यम पात्रमात्र का प्रयोग हो उसे शुद्ध विष्कम्भक और नीच तथा मध्यम दोनों तरह के पात्रों का प्रयोग हो उसे मिश्रविष्कम्भक मानते हैं।

स्वगतम्--अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्।

जो बात सुनाने के योग्य न हो अर्थात् उसे साथ में अभिनय करने वाले न सुनें केवल सामाजिक ही सुनें, इसी अभिप्राय से कही जाय उसे 'स्वगत' कहते हैं। इसी को आत्मगत भी कहते हैं।

प्रकाशम्--सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्।

जो बात सबको सुनाने के लिए कही जाय, उसे 'प्रकाश' कहते हैं।

प्रवेशकः--प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।

प्रवेशक का प्रयोग नीच पात्रों के द्वारा ही कराया जाता है। इसमें उदात्त रमणीय उक्तियों का अभाव होना चाहिये।

अपवारितम्--रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्त्याऽपवारितम्।

जो बात कुछ पात्रविशेष से छिपा कर कुछ पात्रों को कही जाती है, उसे अपवारित कहते हैं।

आकाशभाषितम्--किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत् स्यादाकाशभाषितम्॥

बिना किसी दूसरे जनके, बिना कहने पर ही, बिना सुने ही, क्या कहा? इत्यादि प्रश्नों द्वारा स्वयं प्रकरण बना कर जो बात कही जाती है, उसे आकाश-भाषित कहते हैं।

काञ्चुकीयः--ये नित्यं सत्यसम्पन्नाः कामदोषविवर्जिताः।
ज्ञानविज्ञानकुशलाः काञ्चुकीयास्तु ते मताः॥

जो सदा सत्य बोलने वाले, निश्छलव्यवहारी, कामदोषशून्य और ज्ञानविज्ञान में निपुण होते हैं वे काञ्चुकीय कहलाते हैं।

नायकः--त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥

दानशील, पण्डित, सत्कुलप्रसूत, धनवान् और रूप, यौवन तथा उत्साह से सम्पन्न, चतुर, लोकप्रिय, तेजस्वी और सुशील पुरुष नेता होता है, अर्थात् नाटक के लिए ऐसे ही नायक चुने जाते हैं।

नायिका--नायकसामान्यगुणैर्युक्ता नायिका।

नायक में अपेक्षित सद्गुणों से युक्त नायिका होती है।

धीरोदात्तः--अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान् निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥

जो स्वयं अपनी तारीफ नहीं करनेवाला, सहनशील, धीर, महामना, स्थिरप्रकृति, नम्रता से अभिमान को छिपाकर रखने वाला और सत्यवक्ता हो; उस नायक को धीरोदात्त नायक कहते हैं।

रसः--विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्॥
प्रपानकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्।

सहृदयों के हृदय में वर्तमान रत्यादि स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव की सहायता से अभिव्यक्त होकर प्रपानक रस की तरह आस्वाद विषय बनकर रस संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

करुणः--इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।
शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम्॥

इष्टवस्तु के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुणरसका आविर्भाव होता है, इसमें शोक स्थायिभाव होता है और शोच्य आलम्बन विभाव होता है।

वीररसः--उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः।

जिसका स्थायिभाव उत्साह हो और जो उत्तम पात्रमात्रमें आश्रित हो, उसे वीर रस कहते हैं।

प्रतिमानाटकगतवृत्तलक्षणानि

इन्द्रवज्रा— स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः ।

जिस छन्द में दो तगण, एक जगण और दो गुरु वर्ण हों, उसे इन्द्रवज्रा कहते हैं ।

मालिनी—ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।

यदि दो नगण, एक मगण, पुनः दो यगण हों तो उस वृत्त का नाम मालिनी कहा गया है ।

उपजातिः—स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः, उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ।
अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥

जिस छन्द में दो तगण, एक जगण और दो गुरु अक्षर हों, उसे इन्द्रवज्रा कहते हैं । जिसमें एक जगण, एक तगण, फिर एक जगण और दो गुरु वर्ण हों, उसे उपेन्द्रवज्रा नाम से पुकारते हैं । जिसके चरणों में इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा दोनों छन्दों के लक्षण चरणभेद से मिलें, उसे उपजाति नामक वृत्त कहते हैं ।

पुष्पिताग्रा--अयुजि नयुगरेफतो यकारो
युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।

जिस वृत्त के विषम चरणों में दो नगण, एक रगण, अनन्तर एक यगण हो और सम चरणों में नगण, जगण, पुनः, जगण, रगण, उसके आगे एक गुरु वर्ण हो, उसे पुष्पिताग्रा कहते हैं । विषम चरण--प्रथम, तृतीय को और सम चरण--द्वितीय और चतुर्थ को जानना चाहिये ।

वसन्ततिलका--उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ।

जिसमें तगण, भगण, जगण, फिर जगण, उसके बाद दो गुरु वर्ण हों, वह वसन्ततिलका कहा जाता है ।

शार्दूलविक्रीडितम्--सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ।

जिस छन्द में मगण, सगण, जगण, सगण, तगणद्वय और एक गुरु वर्ण हो, बारह और सात वर्णों पर यति हो, उसे शार्दूलविक्रीडित नामक वृत्त कहते हैं।

वंशस्थम्--जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ।

जगण, तगण, जगण, रगण, यदि क्रम से हों तो वंशस्थ नामक वृत्त कहा गया है।

सुवदना--ज्ञेया सप्ताश्वषड्भिर्मरभनययुता भ्लौ गः सुवदना ।

जिसमें मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, पुनः भगण, एक लघु वर्ण और अन्त में एक गुरु वर्ण रहे, ७, ७, ६ वर्णों पर यति हो, उसे सुवदना छन्द कहते हैं।

प्रभा--स्वरशरविरतिर्ननौ रौ प्रभा ।

दो नगण, दो रगण तथा सात और पाँच वर्णों पर विराम होने से प्रभा वृत्त बन जाता है।

स्रग्विणी-- रैश्चतुर्भिर्युता स्रग्विणी संमता ।

यदि चार रगण हों तो स्रग्विणी छन्द होता है।

शालिनी--शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः ।

जिसमें एक मगण, दो तगण, तदनन्तर दो गुरु वर्ण रहें और चार तथा सातवर्णों पर यति हो उसे शालिनी कहते हैं।

प्रहर्षिणी—म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ।

यदि क्रमशः मगण, नगण, जगण, रगण और अन्तमें एक गुरु वर्ण हो तो उसे प्रहर्षिणी नामक वृत्त कहते हैं। इसमें ३, १० वर्णों पर यति होती है।

शिखरिणी—रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी ।

यगण, मगण, नगण, सगण, भगण इन पाँच गणों के बाद एक लघु और एक गुरु हो, और ६, ११ वर्णों पर यति हो तो उसे शिखरिणी छन्द कहते हैं।

स्रग्धरा—म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम् ।

यदि मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, यगण, यगण इस तरहका गणन्यास हो और तीन बार प्रति सातवें वर्ण पर यति हो तो उसे स्रग्धरा कहते हैं ।

आर्या—यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥

जिस मात्रावृत्त के प्रथम और तृतीय चरणों में १२–१२ मात्रायें, द्वितीय पाद में १८ मात्रायें और चतुर्थ में १५ मात्रायें रहें, उसे आर्या कहते हैं ।

अनुष्टुप्—पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः ।
षष्ठं गुरु विजानीयादेतत् पद्यस्य लक्षणम् ॥

अनुष्टुप् छन्द के सब चरणों में ५ वाँ वर्ण लघु, छठा वर्ण गुरु और द्वितीय चतुर्थ चरणों में ७ वाँ लघु होता है ।

हरिणी—रसयुगहयैन्सौं म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा ।

जिसमें नगण, सगण, मगण, रगण, सगण, तदनन्तर एक लघु तथा एक गुरु वर्ण रहें, छः, चार और सात वर्णों पर यति हो, उस छन्द को हरिणी कहते हैं । गणसामान्य का लक्षण—

मस्त्रिगुरुस्त्रिलघुश्च नकारो भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः ।
जो गुरुमध्यगतो रलमध्यः सोऽन्त्यगुरुः कथितोऽन्त्यलघुस्तः ॥

लघु वर्ण खड़ी पाई (।) द्वारा और गुरुवर्ण इस चिह्न (S) द्वारा व्यक्त किया जाता है । फलतः सभी गणोंको इस प्रकार न्यस्त करना चाहिये ।

मगण-SSS, नगण-।।।, भगण-S।।, यगण-।SS, जगण-।S।, रगण-S।S, सगण-।।S, तगण-SS। ये ही आठ गण हैं । इनके ही विवर्त्तसे ये छन्द बनते हैं ।

टीकाकर्तुः परिचयः

माण्डरसंज्ञकमैथिलभूसुरवंशेऽजनिष्ट कृती ।
श्रीमान् 'कन्हाइ'मिश्रो हृतजनताऽज्ञानतामिस्रः ॥ १ ॥
उदितः [illegible] शर्मा ततः सुमेरोरिवादित्यः ।
योऽमा[illegible] मानिनिवहश्रेयान् सुकृतावदातात्मा ॥ २ ॥
मृतपितृकः स हि बाल्ये मातुलकुलमाश्रितः शरणम् ।
ग्रामे पकड़ीनामनि गृहस्थतां प्रापितो न्यवसत् ॥ ३ ॥
तत्तनयेषु प्रथमो वयसा ज्ञानेन यशसा ।
'मधुसूदन'मिश्राख्यो भक्तश्चतुराग्रणीरभवत् ॥ ४ ॥
तत एव श्री'जयमणि'संज्ञायां मातरि प्रापम् ।
जनिमब्धिरामवसुभूमितशाके 'रामचन्द्रो'ऽहम् ॥ ५ ॥
प्रभवादष्टमशरदि स्नेहान्मामुपनिनीषन्तम् ।
तातं सदा स्वतन्त्रा नियतिरकार्षीत्कथाशेषम् ॥ ६ ॥
बाल्ये पण्डित'झिङ्गुरशर्म'कृपाप्राप्तबोधस्य ।
अथ चक्षुषी चमत्कृतसंस्कृतभाषाप्रयोगेषु ॥ ७ ॥
उन्मीलिते अभूतां श्री'श्रीनाथाख्य'विबुधस्य ।
मम मातुलस्य चरणौ निषेवमाणस्य न चिरेण ॥ ८ ॥
गूढं शास्त्ररहस्यं ज्ञातुं निखिलं निबद्धकक्षस्य ।
उपदेशको ममाभू'दीश्वरनाथो' विदां वन्द्यः ॥ ९ ॥
स्वाभाविक्या कृपया स्नेहेनान्ताप्ररूढेन ।
मम तादृशा च यो मामपुषत्सोदर्यभावेन ॥१०॥
तत्कृपयाधिगताखिलसंस्कृतसाहित्यमर्माणम् ।
बुधवर'किशोरिशर्मा' मां व्यधिताचार्यपदभाजम् ॥११॥
श्रीयुत'जटेश्वरा'भिधविद्वद्वरपादमुपजीव्य ।
दर्शनशास्त्ररहस्यं न चिरेणाशेषमाचकलम् ॥१२॥
एतानन्यांश्च गुरून्मनसि ममावस्थितान्सततम् ।
ध्यायामि यत्कृपा मे मानुष्यकमञ्जसाऽस्राक्षीत् ॥१३॥
सोऽहं बाक्परिचरणव्यापृतचेताः 'प्रकाश'ममु ।
निरमामिह विद्वांसः कृपास्पृशं स्वां दृशं दध्युः ॥१४॥